मानसरोवर

[भाग : ४]

लेखक

प्रेमचन्द

बनारस

सरस्वती प्रेस

द्वितीय संस्करण : सितम्बर, १९४४

तृतीय संस्करण, अगस्त, १९४५

चतुर्थ संस्करण, दिसम्बर, १९४५

मूल्य ३)

मुद्रक— श्रीपतराय, सरस्वती-प्रेस, बनारस

अनुक्रम

प्रेरणा

मेरी कक्षा में सूर्यप्रकाश से ज़्यादा ऊधमी कोई लड़का न था, बल्कि यों कहो कि अध्यापन-काल के दस वर्षों में मुझे ऐसी विषम प्रकृति के शिष्य से साबक़ा न पड़ा था। कपट-क्रीड़ा में उसकी जान बसती थी। अध्यापकों को बनाने और चिढ़ाने, उद्योगी बालकों को छेड़ने और रुलाने मे ही उसे आनन्द आता था। ऐसे-ऐसे षड्यन्त्र रचता, ऐसे-ऐसे फंदे डालता, ऐसे-ऐसे बाँधनू बाँधता कि देखकर आश्चर्य होता था। गरोहबंदी मे अभ्यस्त था। ख़ुदाई फौजदारों की एक फौज बना ली थी और उसके आतंक से शाला पर शासन करता था। मुख्य अधिष्ठाता की आज्ञा टल जाय; मगर क्या मजाल कि कोई उसके हुक्म की अवज्ञा कर सके। स्कूल के चपरासी और अर्दली उससे थर थर काँपते थे। इंस्पेक्टर का मुआइना होनेवाला था, मुख्य अधिष्ठाता ने हुक्म दिया कि लड़के निर्दिष्ट समय से आध घंटा पहले आ जायँ। मतलब यह था कि लड़कों को मुआइने के बारे मे कुछ जरूरी बातें बता दी जायँ; मगर दस बज गये, इंस्पेक्टर साहब आकर बैठ गये, और मदरसे में एक लड़का भी नहीं! ग्यारह बजे सब छात्र इस तरह निकल पड़े, जैसे कोई पिंजरा खोल दिया गया हो। इंस्पेक्टर साहब ने कैफ़ियत मे लिखा—डिसिप्लिन बहुत ख़राब है। प्रिंसिपल साहब की किरकिरी हुई, अध्यापक बदनाम हुए, और यह सारी शरारत सूर्यप्रकाश की थी, मगर बहुत पूछ-ताछ करने पर भी किसी ने सूर्यप्रकाश का नाम तक न लिया। मुझे अपनी संचालनविधि पर गर्व था। ट्रेनिंग कालेज मे इस विषय मे मैंने ख्याति प्राप्त की थी; मगर यहाँ मेरा सारा संचालन-कौशल जैसे मोर्चा खा गया था। कुछ अक्ल ही काम न करती कि शैतान को कैसे सन्मार्ग पर लायें। कई बार अध्यापकों की बैठक हुई; पर यह गिरह न खुली। नई शिक्षा-विधि के अनुसार मैं दंडनीति का पक्षपाती न था; मगर यहाँ हम इस नीति से केवल इस लिए विरक्त थे कि कहीं उपचार रोग से भी असाध्य न हो जाय। सूर्यप्रकाश को स्कूल से

निकाल देने का प्रस्ताव भी किया गया ; पर इसे अपनी अयोग्यता का प्रमाण समझकर हम इस नीति का व्यवहार करने का साहस न कर सके। बीस-बाईस अनुभवी और शिक्षण-शास्त्र के आचार्य एक बारह-तेरह साल के उद्दंड बालक का सुधार न कर सके, यह विचार बहुत ही निराशा-जनक था। यों तो सारा स्कूल उससे त्राहि-त्राहि करता था ; मगर सबसे ज्यादा संकट में मैं था ; क्योंकि वह मेरी कक्षा का छात्र था, और उसकी शरारतों का कुफल मुझे भोगना पड़ता था। मैं स्कूल आता, तो हरदम यही खटका लगा रहता था कि देखें आज क्या विपत्ति आती है। एक दिन मैंने अपनी मेज की दराज खोली, तो उसमें से एक बड़ा-सा मेंढक निकल पड़ा। मै चौंककर पीछे हटा तो क्लास मे एक शोर मच गया। उसकी ओर सरोप नेत्रों से देखकर रह गया। सारा घंटा उपदेश मे बीत गया और वह पट्ठा सिर झुकाये नीचे मुसकरा रहा था। मुझे आश्चर्य होता था कि यह नीचे की कक्षाओं में कैसे पास हुआ था। एक दिन मैंने गुस्से से कहा—तुम इस कक्षा से उम्र भर नहीं पास हो सकते। सूर्यप्रकाश ने अविचलित भाव से कहा—आप मेरे पास होने की चिंता न करें। मैं हमेशा पास हुआ हूँ और अबकी भी हूँगा।

'असंभव !'

'असंभव संभव हो जायगा !'

मैं साश्चर्य उसका मुँह देखने लगा। ज़हीन से ज़हीन लड़का भी अपनी सफलता का दावा इतने निर्विवाद रूप से न कर सकता था। मैंने सोचा, वह प्रश्न-पत्र उड़ा लेता होगा। मैंने प्रतिज्ञा की, अबकी इसकी एक चाल भी न चलने दूँगा। देखूँ, कितने दिन इस कक्षा मे पड़ा रहता है। आप घबड़ाकर निकल जायगा।

वार्षिक परीक्षा के अवसर पर मैंने असाधारण देख-भाल से काम लिया ; मगर जब सूर्यप्रकाश का उत्तर-पत्र देखा, तो मेरे विस्मय की सीमा न रही। मेरे दो पर्चे थे, दोनों ही में उसके नम्बर कक्षा मे सबसे अधिक थे। मुझे खूब मालूम था कि वह मेरे किसी पर्चे का कोई प्रश्न भी हल नहीं कर सकता। मैं इसे सिद्ध कर सकता था ; मगर उसके उत्तर-पत्रों को क्या करता! लिपि में इतना भेद न था, जो कोई संदेह उत्पन्न कर सकता। मैंने प्रिंसिपल

से कहा, तो वह भी चकरा गये; मगर उन्हें भी जान-बूझकर मक्खी निगलनी पड़ी। मैं कदाचित् स्वभाव ही से निराशावादी हूँ। अन्य अध्यापकों को मैं सूर्यप्रकाश के विषय में ज़रा भी चिंतित न पाता था। मानो ऐसे लड़कों का स्कूल में आना कोई नई बात नहीं; मगर मेरे लिए वह एक विकट रहस्य था। अगर यही ढंग रहे, तो एक दिन या तो जेल में होगा, या पागलखाने में।

(२)

उसी साल मेरा तबादला हो गया। यद्यपि यहाँ का जलवायु मेरे अनुकूल था, प्रिंसिपल और अन्य अध्यापकों से मैत्री हो गई थी, मगर मैं अपने तबादले से ख़ुश हुआ; क्योंकि सूर्यप्रकाश मेरे मार्ग का काँटा न रहेगा। लड़कों ने मुझे बिदाई की दावत दी, और सबके सब स्टेशन तक पहुँचाने आये। उस वक्त सभी लड़के आँखो में आँसू भरे हुए थे। मैं भी अपने आँसुओं को न रोक सका। सहसा मेरी निगाह सूर्यप्रकाश पर पड़ी, जो सबसे पीछे लज्जित खड़ा था। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि उसकी आँखे भी भीगी थीं। मेरा जी बार-बार चाहता था कि चलते-चलाते उससे दो-चार बातें कर लूँ। शायद वह भी मुझसे कुछ कहना चाहता था, मगर न मैंने पहले बातें कीं, न उसने; हालाँकि मुझे बहुत दिनों तक इसका खेद रहा। उसकी झिझक तो क्षमा के योग्य थी; पर मेरा अवरोध अक्षम्य था। सभव था, उस करुणा और ग्लानि की दशा में मेरा दो-चार निष्कपट बातें उसके दिल पर असर कर जातीं; मगर इन्हीं खोये हुए अवसरों का नाम तो जीवन है। गाड़ी मदगति से चली। लड़के कई कदम तक उसके साथ दौडे। मैं खिड़की के बाहर सिर निकाले खड़ा था। कुछ देर तक मुझे उनके हिलते हुए रूमाल नजर आये। फिर वह रेखाएँ आकाश में विलीन हो गईं; मगर एक अल्पकाय मूर्ति अब भी प्लेटफार्म पर खड़ी थी। मैंने अनुमान किया, वह सूर्यप्रकाश हैं। उस समय मेरा हृदय किसी विकल क़ैदी की भाँति घृणा, मालिन्य और उदासीनता के बधनों को तोड़-तोड़कर उसके गले मिलने के लिए तड़प उठा।

नये स्थान की नई चिंताओं ने बहुत जल्द मुझे अपनी ओर आकर्षित कर लिया। पिछले दिनों की याद एक हसरत बनकर रह गई। न किसी का

कोई खत आया, न मैंने कोई खत लिखा। शायद दुनिया का यही दस्तूर है। वर्षा के बाद वर्षा की हरियाली कितने दिनों रहती है। सयोग से मुझे इग्लैड में विद्याभ्यास करने का अवसर मिल गया। वहाँ तीन साल लग गये। वहाँ से लौटा, तो एक कालेज का प्रिंसिपल बना दिया गया। यह सिद्धि मेरे लिए बिलकुल आशातीत थी। मेरी भावना स्वप्न में भी इतनी दूर न उड़ी थी; किंतु पद-लिप्सा अब किसी और भी ऊँची डाली पर आश्रय लेना चाहती थी। शिक्षा-मत्री से रब्त-जब्त पैदा किया। मत्री महोदय मुझपर कृपा रखते थे; मगर वास्तव में शिक्षा के मौलिक सिद्धांतों का उन्हें ज्ञान न था। मुझे पाकर उन्होंने सारा भार मेरे ऊपर डाल दिया। घोड़े पर सवार वह थे, लगाम मेरे हाथ में थी। फल यह हुआ कि उनके राजनैतिक विपक्षियो से मेरा विरोध हो गया। मुझपर जा-बेजा आक्रमण होने लगे। मै सिद्धात रूप से अनिवार्य शिक्षा का विरोधी हूँ। मेरा विचार है कि हर एक मनुष्य को उन विषयो मे ज्यादा स्वाधीनता होनी चाहिए, जिनका उनसे निज का सबध है। मेरा विचार है कि यूरोप मे अनिवार्य शिक्षा की ज़रूरत है, भारत में नहीं। भौतिकता, पश्चिमी सभ्यता का मूल तत्त्व है। वहाँ किसी काम की प्रेरणा, आर्थिक लाभ के आधार पर होती है। ज़िंदगी की ज़रूरतें ज़्यादा हैं; इसलिए जीवन-सग्राम भी अधिक भीषण है। माता-पिता भोग के दास होकर बच्चो को जल्द से जल्द कुछ कमाने पर मजबूर करते हैं। इसकी जगह कि वह मद का त्याग करके एक शिलिंग रोज की बचत कर ले, वे अपने कमसिन बच्चे को एक शिलिंग की मजदूरी करने के लिए दबावेंगे। भारतीय जीवन मे सात्त्विक सरलता है। हम उस वक्त तक अपने बच्चों से मजदूरी नहीं कराते, जब तक कि परिस्थिति हमें विवश न कर दे। दरिद्र से दरिद्र हिंदुस्तानी मजदूर भी शिक्षा के उपकारों का क़ायल है। उसके मन में यह अभिलाषा होती है कि मेरा बच्चा चार अक्षर पढ़ जाय। इसलिए नहीं कि उसे कोई अधिकार मिलेगा; बल्कि केवल इसलिए कि विद्या मानवी शील का एक शृंगार है। अगर यह जानकर भी वह अपने बच्चे को मदरसे नहीं भेजता, तो समझ लेना चाहिए कि वह मजबूर है। ऐसी दशा में उसपर क़ानून का प्रहार करना मेरी दृष्टि में न्याय-संगत नहीं। इसके सिवाय मेरे

विचार में अभी हमारे देश में योग्य शिक्षकों का अभाव है। अर्द्धशिक्षित और अल्पवेतन पानेवाले अध्यापकों से आप यह आशा नहीं रख सकते कि वह कोई ऊँचा आदर्श अपने सामने रख सके। अधिक से अधिक इतना ही होगा कि चार पाँच वर्ष में बालक को अक्षर-ज्ञान हो जायगा। मैं इसे पर्वत खोदकर चुहिया निकालने के तुल्य समझता हूँ। वयस प्राप्त हो जाने पर यह मसला एक महीने में आसानी से तय किया जा सकता है। मैं अनुभव से कह सकता हूँ कि युवावस्था मे हम जितना ज्ञान एक महीने में प्राप्त कर सकते हैं, उतना बाल्यावस्था में तीन साल में भी नहीं कर सकते, फिर खामख्वाह बच्चों को मदरसे मे कैद करने से क्या लाभ। मदरसे के बाहर रहकर उसे स्वच्छ वायु तो मिलती, प्राकृतिक अनुभव तो होते। पाठशाला में बंद करके तो आप उसके मानसिक और शारीरिक दोनों विधानों की जड़ काट देते हैं; इसलिए जब प्रांतीय व्यवस्थापक सभा में अनिवार्य शिक्षा का प्रस्ताव पेश हुआ, तो मेरी प्रेरणा से मिनिस्टर साहब ने उसका विरोध किया। नतीजा यह हुआ कि प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया। फिर क्या था। मिनिस्टर-साहब की और मेरी वह ले दे शुरू हुई कि कुछ न पूछिए। व्यक्तिगत आक्षेप किये जाने लगे। मैं ग़रीब की बीवी था, मुझे ही सबकी भाभी बनना पड़ा। मुझे देश-द्रोही, उन्नति का शत्रु और नौकरशाही का गुलाम कहा गया। मेरे कालेज मे ज़रा-सी भी कोई बात होती तो कौंसिल मे मुझपर वर्षा होने लगती। मैंने एक चपरासी को पृथक् किया। सारी कौंसिल पंजे झाड़कर मेरे पीछे पड गई। आख़िर मिनिस्टर को मजबूर होकर उस चपरासी को बहाल करना पड़ा। यह अपमान मेरे लिए असह्य था। शायद कोई भी इसे सहन न कर सकता। मिनिस्टर साहब से मुझे शिकायत नहीं। वह मजबूर थे। हाँ, इस वातावरण में काम करना मेरे लिए दुस्साध्य हो गया। मुझे अपने कालेज के आंतरिक संगठन का भी अधिकार नहीं। अमुक क्यों नहीं परीक्षा में भेजा गया, अमुक के बदले अमुक को क्यों नहीं छात्रवृत्ति दी गई, अमुक अध्यापक को अमुक कक्षा क्यों नहीं दी जाती, इस तरह के सारहीन आक्षेपो ने मेरा नाक में दम कर दिया था। इस नई चोट ने कमर तोड़ दी। मैंने इस्तीफा दे दिया।

मुझे मिनिस्टर साहब से इतनी आशा अवश्य थी कि वह कम से कम इस विषय में न्याय-परायणता से काम लेंगे ; मगर उन्होंने न्याय की जगह नीति को मान्य समझा, और मुझे कई साल की भक्ति का यह फल मिला कि मैं पदच्युत कर दिया गया। संसार का ऐसा कटु अनुभव मुझे अब तक न हुआ था। ग्रह भी कुछ बुरे आ गये थे, उन्हीं दिनों पत्नी का देहात हो गया। अतिम दर्शन भी न कर सका। संध्या-समय नदी तट पर सैर करने गया था। वह कुछ अस्वस्थ थीं। लौटा, तो उनकी लाश मिली। कदाचित् हृदय की गति बंद हो गई थी। इस आघात ने कमर तोड़ दी। माता के प्रसाद और आशीर्वाद से बड़े बड़े महान् पुरुष कृतार्थ हो गये हैं। मैं जो कुछ हुआ, पत्नी के प्रसाद और आशीर्वाद से हुआ ; वह मेरे भाग्य की विधात्री थीं। कितना अलौकिक त्याग था, कितना विशाल धैर्य। उनके माधुर्य मे तीक्ष्णता का नाम भी न था। मुझे याद नहीं आता कि मैंने कभी उनकी भृकुटि सकुचित देखी हो। निराश होना तो जानती ही न थीं। मैं कई बार सख्त बीमार पड़ा हूँ। वैद्य भी निराश हो गये हैं ; पर वह अपने धैर्य और शाति से अणुमात्र भी विचलित नहीं हुईं। उन्हें विश्वास था कि मैं अपने पति के जीवन-काल में मरूँगी और वही हुआ भी। मै जीवन में अब तक उन्हीं के सहारे खड़ा था! जब वह अवलंब ही न रहा, तो जीवन कहाँ रहता। खाने और सोने का नाम जीवन नहीं है। जीवन नाम है, सदैव आगे बढ़ते रहने की लगन का। वह लगन गायब हो गई। मैं ससार से विरक्त हो गया। और एकातवास में जीवन के दिन व्यतीत करने का निश्चय करके एक छोटे-से गाँव मे जा बसा। चारों तरफ ऊँचे-ऊँचे टीले थे, एक ओर गगा बहती थी। मैंने नदी के किनारे एक छोटा-सा घर बना लिया और उसी में रहने लगा।

(२)

मगर काम करना तो मानवी स्वभाव है। बेकारी में जीवन कैसे कटता। मैने एक छोटी सी पाठशाला खोल ली ; एक वृक्ष की छाँह में, गाँव के लड़कों को जमा कर कुछ पढ़ाया करता था। उसकी यहाँ इतनी ख्याति हुई कि आस-पास के गाँव के छात्र भी आने लगे।

एक दिन मैं अपनी कक्षा को पढ़ा रहा था कि पाठशाला के पास एक मोटर आकर रुकी और उसमें से उस जिले के डिप्टी कमिश्नर उतर पड़े। मै उस समय केवल एक कुर्ता और धोती पहने हुए था। इस वेश में एक हाकिम से मिलते हुए शर्म आ रही थी। डिप्टी कमिश्नर मेरे समीप आये तो मैंने झेपते हुए हाथ बढाया; मगर वह मेरे हाथ मिलाने के बदले मेरे पैरों की ओर झुके और उनपर सिर रख दिया। मैं कुछ ऐसा सिटपिटा गया कि मेरे मुँह से एक शब्द भी न निकला। मैं अँगरेजी अच्छी लिखता हूँ, दर्शनशास्त्र का भी आचार्य हूँ, व्याख्यान भी अच्छे दे लेता हूँ; मगर इन गुणो में एक भी श्रद्धा के योग्य नहीं। श्रद्धा तो ज्ञानियों और साधुओं ही के अधिकार की वस्तु है। अगर मैं ब्राह्मण होता, तो एक बात थी। हालाँकि एक सिविलियन का किसी ब्राह्मण के पैरों पर सिर रखना अचिंतनीय है।

मैं अभी इसी विस्मय में पड़ा हुआ था कि डिप्टी कमिश्नर ने सिर उठाया और मेरी तरफ़ देखकर कहा—आपने शायद मुझे पहचाना नहीं।

इतना सुनते ही मेरे स्मृति-नेत्र खुल गये, बोला—आपका नाम सूर्य-प्रकाश तो नहीं है?

'जी हाँ, मैं आपका वही अभागा शिष्य हूँ।'

'बारह-तेरह वर्ष हो गये।'

सूर्यप्रकाश ने मुस्कराकर कहा—अध्यापक लड़कों को भूल जाते हैं; पर लड़के उन्हें हमेशा याद रखते हैं।

मैंने उसी विनोद के भाव से कहा—तुम जैसे लड़को को भूलना असभव है।

सूर्यप्रकाश ने विनीत स्वर मे कहा—उन्हीं अपराधो को क्षमा कराने के लिए सेवा मे आया हूँ। मैं सदैव आपकी ख़बर लेता रहता था। जब आप इगलैएड गये, तो मैंने आपके लिए बधाई का पत्र लिखा, पर उसे भेज न सका। जब आप प्रिंसिपल हुए, मै इगलैएड जाने को तैयार था। वहाँ मैं पत्रिकाओं मे आपके लेख पढ़ता रहता था। जब लौटा, तो मालूम हुआ कि आपने इस्तीफा दे दिया और कहीं देहात मे चले गये हैं। इस जिले में आये हुए मुझे एक वर्ष से अधिक हुआ; पर इसका ज़रा भी अनुमान न था कि

आप यहाँ एकांत-सेवन कर रहे हैं। इस उजाड़ गाँव में आपका जी कैसे लगता है। इतनी ही अवस्था में आपने वानप्रस्थ ले लिया?

मैं नहीं कह सकता कि सूर्यप्रकाश की उन्नति देखकर मुझे कितना आश्चर्य-मय आनंद हुआ। अगर वह मेरा पुत्र होता, तो भी इससे अधिक आनंद न होता। मैं उसे अपने झोपड़े में लाया और अपनी रामकहानी कह सुनाई।

सूर्यप्रकाश ने कहा—तो यह कहिए कि आप अपने ही एक भाई के विश्वासघात के शिकार हुए। मेरा अनुभव तो अभी बहुत कम है; मगर इतने ही दिनों में मुझे मालूम हो गया है, कि हम लोग अभी अपनी जिम्मे-दारियों को पूरा करना नहीं जानते। मिनिस्टर साहब से भेंट हुई, तो पूछूँगा, कि यही आपका धर्म था?

मैंने जवाब दिया—भाई, उनका दोष नहीं। संभव है, इस दशा में मैं भी वही करता, जो उन्होंने किया। मुझे अपनी स्वार्थलिप्सा की सज़ा मिल गई, और उसके लिए मैं उनका ऋणी हूँ। बनावट नहीं, सत्य कहता हूँ कि यहाँ मुझे जो शांति है, वह और कहीं न थी। इस एकांत-जीवन में मुझे जीवन के तत्त्वों का वह ज्ञान हुआ, जो संपत्ति और अधिकार की दौड़ में किसी तरह संभव न था। इतिहास और भूगोल के पोथे चाटकर और यूरप के विद्यालयों की शरण जाकर भी मैं अपनी ममता को न मिटा सका; बल्कि यह रोग दिन-दिन और भी असाध्य होता जाता था। आप सीढ़ियों पर पाँव रखे बग़ैर छत की ऊँचाई तक नहीं पहुँच सकते। सम्पत्ति की अट्टालिका तक पहुँचने में दूसरों की जिंदगी ही ज़ीनों का काम देती है। आप उन्हें कुचल-कर ही लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। वहाँ सौजन्य और सहानुभूति का स्थान ही नहीं। मुझे ऐसा मालूम होता है कि उस वक्त मैं हिंस्र जंतुओं से घिरा हुआ था और मेरी सारी शक्तियाँ अपनी आत्मरक्षा में ही लगी रहती थीं। यहाँ मैं अपने चारों ओर संतोष और सरलता देखता हूँ। मेरे पास जो लोग आते हैं, कोई स्वार्थ लेकर नहीं आते और न मेरी सेवाओं में प्रशंसा या गौरव की लालसा है।

यह कहकर मैंने सूर्यप्रकाश के चेहरे की ओर ग़ौर से देखा। कपट मुस-कान की जगह ग्लानि का रंग था। शायद यह दिखाने आया था कि आप

जिसकी तरफ से इतने निराश हो गये थे, वह अब इस पद को सुशोभित कर रहा है। वह मुझसे अपने सदुद्योग का बखान चाहता था। मुझे अब अपनी भूल मालूम हुई। एक सपन्न आदमी के सामने समृद्धि की निंदा उचित नहीं। मैंने तुरत बात पलटकर कहा—मगर तुम अपना हाल तो कहो। तुम्हारी यह काया-पलट कैसे हुई। तुम्हारी शरारतों को याद करता हूँ तो अब भी रोएँ खड़े हो जाते हैं। किसी देवता के वरदान के सिवा और तो कहीं यह विभूति न प्राप्त हो सकती थी।

सूर्यप्रकाश ने मुसकराकर कहा—आपका आशीर्वाद था।

मेरे बहुत आग्रह करने पर सूर्यप्रकाश ने अपना वृत्तांत सुनाना शुरू किया—

'आपके चले आने के कई दिन बाद मेरा ममेरा भाई स्कूल में दाख़िल हुआ। उसकी उम्र आठ नौ साल से ज्यादा न थी। प्रिंसिपल साहब उसे होस्टल में न लेते थे और न मामा साहब उसके ठहरने का प्रबंध कर सकते थे। उन्हें इस सकट में देखकर मैंने प्रिंसिपल साहब से कहा—उसे मेरे कमरे में ठहरा दीजिए। प्रिंसिपल साहब ने इसे नियम-विरुद्ध बतलाया। इसपर मैंने बिगड़कर उसी दिन होस्टल छोड़ दिया, और एक किराये का मकान लेकर मोहन के साथ रहने लगा। उसकी माँ कई साल पहले मर चुकी थी। इतना दुबला-पतला, कमजोर और ग़रीब लड़का था कि पहले ही दिन से मुझे उसपर दया आने लगी। कभी उसके सिर में दर्द होता, कभी ज्वर हो आता। आये दिन कोई न कोई बीमारी खड़ी रहती थी। इधर साँझ हुई और उसे झपकियाँ आने लगीं। बड़ी मुश्किल से भोजन करने उठता। दिन चढ़े तक सोया करता और जब तक मैं गोद में उठाकर बिठा न देता, उठने का नाम न लेता। रात को बहुधा चौंककर मेरी चारपाई पर आ जाता और मेरे गले से लिपटकर सोता। मुझे उसपर कभी क्रोध न आता। कह नहीं सकता, क्यों मुझे उससे प्रेम हो गया। मैं जहाँ पहले नौ बजे सोकर उठता था, अब तड़के उठ बैठता और उसके लिए दूध गर्म करता। फिर उसे उठा-कर हाथ-मुँह धुलाता और नाश्ता कराता। उसके स्वास्थ्य के विचार से नित्य वायु सेवन को ले जाता। मैं जो कभी किताब लेकर न बैठता था, उसे घंटों पढ़ाया करता। मुझे अपने दायित्व का इतना ज्ञान कैसे हो गया, इसका मुझे

आश्चर्य है। उसे कोई शिकायत हो जाती तो मेरे प्राण नखो में समा जाते। डाक्टर के पास दौड़ता, दवाएँ लाता और मोहन की खुशामद करके दवा पिलाता। सदैव यह चिंता लगी रहती थी, कि कोई बात उसकी इच्छा के विरुद्ध न हो जाय। इस बेचारे का यहाँ मेरे सिवा दूसरा कौन है। मेरे चंचल मित्रों मे से कोई उसे चिढ़ाता या छेड़ता, तो मेरी त्योरियाँ बदल जाती थीं। कई लडके तो मुझे बूढी दाई कहकर चिढ़ाते थे; पर मै हँसकर टाल देता था। मै उसके सामने एक अनुचित शब्द भी मुँह से न निकलता। यह शका होती थी, कि कहीं मेरी देखा-देखी यह भी ख़राब न हो जाय। मै उसके सामने इस तरह रहना चाहता था, कि वह मुझे अपना आदर्श समझे और इसके लिए यह मानी हुई बात थी कि मैं अपना चरित्र सुधारूँ। वह मेरा नौ बजे सोकर उठना, बारह बजे तक मटरगश्ती करना, नई-नई शरारतों के मसूबे बाँधना और अध्यापकों की आँख बचाकर स्कूल से उड़ जाना, सब आप ही आप जाता रहा। स्वास्थ्य और चरित्र-पालन के सिद्धातों का मैं शत्रु था; पर अब मुझसे बढ़कर उन नियमो का रक्षक दूसरा न था। मै ईश्वर का उपहास किया करता था, मगर अब पक्का आस्तिक हो गया था। वह बड़े सरल भाव से पूछता, परमात्मा सब जगह रहते हैं, तो मेरे पास भी रहते होंगे। इस प्रश्न का मज़ाक उड़ाना मेरे लिए असभव था। मैं कहता—हाँ परमात्मा तुम्हारे, हमारे सबके पास रहते हैं और हमारी रक्षा करते हैं। यह आश्वासन पाकर उसका चेहरा आनद से खिल उठता था। कदाचित् वह परमात्मा की सत्ता का अनुभव करने लगता था। साल ही भर में मोहन कुछ से कुछ हो गया। मामा साहब दोबारा आये, तो उसे देखकर चकित हो गये। आँखों में आँसू भरकर बोले—'बेटा! तुमने इसको जिला लिया, नहीं तो मैं निराश हो चुका था। इसका पुनीत फल तुम्हें ईश्वर देंगे। इसकी मा स्वर्ग में बैठी हुई तुम्हे आशीर्वाद दे रही है।'

सूर्यप्रकाश की आँखे उस वक्त भी सजल हो गई थीं।

मैंने पूछा—मोहन भी तुम्हें बहुत प्यार करता होगा?

सूर्यप्रकाश के सजल नेत्रों में हसरत से भरा हुआ आनंद चमक उठा, बोला—वह मुझे एक मिनट के लिए भी न छोड़ता था। मेरे साथ बैठता,

मेरे साथ खाता, मेरे साथ सोता। मैं ही उसका सब कुछ था। आह! वह संसार में नहीं है। मगर मेरे लिए वह अब भी उसी तरह जीता-जागता है। मै जो कुछ हूँ, उसी का बनाया हुआ हूँ। अगर वह दैवी विधान की भाँति मेरा पथ-प्रदर्शक न बन जाता, तो शायद आज मैं किसी जेल में पड़ा होता। एक दिन मैंने कह दिया था—अगर तुम रोज नहा न लिया करोगे तो मैं तुमसे न बोलूँगा। नहाने से वह न जाने क्यों जी चुराता था। मेरी इस धमकी का फल यह हुआ कि वह नित्य प्रातःकाल नहाने लगा। कितनी ही सर्दी क्यों न हो, कितनी ही ठडी हवा चले, लेकिन वह स्नान अवश्य करता था। देखता रहता था, मैं किस बात से खुश होता हूँ। एक दिन मैं कई मित्रों के साथ थियेटर देखने चला गया, ताकीद कर गया था कि तुम खाना खाकर सो रहना। तीन बजे रात को लौटा, तो देखा कि वह बैठा हुआ है। मैंने पूछा—तुम सोये नहीं? बोला—नींद नहीं आई। उस दिन से मैंने थियेटर जाने का नाम न लिया। बच्चो मे प्यार की जो एक भूख होती है—दूध, मिठाई और खिलौनो से भी ज्यादा मादक—जो मा की गोद के सामने ससार की निधि की भी परवाह नहीं करते, मोहन की वह भूख कभी सतुष्ट न होती थी। पहाड़ो से टकरानेवाली सारस की आवाज़ की तरह वह सदैव उसके नसों मे गूँजा करती थी। जैसे, भूमि पर फैली हुई लता कोई सहारा पाते ही उससे चिपट जाती है, वही हाल मोहन का था। वह मुझसे ऐसा चिपट गया था कि पृथक् किया जाता, तो उसकी कोमल वेलि के टुकड़े-टुकडे हो जाते। वह मेरे साथ तीन साल रहा और तब मेरे जीवन मे प्रकाश की एक रेखा डालकर अधकार मे विलीन हो गया। उस जीर्ण काया मे कैसे कैसे अरमान भरे हुए थे। कदाचित् ईश्वर ने मेरे जीवन मे एक अवलंब की सृष्टि करने के लिए उसे भेजा था। उद्देश्य पूरा हो गया; तो वह क्यों रहता।

(४)

'गर्मियो की तातील थी। दो तातीलों में मोहन मेरे ही साथ रहा था। मामाजी के आग्रह करने पर भी घर न गया। अबकी कालेज के छात्रों ने काश्मीर-यात्रा करने का निश्चय किया और मुझे उसका अध्यक्ष बनाया। काश्मीर यात्रा की अभिलाषा मुझे चिरकाल से थी। इसी अवसर को ग़नीमत

समझा। मोहन को मामाजी के पास भेजकर मैं काश्मीर चला गया। दो महीने के बाद लौटा, तो मालूम हुआ मोहन बीमार है। काश्मीर मे मुझे बार-बार मोहन की याद आती थी और जी चाहता था, लौट जाऊँ। मुझे उस पर इतना प्रेम है, इसका अंदाज़ मुझे काश्मीर जाकर हुआ; लेकिन मित्रो ने पीछा न छोड़ा। उसकी बीमारी की खबर पाते ही मैं अधीर हो उठा और दूसरे ही दिन उसके पास जा पहुँचा। मुझे देखते ही उसके पीले और सूखे हुए चेहरे पर आनंद की स्फूर्ति झलक पड़ी। मैं दौड़कर उसके गले से लिपट गया। उसकी आँखों मे वह दूरदृष्टि और चेहरे वह अलौकिक आभा थी, जो मँडराती हुई मृत्यु की सूचना देती है। मैने आवेश से काँपते हुए स्वर मे पूछा—यह तुम्हारी क्या दशा है मोहन! दो ही महीने में यह नौबत पहुँच गई? मोहन ने सरल मुसकान के साथ कहा—आप काश्मीर की सैर करने गये थे, मै आकाश की सैर करने जा रहा हूँ।

'मगर यह दुःख कहानी कहकर मैं रोना और रुलाना नहीं चाहता। मेरे चले जाने के बाद मोहन इतने परिश्रम से पढने लगा, मानों तपस्या कर रहा हो। उसे यह धुन सवार हो गई थी कि साल-भर की पढाई दो महीने में समाप्त कर ले और स्कूल खुलने के बाद मुझसे इस श्रम का प्रशंसा-रूपी उपहार प्राप्त करे। मै किस तरह उसकी पीठ ठोकूँगा, शाबाशी दूँगा, अपने मित्रों से बखान करूँगा, इन भावनाओ ने अपने सारे बालोचित उत्साह और तल्लीनता के साथ उसे वशीभूत कर लिया। मामाजी को दफ्तर के कामो मे इतना अवकाश कहाँ कि उसके मनोरंजन का ध्यान रखे। शायद उसे प्रतिदिन कुछ न कुछ पढते देखकर वह दिल मे ख़ुश होते थे। उसे खेलते देखकर वह ज़रूर डाँटते। पढते देखकर भला क्या कहते। फल यह हुआ कि मोहन को हल्का-हल्का ज्वर आने लगा; किन्तु उस दशा में भी उसने पढ़ना न छोड़ा। कुछ और व्यतिक्रम भी हुए, ज्वर का प्रकोप और भी बढा; पर उस दशा में भी ज्वर कुछ हल्का हो जाता, तो किताबे देखने लगता था। उसके प्राण मुझ मे ही बने रहते थे। ज्वर की दशा में भी नौकरों से पूछता—भैया का पत्र आया? वह कब आयेंगे? इसके सिवा और कोई दूसरी अभिलाषा न थी। अगर मुझे मालूम होता कि मेरी काश्मीर-यात्रा

इतनी महँगी पड़ेगी, तो उधर जाने का नाम भी न लेता। उसे बचाने के लिए मुझसे जो कुछ हो सकता था, वह मैंने सब किया, किन्तु बुख़ार टाइफायड था, उसकी जान लेकर ही उतरा। उसके जीवन के स्वप्न मेरे लिए किसी ऋषि के आशीर्वाद बनकर मुझे प्रोत्साहित करने लगे और यह उसी का शुभ फल है कि आज आप मुझे इस दशा मे देख रहे हैं। मोहन की बाल अभिलाषाओं को प्रत्यक्ष रूप में लाकर यह मुझे सतोष होता है कि शायद उसकी पवित्र आत्मा मुझे देखकर प्रसन्न होती हो। यही प्रेरणा थी कि जिसने कठिन से कठिन परीक्षाओं ने भी मेरा बेड़ा पार लगाया; नहीं तो मैं आज भी वही मंद-बुद्धि सूर्यप्रकाश हूँ, जिसकी सूरत से आप चिढते थे।'

उस दिन से मैं कई बार सूर्यप्रकाश से मिल चुका हूँ। वह जब इस तरफ़ आ जाता है, तो बिना मुझसे मिले नहीं जाता है। मोहन को अब भी वह अपना इष्टदेव समझता है। मानव-प्रकृति का यह एक ऐसा रहस्य है, जिसे मैं आज तक नहीं समझ सका।

सद्गति

दुखी चमार द्वार पर झाड़ू लगा रहा था और उसकी पत्नी झुरिया, घर को गोबर से लीप रही थी। दोनों अपने अपने काम से फुर्सत पा चुके, तो चमारिन ने कहा--तो जाके पंडित बाबा से कह आओ न। ऐसा न हो कहीं चले जायं।

दुखी--हाँ जाता हूँ; लेकिन यह तो सोच, बैठेंगे किस चीज पर?

झुरिया--कहीं से खटिया न मिल जायगी? ठकुराने से माँग लाना।

दुखी--तू तो कभी-कभी ऐसी बात कह देती है कि देह जल जाती है। ठकुरानेवाले मुझे खटिया देंगे! आग तक तो घर से निकलती नहीं, खटिया देंगे! कैथाने मे जाकर एक लोटा पानी माँगू तो न मिले। भला खटिया कौन देगा! हमारे उपले, सेंठे, भूसा, लकड़ी थोड़े ही हैं कि जो चाहें उठा ले जाय। ला अपनी ही खटोली धोकर रख दे। गरमी के तो दिन हैं। उनके आते-आते सूख जायगी।

झुरिया--वह हमारी खटोली पर बैठेंगे नहीं। देखते नहीं कितने नेम धरम से रहते हैं।

दुखी ने ज़रा चिंतत होकर कहा--हाँ, यह बात तो हैं। महुए के पत्ते तोड़कर एक़ पत्तल बना लूँ तो ठीक हो जाय। पत्तल में बड़े-बड़े आदमी खाते हैं। वह पवित्तर है। ला तो डंडा, पत्ते तोड़ लूँ।

झुरिया--पत्तल मैं बना लूँगी। तुम जाओ; लेकिन हाँ, उन्हें सीधा भी तो देना होगा। अपनी थाली मे रख दूँ।

दुखी--कहीं ऐसा गजब न करना, नहीं तो सीधा भी जाय और थाली भी फूटे। बाबा थाली उठाकर पटग देंगे। उनको बड़ी जल्दी किरोध चढ़ आता है। किरोध में पंडिताइन तक को छोड़ते नहीं, लड़के को ऐसा पीटा कि आजतक टूटा हाथ लिये फिरता है। पत्तल में सीधा भी देना हाँ। मुदा तू छूना मत। भूरी गोंड़ की लड़की को लेकर साह की दूकान से सब चीज़े ले

आना। सीधा भरपूर हो। सेर भर आटा, आध सेर चावल, पाव भर दाल, आध पाव घी, नोन, हल्दी और पत्तल में एक किनारे चार आने पैसे रख देना। गोंड़ की लड़की न मिले तो भुर्जिन के हाथ-पैर जोड़कर ले जाना। तू कुछ मत छूना, नहीं गजब हो जायगा।

इन बातों की ताकीद करके दुखी ने लकड़ी उठाई, और घास का एक बड़ा-सा गट्ठा लेकर पंडितजी से अर्ज़ करने चला। ख़ाली हाथ बाबाजी की सेवा में कैसे जाता। नज़राने के लिए उसके पास घास के सिवाय और क्या था। उसे खाली हाथ देखकर तो बाबा दूर ही से दुत्कारते।

(२)

पंडित घासीराम ईश्वर के परम भक्त थे। नींद खुलते ही ईशोपासन में लग जाते। मुँह-हाथ धोते आठ बजते, तब असली पूजा शुरू होती, जिसका पहला भाग भंग की तैयारी थी। उसके बाद आध घंटे तक चंदन रगड़ते, फिर आइने के सामने एक तिनके से माथे पर तिलक लगाते। चंदन की दो रेखाओं के बीच में लाल रोरी की बिंदी होती थी। फिर छाती पर, बाहों पर चंदन की गोल-गोल मुद्रिकाएँ बनाते। फिर ठाकुरजी की मूर्ति निकालकर उसे नहलाते, चंदन लगाते, फूल चढ़ाते, आरती करते, घंटी बजाते। दस बजते-बजते वह पूजन से उठते और भंग छानकर बाहर आते। तब तक दो-चार जजमान द्वार पर आ जाते। ईशोपासन का तत्काल फल मिल जाता। यही उनकी खेती थी।

आज वह पूजन-गृह से निकले, तो देखा दुखी चमार घास का एक गट्ठा लिये बैठा है। दुखी उन्हें देखते ही उठ खड़ा हुआ और उन्हें साष्टांग दंडवत् करके हाथ बाँधकर खड़ा हुआ। यह तेजस्वी मूर्ति देखकर उसका हृदय श्रद्धा से परिपूर्ण हो गया। कितनी दिव्य मूर्ति थी। छोटा-सा गोल-मटोल आदमी, चिकना सिर, फूले गाल, ब्रह्मतेज से प्रदीप्त आँखें। रोरी और चंदन देवताओं की प्रतिभा प्रदान कर रही थी। दुखी को देखकर श्रीमुख से बोले—आज कैसे चला रे दुखिया?

दुखी ने सिर झुकाकर कहा—बिटिया की सगाई कर रहा हूँ महाराज। कुछ साइत-सगुन बिचारना है। कब मर्जी होगी?

घासी—आज मुझे छुट्टी नहीं। हाँ साँझ तक आ जाऊँगा।

दुखी—नहीं महाराज, जल्दी मर्जी हो जाय। सब सामान ठीक कर आया हूँ। यह घास कहाँ रख दूँ ?

घासी—इस गाय के सामने डाल दे और जरा झाड़ू लेकर द्वार तो साफ कर दे। यह बैठक भी कई दिन से लीपी नहीं गई। उसे भी गोबर से लीप दे। तब तक मैं भोजन कर लूँ। फिर जरा आराम करके चलूँगा। हाँ, यह लकड़ी भी चीर देना। खलिहान में चार खाँची भूसा पड़ा है। उसे भी उठा लाना और भुसौले में रख देना।

दुखी फौरन हुक्म की तामील करने लगा। द्वार पर झाड़ू लगाई, बैठक को गोबर से लीपा। तब तक बारह बज गये। पंडितजी भोजन करने चले गये। दुखी ने सुबह से कुछ नहीं खाया था। उसे भी ज़ोर की भूख लगी; पर वहाँ खाने को क्या धारा था। घर यहाँ से मील भर था। वहाँ खाने चला जाय, तो पंडितजी बिगड़ जायँ। बेचारे ने भूख दबाई और लकड़ी फाड़ने लगा। लकड़ी की मोटी सी गाँठ थी; जिसपर पहले कितने ही भक्तों ने अपना ज़ोर आज़मा लिया था। वह उसी दम-खम के साथ लाहे से लोहा लेने के लिये तैयार थी। दुखी घास छीलकर बाज़ार ले जाता था। लकड़ी चीरने का उसे अभ्यास न था। घास उसके खुरपे के सामने सिर झुका देती थी। यहाँ कस-कसकर कुल्हाड़ी का भरपूर हाथ लगाता; पर उस गाँठ पर निशान तक न पड़ता था। कुल्हाड़ी उचट जाती। पसीने में तर था, हाँपता था, थककर बैठ जाता था, फिर उठता था; हाथ उठाये न उठते थे, पाँव काँप रहे थे, कमर न सीधी होती थी, आँखों तले अँधेरा हो रहा था, सिर में चक्कर आ रहे थे, तितिलियाँ उड़ रही थीं, फिर भी अपना काम किये जाता था। अगर एक चिलम तबाकू पीने को मिल जाती, तो शायद कुछ ताकत आती। उसने सोचा, यहाँ चिलम और तंबाकू कहाँ मिलेगी। बाम्हनों का पुरा है। बाम्हन लोग हम नीच जातो की तरह तमाखू थोड़े ही पीते हैं। सहसा उसे याद आया कि गाँव में एक गोंड़ भी रहता है। उसके यहाँ ज़रूर चिलम-तमाखू होगी। तुरत उसके घर दौड़ा। खैर मेहनत सुफल हुई। उसने तमाखू भी दी और चिलम भी दी; पर आग वहाँ नथी। दुखी ने कहा—आग की

चिंता न करो भाई। मैं जाता हूँ पंडितजी के घर से आग माँग लूँगा। वहाँ तो अभी रसोई बन रही थी।

यह कहता हुआ वह दोनो चीजे लेकर चला आया और पंडितजी के घर में बरौठे के द्वार पर खड़ा होकर बोला—मालिक, रचिक आग मिल जाय, तो चिलम पी लें।

पडितजी भोजन कर रहे थे। पडिताइन ने पूछा—यह कौन आदमी आग माँग रहा है?

पंडित—अरे वही ससुरा दुखिया चमार है। कहा है थोड़ी-सी लकड़ी चीर दे। आग तो है, दे दो।

पडिताइन ने भवें चढ़ाकर कहा—तुम्हें तो जैसे पोथी-पत्रे के फेर में धरम-करम किसी बात की सुधि ही नहीं रही। चमार हो, धोबी हो, पासी हो, मुँह उठाये घर में चला आये। हिंदू का घर न हुआ, कोई सराय हुई। कह दो दाढ़ीजार से चला जाय, नहीं तो इसी लुआठे से मुँह झुलस दूँगी। आग माँगने चले हैं।

पंडितजी ने उन्हे समझाकर कहा—भीतर आ गया, तो क्या हुआ। तुम्हारी कोई चीज़ तो नहीं छुई। धरती पवित्र है। ज़रा-सी आग दे क्यों नहीं देती, काम तो हमारा ही कर रहा है। कोई लोनियाँ यही लकड़ी फाड़ता, तो कम से कम चार आने लेता।

पडिताइन ने गरजकर कहा—वह घर मे आया क्यों?

पडित ने हारकर कहा—ससुरे का अभाग था, और क्या?

पंडिताइन—अच्छा, इस बखत तो आग दिये देती हूँ; लेकिन फिर जो इस तरह कोई घर में आयेगा, तो उसका मुँह ही जला दूँगी।

दुखी के कानों मे इन बातों की भनक पड़ रही थी। पछता रहा था, नाहक आया। सच तो कहती हैं। पडित के घर में चमार कैसे चला आये। बड़े पवित्तर होते हैं यह लोग, तभी तो ससार पूजता है, तभी तो इतना मान है। भर-चमार थोड़े ही हैं। इसी गाँव मे बूढ़ा हो गया; मगर मुझे इतनी अकल भी न आई।

इसलिए जब पडिताइन आग लेकर निकली, तो वह मानो स्वर्ग का

वरदान पा गया। दोनो हाथ जोड़कर जमीन पर माथा टेकता हुआ बोला—पड़ाइन माता, मुझसे बड़ी भूल हुई कि घर में चला आया। चमार की अकल ही तो ठहरी। इतने मूरख न होते, तो लात क्यों खाते। पडिताइन चिमटे से पकड़कर आग लाई थीं। पाँच हाथ की दूरी से घूँघट की आड़ से दुखी की तरफ आग फेंकी। आग की बड़ी-सी चिनगारी दुखी के सिर पर पड़ गई। जल्दी से पीछे हटकर सिर को झोटे देने लगा। उसके मन ने कहा—यह एक पवित्तर बाम्हन के घर को अपवित्तर करने का फल है। भगवान ने कितनी जल्दी फल दे दिया। इसीसे तो संसार पडितो से डरती है। और सबके रुपये मारे जाते हैं। बराम्हन के रुपये भला कोई मार तो ले। घर भर का सत्यानाश हो जाय, पाँव गल-गलकर गिरने लगें।

बाहर आकर उसने चिलम पी और फिर कुल्हाड़ी लेकर जुट गया। खट-खट की आवाज़ें आने लगीं।

उसपर आग पड़ गई, तो पडिताइन को उसपर कुछ दया आ गई। पडितजी भोजन करके उठे, तो बोलीं—इस चमरवा को भी कुछ खाने को दे दो, वेचारा कब से काम कर रहा है। भूखा होगा।

पडितजी ने इस प्रस्ताव को व्यावहारिक क्षेत्र से समझकर पूछा—रोटियाँ हैं?

पडिताइन—दो-चार बच जायँगी।

पडित—दो-चार रोटियों में क्या होगा? चमार है, कम से कम सेर भर चढा जायगा।

पंडिताइन कानो पर हाथ रखकर बोलीं—अरे बाप रे! सेर भर! तो फिर रहने दो।

पडितजी ने अब शेर बनकर कहा—कुछ भूसी-चोकर हो तो आटे में मिलाकर दो ठो लिट्ट ठोक दो। साले का पेट भर जायगा। पतली रोटियों से इन नीचो का पेट नहीं भरता। इन्हें तो जुआर का लिट्ट चाहिए।

पडिताइन ने कहा—अब जाने भी दो, धूप में कौन मरे।

(३)

दुखी ने चिलम पीकर फिर कुल्हाड़ी सँभाली। दम लेने से ज़रा हाथों में

ताक़त आ गई थी। कोई आध घंटे तक फिर कुल्हाड़ा चलाता रहा। फिर बेदम होकर वहीं सिर पकड़ के बैठ गया।

इतने में वही गोंड़ आ गया। बोला—क्यों जान देते हो बूढ़े दादा, तुम्हारे फाड़े यह गाँठ न फटेगी। नाहक हलाकान होते हो।

दुखी ने माथे का पसीना पोंछकर कहा—अभी गाड़ी भर भूसा ढोना है भाई।

गोंड़—कुछ खाने को मिला कि काम ही कराना जानते हैं। जाके माँगते क्यों नहीं।

दुखी—कैसी बात करते हो चिखुरी, बाम्हन की रोटी हमको पचेगी।

गोंड़—पचने को पच जायगी, पहले मिले तो। मूँछों पर ताव देकर भोजन किया और आराम से सोये, तुम्हें लकड़ी फाड़ने का हुक्म लगा दिया। जमींदार भी कुछ खाने को देता है। हाकिम भी बेगार लेता है, तो थोड़ी-बहुत मजूरी दे देता है। यह उनसे भी बढ गये, उस पर धर्मात्मा बनते हैं।

दुखी—धीरे-धीरे बोलो भाई, कहीं सुन लें, तो आफत आ जाय।

यह कहकर दुखी फिर सँभल पड़ा और कुल्हाड़ी की चोट मारने लगा। चिखुरी को उसपर दया आई। आकर कुल्हाड़ी उसके हाथ से छीन ली और कोई आध घंटे खूब कस-कसकर कुल्हाड़ी चलाई; पर गाँठ में एक दरार भी न पड़ी। तब उसने कुल्हाड़ी फेंक दी और यह कहकर चला गया—तुम्हारे फाड़े यह न फटेगी, जान भले निकल जाय।

दुखी सोचने लगा, बाबा ने यह गाँठ कहाँ रख छोड़ी थी कि फाडे नहीं फटती। कहीं दरार तक तो नहीं पडती। मैं कब तक इसे चीरता रहूँगा। अभी घर पर सौ काम पडे हैं। कार-परोजन का घर है, एक न एक चीज घटी ही रहती है; पर इन्हें इसकी क्या चिंता। चलूँ जब तक भूसा ही उठा लाऊँ। कह दूँगा, बाबा! आज तो लकड़ी नहीं फटी, कल आकर फाड़ दूँगा।

उसने झौवा उठाया और भूसा ढोने लगा। खलिहान यहाँ से दो फर-लाग से कम न था। अगर झौवा खूब भर-भर लाता तो काम जल्द ख़तम हो जाता; लेकिन फिर झौवे को उठाता कौन। अकेले भरा हुआ झौवा उससे न उठ सकता था। इसलिए थोड़ा-थोड़ा लाता था। चार बजे कहीं

भूसा ख़त्म हुआ। पडितजी की नींद भी खुली। मुँह-हाथ धोया, पान खाया, और बाहर निकले। देखा, तो दुखी झौवे पर सिर रखे सो रहा है। ज़ोर से बोले—अरे दुखिया, तू सो रहा है! लकड़ी तो अभी ज्यों की त्यों पड़ी हुई है। इतनी देर तू करता क्या रहा! मुट्ठी भर भूसा ढोने में संझा कर दी। उसपर सो रहा है। उठा ले कुल्हाड़ी और लकड़ी फाड़ डाल। तुझसे ज़रा-सी लकड़ी भी नहीं फटती। फिर साइत भी वैसी ही निकलेगी, मुझे दोष मत देना। इसी से कहा है कि नीच के घर में खाने को हुआ और उसकी आँख बदली।

दुखी ने फिर कुल्हाड़ी उठाई। जो बातें पहले से सोच रखी थीं, वह सब भूल गईं। पेट पीठ मे धँसा जाता था, आज सवेरे जलपान तक न किया था। अवकाश ही न मिला। उठना भी पहाड़ मालूम होता था। जी डूबा जाता था; पर दिल को समझाकर उठा। पडित हैं, कहीं साइत ठीक न विचारें, तो फिर सत्यानाश ही हो जाय। जभी तो संसार मे इतना मान है। साइत ही का तो सब खेल है। जिसे चाहें बिगाड़ दें। पंडितजी गाँठ के पास आकर खड़े हो गये और बढ़ावा देने लगे—हाँ, मार कसके, और मार—कसके मार—अबे ज़ोर से मार— तेरे हाथ में तो जैसे दम ही नहीं है—लगा कसके, खड़ा सोचने क्या लगता है—हाँ—बस फटा ही चाहती है! दे उसी दरार में!

दुखी अपने होश में न था। न जाने कौन-सी गुप्त शक्ति उसके हाथों को चला रही थी। वह थकन, भूख, कमजोरी सब मानो भाग गई। उसे अपने बाहुबल पर स्वयं आश्चर्य हो रहा था। एक-एक चोट वज्र की तरह पड़ती थी। आध घंटे तक वह इसी तरह उन्माद की दशा में हाथ चलाता रहा, यहाँ तक कि लकड़ी बीच से फट गई— और दुखी के हाथ से कुल्हाड़ी छूटकर गिर पड़ी। इसके साथ वह भी चक्कर खाकर गिर पड़ा। भूखा, प्यासा, थका हुआ शरीर जवाब दे गया।

पंडितजी ने पुकारा—उठके दो-चार हाथ और लगा दे। पतली-पतली चैलियाँ हो जायँ। दुखी न उठा। अब उसे दिक़ करना उचित न समझा। पंडितजी ने भीतर जाकर बूटी छानी, शौच गये, स्नान किया और पंडिताई

बाना पहनाकर बाहर निकले। दुखी अभी तक वहीं पड़ा हुआ था। जोर से पुकारा—अरे क्या पड़े ही रहोगे दुखी, चलो तुम्हारे ही घर चल रहा हूँ। सब सामान ठीक-ठीक है न! दुखी फिर भी न उठा।

अब पंडितजी को कुछ शंका हुई। पास जाकर देखा, तो दुखी अकड़ा पड़ा हुआ था। बदहवास होकर भागे और पंडिताइन से बोले—दुखिया तो जैसे मर गया।

पंडिताइन हकबकाकर बोलीं—वह तो अभी लकड़ी चीर रहा था न!

पंडित—हाँ लकड़ी चीरते-चीरते मर गया। अब क्या होगा?

पंडिताइन ने शांत होकर कहा—होगा क्या, चमरौने में कहला भेजो, मुर्दा उठा ले जायँ।

एक क्षण मे गाँव भर मे खबर हो गई। पूरे में बाम्हनो की ही बस्ती थी। केवल एक घर गोंड़ का था। लोगों ने उधर का रास्ता छोड़ दिया। कुएँ का रास्ता उधर ही से था, पानी कैसे भरा जाय। चमार की लाश के पास से होकर पानी भरने कौन जाय। एक बुढिया ने पंडितजी से कहा—अब मुर्दा फेंकवाते क्यों नहीं। कोई गाँव में पानी पीयेगा या नहीं।

इधर गोंड ने चमरौने में जाकर सबसे कह दिया—खबरदार, मुर्दा उठाने मत जाना। अभी पुलिस की तहकीक़ात होगी। दिल्लगी है कि एक गरीब की जान ले ली। पंडित होंगे, तो अपने घरके होंगे। लाश उठाओगे तो तुम भी पकड़ जाओगे।

इसके बाद ही पंडितजी पहुँचे, पर चमराने का कोई आदमी लाश उठा लाने को तैयार न हुआ। हाँ दुखी की स्त्री और कन्या दोनों हाय-हाय करती वहाँ चलीं और पंडितजी के द्वार पर आकर सिर पीट पीटकर रोने लगीं। उसके साथ दस-पाँच और चमारिनें थीं। कोई रोती थी, कोई समझाती थी, पर चमार एक भी न था। पंडितजी ने चमारों को बहुत धमकाया, समझाया, मिन्नत की; पर चमारो के दिल पर पुलिस का रोब छाया हुआ था, एक भी न मिनका। आखिर निराश होकर लौट आये।

(४)

आधी रात तक रोना-पीटना जारी रहा। देवताओं का सोना मुश्किल

हो गया ; पर लाश उठाने कोई चमार न आया, और बाम्हन चमार की लाश कैसे उठाते ! भला ऐसा किसी शास्त्र-पुराण में लिखा है ? कहीं कोई दिखा दे ।

पंडिताइन ने झुँझलाकर कहा—इन डाइनों ने तो खोपड़ी चाट डाली । सभों का गला भी नहीं पकता ।

पंडित ने कहा—रोने दो चुड़ैलो, को कब तक रोयेंगी । जीता था, तो कोई बात न पूछता था । मर गया, तो कोलाहल मचाने के लिए सब की सब आ पहुँचीं ।

पडिताइन—चमार का रोना मनहूस है ।

पंडित—हाँ, बहुत मनहूस ।

पंडिताइन—अभी से दुर्गंध उठने लगी ।

पडित—चमार था ससुरा कि नहीं । साध-असाध किसी का विचार है इन सबो को ।

पडिताइन—इन सबो को घिन भी नहीं लगती ।

पडित—भ्रष्ट हैं सब ।

रात तो किसी तरह कटी ; मगर सवेरे भी कोई चमार न आया । चमारिने भी रो-पीटकर चली गईं । दुर्गंध कुछ-कुछ फैलने लगी ।

पंडितजी ने एक रस्सी निकाली । उसका फदा बनाकर मुरदे के पैर मे डाला, और फदे को खींचकर कस दिया । अभी कुछ-कुछ धुँधला था । पडितजी ने रस्सी पकड़कर लाश को घसीटना शुरू किया और गाँव के बाहर घसीट ले गये । वहाँ से आकर तुरत स्नान किया, दुर्गापाठ पढ़ा और घर मे गगाजल छिड़का ।

उधर दुखी की लाश को खेत मे गीदड़ और गिद्ध, कुत्ते और कौए नोच रहे थे । यही जीवन पर्यंत की भक्ति, सेवा और निष्ठा का पुरस्कार था ।

तगादा

सेठ चेतराम ने स्नान किया, शिवजी को जल चढ़ाया, दो दाने मिर्च चबाये, दो लोटे पानी पिया और सोटा लेकर तगादे पर चले।

सेठजी की उम्र कोई पचास की थी। सिर के बाल झड़ गये थे और खोपड़ी ऐसी साफ-सुथरी निकल आई थी, जैसे ऊसर खेत। आपकी आँखे थीं तो छोटी; लेकिन बिलकुल गोल। चेहरे के नीचे पेट था और पेट के नीचे टाँगे, मानो किसी पीपे में दो मेखें गाड़ दी गई हों। लेकिन, यह खाली पीपा न था। इसमें सजीवता और कर्म-शीलता कूट कूटकर भरी हुई थीं। किसी बाकीदार असामी के सामने इस पीपे का उछलना-कूदना और पैतरे बदलना देखकर किसी नट का चिंगिया भी लज्जित हो जाता। कैसी आँखे लाल-पीली करते, कैसे गरजते कि दर्शकों की भीड लग जाती थी। उन्हें कजूस तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि, जब वह दूकान पर होने, तो हरेक भिखमगे के सामने एक कौड़ी फेंक देते। हाँ, उस समय उनके माथे पर कुछ ऐसा बल पड़ जाता, आँखे कुछ ऐसी प्रचड हो जातीं, नाक कुछ ऐसी सिकुड़ जाती कि भिखारी फिर उनकी दूकान पर न आता। लहने का बाप तगादा है, इस सिद्धात के वह अनन्य भक्त थे। जलपान करने के बाद सध्या तक वह बराबर तगादा करते रहते थे। इसमें एक तो घर का भोजन बचता था, दूसरे असामियों के माथे दूध, पूरी, मिठाई आदि पदार्थ खाने को मिल जाते थे। एक वक्त का भोजन बच जाना कोई साधारण बात नहीं है! एक भोजन का एक आना भी रख लें, तो केवल इसी मद मे उन्होंने अपने तीस वषो के महाजनी जीवन मे कोई आठ सौ रुपये बचा लिये थे। फिर लौटते समय दुसरी वेला के लिए भी दूध, दही, तेल, तरकारी, उपले, ईंधन मिल जाते थे। बहुधा सध्या का भोजन भी न करना पडता था। इसलिए तगादे से न चूकते थे। आसमान फट पड़ता हो, आग बरस रही हो, आँधी आई हो; पर सेठजी प्रकृति के अटल नियम की भाँति तगादे पर ज़रूर निकल जाते।

सेठजी ने पूछा—भोजन ?

सेठानी ने गरजकर कहा—नहीं।

'साँझ का ?'

'आने पर देखी जायगी।'

(२)

सेठजी के एक किसान पर पाँच रुपये आते थे। ६ महीने से दुष्ट ने सूद-ब्याज कुछ न दिया था, और न कभी कोई सौग़ात लेकर ही हाज़िर हुआ था। उसका घर तीन कोस से कम न था, इसी लिए सेठजी टालते आते थे। आज उन्होंने उसी गाँव चलने का निश्चय कर लिया। आज बिना उस दुष्ट से रुपये लिये न मानूँगा, चाहे कितना ही रोये, घिघियाये; मगर इतनी लम्बी यात्रा पैदल करना निन्दास्पद था। लोग कहेंगे—नाम बड़े दर्शन थोड़े। कहलाने को सेठ, चलते हैं पैदल। इसलिए मंथर गति से इधर-उधर ताकते, राहगीरों से बातें करते चले जाते थे कि लोग समझें वायु-सेवन करने जा रहे हैं।

सहसा एक ख़ाली इक्का उसी तरफ जाता हुआ मिल गया। इक्केवान ने पूछा—कहाँ लाला, कहाँ जाना है ?

सेठजी ने कहा—जाना तो कहीं नहीं है, दो परग तो और हैं; लेकिन लाओ बैठ जायँ।

इक्केवाले ने चुभती हुई आँखों से सेठजी को देखा। सेठजी ने भी अपनी गोल आँखों से उसे घूरा। दोनों समझ गये, आज लोहे के चने चबाने पड़ेंगे।

इक्का चला। सेठजी ने पहला वार किया—कहाँ घर है मियाँ साहब ?

'घर कहाँ है हुजूर, जहाँ पड रहूँ, वहीं पर है। जब घर था तब था। अब तो बेघर, बेदर हूँ और सबसे बड़ी बात यह है कि बेपर हूँ। तक़दीर ने पर काट लिये। लँडूरा बनाकर छोड़ दिया। मेरे दादा नवाबी में चकले-दार थे, हुजूर, सात जिले के मालिक, जिसे चाहें तोप दम कर दें, फाँसी पर लटका दें। सूरज निकलने के पहले लाखों की थैलियाँ नजर चढ़ जाती थीं हुजूर। नवाब साहब भाई की तरह मानते थे। एक दिन वह थे, एक दिन यह है कि हम आप लोगों की गुलामी कर रहे हैं। दिनों का फेर है।'

सेठजी को हाथ मिलाते ही मालूम हो गया, पक्का फिकैत है, अखाड़े-बाज, इससे पेश पाना मुश्किल है; पर अब तो कुश्ती बद गई थी, अखाड़े में उतर पड़े थे। बोले—तो यह कहो कि बादशाही घराने के हो। यह सूरत ही गवाही दे रही है। दिनों का फेर है भाई, सब दिन बराबर नहीं जाते। हमारे यहाँ लक्ष्मी को चञ्चला कहते हैं, बराबर चलती रहती है, आज मेरे घर कल तुम्हारे घर। तुम्हारे दादा ने रुपये तो खूब छोड़े होंगे ?

इक्केवाला—अरे सेठ, उस दौलत का कोई हिसाब था। न जाने कितने तैखाने भरे हुए थे। बोरो में तो सोने-चाँदी के डले रखे हुए थे। जवाहरात टोकरियों मे भरे पडे थे। एक-एक पत्थर पचास-पचास लाख का। चमक-दमक ऐसी थी, कि चिराग़ मात। मगर तक़दीर भी तो कोई चीज़ है। इधर दादा का चालीसवाँ हुआ, उधर नवाबी बुर्द हुई। सारा खज़ाना लुट गया। छकड़ों पर लाद लादकर लोग जवाहरात ले गये। फिर भी घर में इतना बच रहा था कि अब्बाजान ने जिन्दगी भर ऐश किया—ऐसा ऐश किया, कि क्या कोई भकुवा करेगा। सोलह कहारो के सुखपाल पर निकलते थे। आगे पीछे चोबेदार दौड़ते चलते थे। फिर भी मेरे गुजर भर को उन्होंने बहुत छोडा। अगर हिसाब किताब से रहता, तो आज भला आदमी होता, लेकिन रईस का बेटा रईस ही तो होगा। एक बोतल चढाकर बिस्तर से उठता था। रात-रात भर मुजरे होते रहते थे। क्या जानता था, एक दिन यह ठोकरे खानी पड़ेगी।

सेठ—अल्लामियाँ का सुक्रुर करो भाई कि ईमानदारी से अपने बाल-बच्चों की परवरिश तो करते हो। नहीं तो हमारे तुम्हारे कितने ही भाई रात-दिन कुकर्म करते रहते हैं, फिर भी दाने-दाने को मुहताज रहते हैं। ईमान की सलामती चाहिए, नहीं, दिन तो सभी के कट जाते हैं, दूध रोटी खाकर कटे तो क्या, सूखे चने चबाकर कटे तो क्या। बड़ी बात तो ईमान है। मुझे तो तुम्हारी सूरत देखते ही मालूम हो गया था, कि नीयत के साफ सच्चे आदमी हो। बेईमानों की तो सूरत ही से फटकार बरसती है।

इक्केवाला—सेठजी, आपने ठीक कहा कि ईमान सलामत रहे, तो सब कुछ है। आप लोगों से चार पैसे मिल जाते हैं, वही बाल बच्चों को खिला-

पिलाकर पड रहता हूँ। हुजूर, और इक्केवालों को देखिए, तो कोई किसी मर्ज में मुब्तिला है, कोई किसी मर्ज में। मैंने तोबा बोला! ऐसा काम ही क्यों करे, कि मुसीबत में फँसे। बडा कुन्बा है। हजूर, माँ हैं, बच्चे हैं, कई बेवाएँ हैं, और कमाई यही इक्का है। फिर भी अल्लाह मियाँ किसी तरह निबाहे जाते हैं।

सेठ—वह बड़ा कारसाज है खाँ साहब, तुम्हारी कमाई में हमेशा बरकत होगी।

इक्केवाला—आप लोगो की मेहरबानी चाहिए।

सेठ—भगवान की मेहरबानगी चाहिए। तुमसे खूब भेट हो गई, मैं इक्केवालो से बहुत घबराता हूँ; लेकिन अब मालूम हुआ, अच्छे बुरे सभी जगह होते हैं। तुम्हारे जैसा सच्चा, दीनदार आदमी मैंने नहीं देखा। कैसी तो साफ तबियत पाई है तुमने कि वाह!

सेठजी की ये लच्छेदार बाते सुनकर इक्केवाला समझ गया कि यह महाशय पल्ले सिरे के बैठकबाज हैं। यह सिर्फ मेरी तारीफ करके मुझे चकमा दिया चाहते हैं। अब और किसी पहलू से अपना मतलब निकालना चाहिए। इनकी दया से तो कुछ ले मरना मुश्किल है, शायद इनके भय से कुछ ले मरूँ। बोला—मगर लाला, यह न समझिए कि मैं जितना सीधा और नेक नज़र आता हूँ, उतना सीधा और नेक हूँ भी। नेको के साथ नेक हूँ, लेकिन बुरों के साथ पक्का बदमाश हूँ। यो कहिए आपकी जूतियाँ सीधी कर दूँ; लेकिन कैराये के मामले में किसी के साथ रिआयत नहीं करता। रिआयत करूँ, तो खाऊँ क्या?

सेठजी ने समझा था, इक्केवाले को हत्थे पर चढा लिया। अब यात्रा निर्विघ्न और निःशुल्क समाप्त हो जायगी; लेकिन यह अलाप सुना, तो कान खड़े हुए। बोले—भाई रुपये पैसे के मामले में मैं भी किसी से रिआयत नहीं करता, लेकिन कभी-कभी जब यार-दोस्तो का मामला आ पड़ता है, तो झक मारकर दबना ही पड़ता है। तुम्हें भी कभी-कभी बल खाना ही पड़ता होगा। दोस्तो से बेमुरौअती तो नही की जाती।

इक्केवाले ने रूखेपन से कहा—मैं किसी के साथ मुरौअत नहीं करता।

मुरौअत का सबक तो उस्ताद ने पढ़ाया ही नहीं। एक ही चंडूल हूँ। मजाल क्या कि कोई एक पैसा दबा ले। घरवाली तक को तो मैं एक पैसा देता नहीं, दूसरों की बात ही क्या है। और इक्केवाले अपने महाजन की ख़ुशामद करते हैं। उसके दरवाजे पर खड़े रहते हैं। यहाँ महाजनों को भी धता बताता हूँ। सब मेरे नाम को रोते हैं। रुपये लिये और साफ डकार गया। देखें अब कैसे वसूल करते हो बच्चा, नालिश करो, घर में क्या धरा है, जो ले लोगे।

सेठजी को मानो जूड़ी चढ़ आई। समझ गये, यह शैतान बिना पैसे लिये न मानेगा। जानते कि यह विपत्ति गले पडेगी, तो भूलकर भी इक्के पर पाँव न रखते। इतनी दूर पैदल चलने मे कौन पैर टूट जाते थे। अगर इस तरह रोज़ पैसे देने पडे, तो फिर लेन-देन कर चुका।

सेठजी भक्त जीव थे। शिवजी को जल चढाने में, जब से होश सँभाला, एक नागा भी न किया। क्या भक्तवत्सल शकर भगवान, इस अवसर पर मेरी सहायता न करेंगे। इष्टदेव का सुमिरन करके बोले—खाँ साहब, और किसी से चाहे न दबो, पर पुलिस से तो दबना ही पड़ता होगा। वह तो किसी के सगे नहीं होते।

इक्केवाले ने कहकहा मारा—कभी नहीं, उससे उल्टे और कुछ न कुछ वसूल करता हूँ। जहाँ कोई शिकार मिला, झट सस्ते भाड़े बैठाता हूँ और थाने पर पहुँचा देता हूँ। केराया भी मिल जाता है और इनाम भी। क्या मजाल कि कोई बोल सके। लइसन नहीं लिया आज तक लइसन! मजे मे सदर में इक्का दौडाता फिरता हूँ। कोई साला चूँ नही कर सकता। मेले ठेलों में अपनी खूब बन आती है। अच्छे-अच्छे माल चुन-चुनकर कोतवाली पहुँचाता हूँ। वहाँ कौन किसी की दाल गलती है। जिसे चाहें रोक लें, एक दिन; दो दिन, तीन दिन। बीस बहाने हैं। कह दिया, शक था कि यह औरत को भगाये लिये जाता था, या औरत को कह दिया कि अपनी ससुराल से रूठकर भागी जाती थी। फिर कौन बोल सकता है। साहब भी छोडना चाहें, तो नहीं छोड सकते। मुझे सीधा न समझिएगा। एक ही हरामी हूँ। सवारियों से पहले केराया तय नहीं करता, ठिकाने पहुँचकर एक के दो लेता हूँ। जरा

भी चीं-चपड़ किया, तो आस्तीन चढ़ा, पैतरे बदलकर खड़ा हो जाता हूँ। फिर कौन है, जो सामने ठहर सके।

सेठजी को रोमाच हो आया। हाथ में एक सोटा तो था, पर उसका व्यवहार करने की शक्ति का उनमे अभाव था। आज बुरे फँसे, न जाने किस मनहूस का मुँह देखकर घर से चले थे। कहीं यह दुष्ट उलझ पड़े, तो दस-पाँच दिन हल्दी-सोठ पीना पड़े। अब से भी कुशल है, यहाँ उतर जाऊँ, जो बच जाय वही सही। भीगी बिल्ली बनकर बोले—अच्छा, अब रोक लो खाँ साहब, मेरा गाँव आ गया। बोलो, तुम्हें क्या दे दूँ?

इक्केवाले ने घोड़ी को एक चाबुक और लगाया और निर्दयता से बोला—मजूरी सोच लो भाई। तुमको न बैठाया होता, तो तीन सवारियाँ बैठा लेता। तीनों चार-चार आने भी देते, तो बारह आने हो जाते। तुम आठ ही आने दे दो।

सेठजी की बधिया बैठ गई। इतनी बड़ी रकम उन्होंने उम्र भर इस मद मे नहीं खर्च की थी। इतनी सी दूर के लिए इतना केराया, वह किसी तरह न दे सकते थे। मनुष्य के जीवन मे एक ऐसा अवसर भी आता है, जब परिणाम की उसे चिंता नहीं रहती। सेठजी के जीवन मे यह ऐसा ही अवसर था। अगर आने दो-आने की बात होती, तो खून का घूँट पीकर दे देते; लेकिन आठ आने के लिए कि जिसका द्विगुण एक कलदार होता है, अगर तू-तू मै-मै ही नही, हाथापाई की भी नौबत आये, तो वह करने को तैयार थे। यह निश्चय करके वह दृढ़ता के साथ बैठे रहे।

सहसा सड़क के किनारे एक झोंपड़ा नज़र आया। इक्का रुक गया, सेठजी उतर पड़े और कमर से एक दुअन्नी निकालकर इक्केवान की ओर बढाई।

इक्केवान ने सेठजी के तीवर देखे, तो समझ गया, ताव बिगड़ गया। चाशनी कड़ी होकर कठोर हो गई। अब यह दाँतों से लड़ेगी। इसे चुबलाकर ही मिठास का आनद लिया जा सकता है। नम्रता से बोला—मेरी ओर से इसकी रेवड़ियाँ लेकर बाल-बच्चों को खिला दीजिएगा। अल्लाह आप को सलामत रखे।

नर-उधर ताककर कहा—यहाँ तो कोई तम्बोली नहीं है।
की ओर कटाक्षपूर्ण नेत्रों से देखकर बोली—क्या मेरे लगाये
पानों से भी ख़राब होंगे ?
ज्जित होकर कहा—नहीं-नहीं, यह बात नहीं। तुम मुसलमान

विनोदमय आग्रह से कहा—खुदा की क़सम, इसी बात पर मैं
कर छोड़ूँगी !

उसने पानदान से एक बीड़ा निकाला और सेठजी की तरफ़
ने एक मिनिट तक तो, हाँ ! हाँ ! किया, फिर दोनों हाथ
टाने की चेष्टा की, फिर ज़ोर से दोनों ओठ बंद कर लिये ;
किसी तरह न मानी, तो सेठजी अपना धर्म लेकर बे-तहाशा
हीं चारपाई पर रह गया। बीस क़दम पर जाकर आप रुक
कर बोले—देखो, इस तरह किसी का धर्म नहीं लिया जाता।
रा छुआ पानी भी पी ले, तो धर्म भ्रष्ट हो जाय।

सेठजी ने पापी आँखो को फेरकर और पापी मन को दबाकर कहा—यहाँ से थोड़ी दूर पर एक गाँव है, वहीं जाना है। साँझ को इधर ही से लौटूँगा।

सुन्दरी ने प्रसन्न होकर कहा—तो फिर आज यहीं रहिएगा। साँझ को फिर कहाँ जाइएगा। एक दिन घर के बाहर की हवा भी खाइए। फिर न जाने कब मुलाकात होगी।

इक्केवाले ने आकर सेठजी के कान में कहा—पैसे निकालिए तो दाने-चारे का इन्तजाम करूँ।

सेठजी ने चुपके से अठन्नी निकालकर दे दी।

इक्केवाले ने फिर पूछा—आपके लिए कुछ मिठाई लेता आऊँ? यहाँ आपके लायक मिठाई तो क्या मिलेगी, हाँ, मुँह मीठा हो जायगा।

सेठजी बोले—मेरे लिए कोई ज़रूरत नहीं, हाँ, बच्चों के लिए यह चार आने की मिठाई लिवाते आना।

चवन्नी निकालकर, सेठजी ने उसके सामने ऐसे गर्व से फेंकी, मानो इसकी उनके सामने कोई हक़ीकत नहीं है। सुन्दरी के मुँह का भाव तो देखना चाहते थे, पर डरते थे कि कहीं वह यह न समझे, लाला चवन्नी क्या दे रहें हैं, मानो किसी को मोल ले रहे हैं।

इक्केवाला चवन्नी उठाकर जा ही रहा था कि सुन्दरी ने कहा—सेठजी की चवन्नी लौटा दो। लपककर उठा ली। शर्म नहीं आती। यह मुझसे रुपया ले लो। आठ आने की ताज़ी मिठाई बनवाकर लाओ।

उसने रुपया निकालकर फेंका। सेठजी मारे लाज के गड़ गये। एक इक्केवान की भठियारिन जिसकी टके की भी औकात नहीं, इतनी ख़ातिरदारी करे कि उनके लिए पूरा रुपया निकालकर दे दे, यह भला वह कैसे सह सकते थे। बोले—नहीं-नहीं, यह नहीं हो सकता। तुम अपना रुपया रख लो। (रसिक आँखों को तृप्त करके) मैं रुपया दिये देता हूँ। यह लो, आठ आने की ले लेना।

इक्केवान तो उधर मिठाई और दाना-चारे की फिक्र में चला, इधर सुन्दरी ने सेठ से कहा—वह तो अभी देर में आयेगा लाला, तब तक पान तो खाओ।

सेठजी ने इधर-उधर ताककर कहा—यहाँ तो कोई तम्बोली नहीं है।

सुन्दरी उनकी ओर कटाक्षपूर्ण नेत्रों से देखकर बोली—क्या मेरे लगाये पान तम्बोली के पानों से भी ख़राब होंगे?

सेठजी ने लज्जित होकर कहा—नहीं-नहीं, यह बात नहीं। तुम मुसलमान हो न?

सुन्दरी ने विनोदमय आग्रह से कहा—खुदा की क़सम, इसी बात पर मैं तुम्हें पान खिलाकर छोड़ूँगी!

यह कहकर उसने पानदान से एक बीड़ा निकाला और सेठजी की तरफ़ चली। सेठजी ने एक मिनिट तक तो, हाँ! हाँ! किया, फिर दोनों हाथ बढाकर उसे हटाने की चेष्टा की, फिर ज़ोर से दोनों ओठ बंद कर लिये; पर जब सुन्दरी किसी तरह न मानी, तो सेठजी अपना धर्म लेकर बे-तहाशा भागे। सोंटा वहीं चारपाई पर रह गया। बीस क़दम पर जाकर आप रुक गये और हाँफकर बोले—देखो, इस तरह किसी का धर्म नहीं लिया जाता। हम लोग तुम्हारा छूआ पानी भी पी लें, तो धर्म भ्रष्ट हो जाय।

सुन्दरी ने फिर दौड़ाया। सेठजी फिर भागे। इधर ५० वर्ष से उन्हें इस तरह भागने का अवसर न पड़ा था। धोती खिसककर गिरने लगी; मगर इतना अवकाश न था कि धोती बाँध लें। बेचारे धर्म को कधे पर रखे दौड़े चले जाते थे। न मालूम कब कमर से रुपयों का बटुआ खिसक पड़ा। जब एक ५० क़दम पर फिर रुके और धोती ऊपर उठाई, तो बटुआ नदारत। पीछे फिरकर देखा। सुन्दरी हाथ मे बटुआ लिये, उन्हें दिखा रही थी और इशारे से बुला रही थी। मगर सेठजी को धर्म रुपये से कहीं प्यारा था। दो-चार क़दम चले फिर रुक गये।

यकायक धर्म-बुद्धि ने डाँट बताई। थोड़े रुपये के लिए धर्म छोड़ देते हो। रुपये बहुत मिलेंगे। धर्म कहाँ मिलेगा?

यह सोचते हुए वह अपनी राह चले, जैसे कोई कुत्ता झगड़ालू कुत्तों के बीच से आहत, दुम दबाये भागा जाता हो और बार-बार पीछे फिरकर देख लेता हो कि कहीं वे दुष्ट आ तो नहीं रहे हैं।

दो क़ब्रें

अब न वह यौवन है, न वह नशा, न वह उन्माद। वह महफ़िल उठ गई, वह दीपक बुझ गई, जिससे महफिल की रौनक थी। वह प्रेममूर्त्ति क़ब्र की गोद में सो रही है। हाँ, उसके प्रेम की छाप अब भी हृदय पर है और उसकी अमर स्मृति आँखों के सामने। वारांगनाओं में ऐसी वफा, ऐसा प्रेम, ऐसा व्रत दुर्लभ है और रईसों में ऐसा विवाह, ऐसा समर्पण, ऐसी भक्ति और भी दुर्लभ। कुँवर रनवीरसिंह रोज़ बिला नाग़ा संध्या समय ज़ुहरा की क़ब्र के दर्शन करने जाते थे, उसे फूलों से सजाते, आँसुओं से सींचते। पंद्रह साल गुज़र गये, एक दिन भी नाग़ा नहीं हुआ। प्रेम की उपासना ही उनके जीवन का उद्देश्य था, उस प्रेम का, जिसमें उन्होंने जो कुछ देखा वही पाया और जो कुछ अनुभव किया, उसी की याद अब भी उन्हें मस्त कर देती है। इस उपासना में सुलोचना भी उनके साथ होती, जो ज़ुहरा का प्रसाद और कुँवर साहब की सारी अभिलाषाओं की केंद्र थीं।

कुँवर साहब ने दो शादियाँ की थीं, पर दोनों स्त्रियों में से एक भी संतान का मुँह न देख सकी। कुँवर साहब ने फिर विवाह न किया। एक दिन एक महफिल में उन्हें ज़ुहरा के दर्शन हुए। उस निराश पति और अतृप्त युवती में ऐसा मेल, मानो चिरकाल से बिछुड़े हुए दो साथी फिर मिल गये हों। जीवन का वसन्त-विकास संगीत और सौरभ से भरा हुआ आया; मगर अफ़सोस! पाँच वर्षों के अल्पकाल में उसका भी अंत हो गया। वह मधुर स्वप्न निराशा से भरी हुई जागृति में लीन हो गया। वह सेवा और व्रत की देवी तीन साल की सुलोचना को उनकी गोद में सौंपकर सदा के लिए सिधार गई।

कुँवर साहब ने इस प्रेमादेश का इतने अनुराग से पालन किया कि देखनेवालों को आश्चर्य होता था। कितने ही तो उन्हें पागल समझते थे। सुलोचना ही की नींद सोते, उसी की नींद जगाते, खुद पढ़ाते, उसके साथ

सैर करते—इतनी एकाग्रता के साथ, जैसे कोई विधवा अपने अनाथ बच्चे को पाले।

जब से वह यूनिवर्सिटी में दाख़िल हुई, उसे खुद मोटर में पहुँचा आते और शाम को खुद जाकर ले आते। वह उसके माथे पर से वह कलङ्क धो डालना चाहते थे, जो मानो विधाता ने क्रूर हाथों से लगा दिया था। धर्म तो उसे न धो सका, शायद विद्या धो डाले।

एक दिन शाम को कुँवर साहब जुहरा के मज़ार को फूलों से सजा रहे थे और सुलोचना कुछ दूर पर खड़ी अपने कुत्ते को गेंद खेला रही थी कि सहसा उसने अपने कॉलेज के प्रोफेसर डाक्टर रामेंद्र को आते देखा। सकुचाकर मुँह फेर लिया, मानो उन्हें देखा नहीं। शका हुई कहीं रामेंद्र इस मज़ार के विषय में कुछ पूछ न बैठे।

यूनिवर्सिटी मे दाख़िल हुए उसे एक साल हुआ। इस एक साल मे उसने प्रणय के विविध रूपों को देख लिया था। कहीं क्रीडा थी, कहीं विनोद था, कहीं कुत्सा थी, कहीं लालसा थी, कहीं उच्छृङ्खलता थी, किंतु कहीं वह सहृदयता न थी, जो प्रेम का मूल है। केवल रामेंद्र ही एक ऐसे सज्जन थे, जिन्हें अपनी ओर ताकते देखकर उसके हृदय मे सनसनी होने लगती थी; पर उनकी आँखो मे कितनी विवशता, कितनी पराजय, कितनी वेदना छिपी होती थी।

रामेंद्र ने कुँवर साहब की ओर देखकर कहा—तुम्हारे बाबा इस क़ब्र पर क्या कर रहे हैं!

सुलोचना का चेहरा कानों तक लाल हो गया। बोली—यह इनकी पुरानी आदत है।

रामेंद्र—किसी महात्मा की समाधि है?

सुलोचना ने इस सवाल को उड़ा देना चाहा। रामेंद्र यह तो जानते थे कि सुलोचना कुँवर साहब की दाश्ता औरत की लड़की है; पर उन्हें यह न मालूम था कि यह उसी की क़ब्र है और कुँवर साहब अतीत प्रेम के इतने उपासक हैं। मगर यह प्रश्न उन्होंने बहुत धीमे स्वर में न किया था। कुँवर साहब जूते पहन रहे थे। यह प्रश्न उनके कान में पड़ गया। जल्दी से जूता

पहन लिया और समीप जाकर बोले--संसार की आँखों में तो वह महात्मा न थीं ; पर मेरी आँखों मे थीं और हैं। यह मेरे प्रेम की समाधि है।

सुलोचना की इच्छा होती थी, यहाँ से भाग जाऊँ ; लेकिन कुँवर साहब को जुहरा के यशोगान मे आत्मिक आनंद मिलता था। रामेंद्र का विस्मय देखकर बोले—इसमें वह देवी सो रही है, जिसने मेरे जीवन को स्वर्ग बना दिया था। यह सुलोचना उसी का प्रसाद है।

रामेंद्र ने क़ब्र की तरफ़ देखकर आश्चर्य से कहा—अच्छा !

कुँवर साहब ने मन में उस प्रेम का आनंद उठाते हुए कहा—वह जीवन ही और था, प्रोफेसर साहब। ऐसी तपस्या मैंने और कहीं नहीं देखी। आपको फुरसत हो, तो मेरे साथ चलिए। आपको उन यौवन-स्मृतियों...

सुलोचना बोल उठी—वह सुनाने की चीज़ नहीं है, दादा !

कुँवर—मैं रामेंद्र बाबू को ग़ैर नहीं समझता।

रामेंद्र को प्रेम का यह अलौकिक रूप मनोविज्ञान का एक रत्न-सा मालूम हुआ। वह कुँवर साहब के साथ ही उनके घर आये और कई घंटे तक उन हसरत में डूबी हुई प्रेम स्मृतियों को सुनते रहे।

जो वरदान माँगने के लिए उन्हें साल भर से साहस न होता था, दुविधे में पड़कर रह जाते थे, वह आज उन्होंने माँग लिया।

(३)

लेकिन विवाह के बाद रामेंद्र को नया अनुभव हुआ। महिलाओं का आना-जाना प्रायः बंद हो गया। इसके साथ ही मर्द दोस्तों की आमदरफ्त बढ़ गई। दिन-भर उनका ताँता लगा रहता था। सुलोचना उनके आदर-सत्कार मे लगी रहती। पहले एक-दो महीने तक तो रामेंद्र ने इधर ध्यान नहीं दिया ; लेकिन जब कई महीने गुज़र गये और स्त्रियों ने बहिष्कार का त्याग न किया तो उन्होंने एक दिन सुलोचना से कहा—यह लोग आजकल अकेले ही आते हैं !

सुलोचना ने धीरे से कहा—हाँ देखती तो हूँ।

रामेंद्र—इनकी औरतें तो तुमसे परहेज़ नहीं करतीं ?

सुलोचना—शायद करती हों।

रामेंद्र—मगर ये लोग तो विचारों के बड़े स्वाधीन हैं। इनकी औरतें भी शिक्षित हैं, फिर यह क्या बात है?

सुलोचना ने दबी ज़बान से कहा—मेरी समझ में कुछ नहीं आता।

रामेंद्र ने कुछ देर असमंजस में पड़कर कहा—हम लोग किसी दूसरी जगह चले जायँ, तो क्या हर्ज? वहाँ तो कोई हमें न जानता होगा।

सुलोचना ने अबकी तीव्र स्वर में कहा—दूसरी जगह क्यों जायें। हमने किसी का कुछ बिगाड़ा नहीं है, किसी से कुछ माँगते नहीं। जिसे आना हो आये, न आना हो न आये। मुँह क्यों छिपायें।

धीरे-धीरे रामेंद्र पर एक और रहस्य खुलने लगा, जो महिलाओं के व्यवहार से कहीं अधिक घृणास्पद और अपमान-जनक था। रामेंद्र को अब मालूम होने लगा कि ये महाशय जो आते हैं और घंटों बैठे सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नों पर बहसें किया करते हैं, वास्तव में विचार-विनिमय के लिए नहीं, बल्कि रूप की उपासना के लिए आते हैं। उनकी आँखें सुलोचना को खोजती रहती हैं। उनके कान उसी की बातों की ओर लगे रहते हैं। उसकी रूप-माधुरी का आनंद उठाना ही उनका अभीष्ट है। यहाँ उन्हें वह संकोच नहीं होता, जो किसी भले आदमी की बहू-बेटी की ओर आँखें नहीं उठने देता। शायद वे सोचते हैं, यहाँ उन्हें कोई रोक-टोक नहीं है।

कभी-कभी जब रामेंद्र की अनुपस्थिति में कोई महाशय आ जाते, तो सुलोचना को बड़ी कठिन परीक्षा का सामना करना पड़ता। वे अपनी चितवनों से, अपने कुत्सित संकेतों से, अपनी रहस्यपूर्ण बातों से, अपनी लंबी साँसों से उसे दिखाना चाहते थे, कि हम भी तुम्हारी कृपा के भिखारी हैं; अगर रामेंद्र का तुम पर सोलहों आना अधिकार है, तो थोड़ी-सी दक्षिणा के अधिकारी हम भी हैं। सुलोचना उस वक्त ज़हर का घूँट पीकर रह जाती।

अब तक रामेंद्र और सुलोचना दोनों क्लब जाया करते थे। वहाँ उदार सज्जनों का अच्छा जमघट रहता था। जब तक रामेंद्र को किसी की ओर से संदेह न था, वह उसे आग्रह करके अपने साथ ले जाते थे। सुलोचना के पहुँचते ही वहाँ एक स्फूर्ति-सी उत्पन्न हो जाती थी। जिस मेज़ पर सुलोचना

बैठती, उसे लोग घेर लेते थे। कभी कभी सुलोचना गाती भी थी। उस वक्त सबके सब उन्मत्त हो जाते।

क्लब में महिलाओं की संख्या अधिक न थी। मुश्किल से ५-६ लेडियाँ आती थीं; मगर वे भी सुलोचना से दूर-दूर रहती थीं, बल्कि अपनी भाव-भंगियों और कटाक्षो से वे उसे जता देना चाहती थीं कि तुम पुरुषो का दिल खुश करो, हम कुल-वधुओं के पास तुम नही आ सकतीं।

लेकिन जब रामेंद्र पर इस कटु सत्य का प्रकाश हुआ, तो उन्होंने क्लब जाना छोड़ दिया, मित्रो के यहाँ आना जाना भी कम कर दिया, और अपने यहाँ आनेवालों की भी उपेक्षा करने लगे। वह चाहते थे, कि मेरे एकातवास में कोई विघ्न न डाले। आख़िर उन्होने बाहर आना-जाना छोड़ दिया। अपने चारों ओर छल-कपट का जाल-सा बिछा हुआ मालूम होता था, किसी पर विश्वास न कर सकते थे, किसी से सद्व्यवहार की आशा नहीं। सोचते—ऐसे धूर्त, कपटी, दोस्ती की आड़ मे गला काटनेवाले आदमियो से मिले ही क्यों?

वे स्वभाव से मिलनसार आदमी थे। पक्के यारबाश। यह एकातवास जहाँ न कोई सैर थी, न विनोद, न कोई चहल-पहल, उनके लिए कठिन कारावास से कम न था। यद्यपि कर्म और वचन से सुलोचना की दिलजोई करते रहते थे; लेकिन सुलोचना की सूक्ष्म और सशक आँखों से अब यह बात छिपी न थी कि यह अवस्था इनके लिए दिन दिन असह्य होती जाती थी। वह दिल में सोचती—इनकी यह दशा मेरे ही कारण तो है, मै ही तो इनके जीवन का काँटा हो गई!

एक दिन उसने रामेंद्र से कहा—आजकल क्लब क्यों नहीं चलते? कई सप्ताह हुए घर से निकले तक नहीं।

रामेंद्र ने बेदिली से कहा—मेरा जी कहीं जाने को नहीं चाहता। अपना घर सबसे अच्छा।

सुलोचना—जी तो ऊबता ही होगा। मेरे कारण यह तपस्या क्यों करते हो? मैं तो न जाऊँगी। उन स्त्रियों से मुझे घृणा होती है। उनमें एक भी ऐसी नहीं, जिसके दामन पर काले दाग़ नहीं; लेकिन सब सीता बनी फिरती

हैं। मुझे तो उनकी सूरत से चिढ हो गई है, अगर तुम क्यों नहीं जाते ? कुछ दिल ही बहल जायगा।

रामेंद्र—दिल नहीं पत्थर बहलेगा। जब अंदर आग लगी हुई हो, तो बाहर शांति कहाँ!

सुलोचना चौंक पड़ी। आज पहिली बार उसने रामेंद्र के मुँह से ऐसी बात सुनी। वह अपने ही को बहिष्कृत समझती थी। अपना अनादर जो कुछ था, उसका था। रामेंद्र के लिए तो अब भी सब दरवाज़े खुले हुए थे। वह जहाँ चाहे जा सकते हैं, जिनसे चाहे मिल सकते हैं, उनके लिए कौन-सी रुकावट है, लेकिन नहीं, अगर उन्होंने किसी कुलीन स्त्री से विवाह किया होता, तो उनकी यह दशा क्यों होती ? प्रतिष्ठित घरानों की औरतें आतीं, आपस मे मैत्री बढती, जीवन सुख से कटता रेशम मे रेशम का पैबंद लग जाता। अब तो उसमें टाट का पैबंद लग गया। मैंने आकर सारे तालाब को गंदा कर दिया। उसके मुख पर उदासी छा गई।

रामेंद्र को भी तुरत मालूम हो गया कि उनकी जबान से एक ऐसी बात निकल गई, जिसके दो अर्थ हो सकते हैं। उन्होंने फौरन बात बनाई, क्या तुम समझती हो कि हम और तुम अलग-अलग हैं। हमारा और तुम्हारा जीवन एक है। जहाँ तुम्हारा आदर नहीं, वहाँ मै कैसे जा सकता हूँ! फिर मुझे भी समाज के इन रँगे सियारों से घृणा हो रही है। मैं इन सबों के कच्चे चिट्ठे जानता हूँ। पद या उपाधि या धन से किसी की आत्मा शुद्ध नहीं हो जाती। जो ये लोग करते हैं, वह अगर कोई नीचे दरजे का आदमी करता, उसे कहीं मुँह दिखाने की हिम्मत न होती ; मगर यह लोग अपनी सारी बुराइयाँ उदारतावाद के पर्दे में छिपाते हैं। इन लोगों से दूर रहना ही अच्छा।

सुलोचना का चित्त शांत हो गया।

(४)

दूसरे साल सुलोचना की गोद में एक चाँद-सी बालिका का उदय हुआ। उसका नाम रक्खा गया शोभा। कुँवर साहब का स्वास्थ्य इन दिनों कुछ अच्छा न था। मसूरी गये हुए थे। यह ख़बर पाते ही रामेंद्र को तार दिया कि ज़च्चा और बच्चा को लेकर यहाँ आ जाओ।

लेकिन रामेंद्र इस अवसर पर न जाना चाहते थे। अपने मित्रों की सज्जनता और उदारता की अंतिम परीक्षा लेने का इससे अच्छा और कौन-सा अवसर हो सकता था। सलाह हुई, एक शानदार दावत दी जाय। प्रोग्राम मे संगीत भी शामिल था। कई अच्छे अच्छे गवैये बुलाये गये; अँगरेजी, हिंदुस्तानी, मुसलमानी, सभी प्रकार के भोजनो का प्रबध किया गया।

कुँअर साहब गिरते-पड़ते मसूरी से आये। उसी दिन दावत थी। नियत समय पर निमन्त्रित लोग एक-एक करके आने लगे। कुँवर साहब स्वयं उनका स्वागत कर रहे थे। ख़ाँ साहब आये, मिर्ज़ा साहब आये, मीर साहब आये; मगर पंडितजी और बाबूजी और लाला साहब और चौधरी साहब और कक्कड़, मेहरा और चोपड़ा, कौल और हुक्कू, श्रीवास्तव और खरे किसी का पता न था।

यह सभी लोग होटलो मे सब कुछ खाते थे, अडे और शराब उड़ाते थे—इस विषय में किसी तरह का विवेक या विचार न करते थे। फिर आज क्यो तशरीफ नहीं लाये ! इसलिए नहीं कि छूत-छात का विचार था; बल्कि इसलिए कि वह अपनी उपस्थिति को इस विवाह के समर्थन की सनद समझते थे और वह सनद देने की उनकी इच्छा न थी।

दस बजे रात तक कुँवर साहब फाटक पर खड़े रहे। जब उस वक्त तक कोई न आया, तो कुँवर साहब ने आकर रामेंद्र से कहा—अब लोगों का इंतज़ार फजूल है। मुसलमानो को खिला दो और बाक़ी सामान गरीबो को दिला दो।

रामेंद्र एक कुर्सी पर हतबुद्धि से बैठे हुए थे। कुंठित स्वर में बोले—जी हाँ, यही तो मैं सोच रहा हूँ।

कुँवर—मैंने तो पहले ही समझ लिया था।

रामेंद्र—कितनी बड़ी तौहीन हुई।

कुँवर—हमारी तौहीन नहीं हुई। ख़ुद उन लोगों की कलई खुल गई।

रामेंद्र—ख़ैर, परीक्षा तो हो गई। कहिए तो अभी जाकर एक-एक की खबर लूँ।

कुँवर साहब ने विस्मित होकर कहा—क्या उनके घर जाकर ?

रामेंद्र—जी हाँ। पूछूँ, कि आप लोग जो समाज-सुधार का राग अलापते फिरते हैं, वह किस बल पर।

कुँवर—व्यर्थ है। जाकर आराम से लेटो। नेक व बद की सब से बड़ी पहचान अपना दिल है। अगर हमारा दिल गवाही दे कि यह काम बुरा नहीं, तो फिर सारी दुनिया मुँह फेर ले, हमें किसी की परवाह न करनी चाहिए।

रामेंद्र—लेकिन मैं इन लोगों को यों न छोड़ूँगा—एक एक का बखिया उधेड़कर न रख दूँ, तो नाम नहीं।

यह कहकर उन्होंने पत्तल और शकोरे उठवा-उठवाकर कंगालों को देना शुरू किया।

(५)

रामेंद्र सैर करके लौटे ही थे कि वेश्याओं का एक दल सुलोचना को बधाई देने के लिए आ पहुँचा। जुहरा की एक सगी भतीजी थी, गुलनार। सुलोचना के यहाँ पहले बराबर आती-जाती थी। इधर दो साल से न आई थी। यह उसी का बधावा था। दरवाजे पर अच्छी खासी भीड़ हो गई थी। रामेंद्र ने यह शोर-गुल सुना। गुलनार ने आगे बढ़कर उन्हें सलाम किया और बोली—बाबूजी, बेटी मुबारक, बधावा लाई हूँ।

रामेंद्रपर मानो लकवासा गिर गया। सिर झुक गया और चेहरे पर कालिमा-सी पुत गई। न मुँह से बोले, न किसी को बैठने का इशारा किया, न वहाँ से हिले। बस मूर्तिवत् खड़े रह गये। एक बाजारी औरत से नाता पैदा करने का ख्याल इतना लज्जास्पद था, इतना जघन्य कि उसके सामने सज्जनता भी मौन रह गई! इतना शिष्टाचार भी न कर सके कि सबों को कमरे में लेजाकर बिठा तो देते। आज पहली ही बार उन्हें अपने अधःपतन का अनुभव हुआ। मित्रों की कुटिलता और महिलाओं की उपेक्षा को वह उनका अन्याय समझते थे, अपना अपमान नहीं, लेकिन यह बधावा उनकी अबाध्य उदारता के लिए भी भारी था।

सुलोचना का जिस वातावरण में पालन-पोषण हुआ था, वह एक प्रतिष्ठित हिंदू कुल का वातावरण था। यह सच है कि अब भी सुलोचना नित्य जुहरा के मज़ार की परिक्रमा करने जाती थी, मगर जुहरा अब एक

पवित्र स्मृति थी, दुनिया की मलिनताओ और कलुषताओं से रहित। गुलनार से नातेदारी और परस्पर का निबाह दूसरी बात थी। जो लोग तसवीरों के सामने सिर झुकाते हैं, उनपर फूल चढ़ाते हैं, वे भी तो मूर्ति पूजा की निंदा करते हैं। एक स्पष्ट है, दूसरा सांकेतिक। एक प्रत्यक्ष है, दूसरा आँखों से छिपा हुआ।

सुलोचना अपने कमरे मे चिक की आड़ मे खड़ी रामेंद्र का असमंजस और क्षोभ देख रही थी। जिस समाज को उसने अपना उपास्य बनाना चाहा था, जिसके द्वार पर सिजदे करते उसे बरसों हो गये थे, उसकी तरफ से निराश होकर, उसका हृदय इस समय उससे विद्रोह करने पर तुला हुआ था। उसके जी में आता था—गुलनार को बुलाकर गले लगा लूँ। जो लोग मेरी बात भी नही पूछते, उनकी खुशामद क्यों करूँ! यह बेचारियाँ इतनी दूर से आई हैं मुझे अपना ही समझकर तो; उनके दिल मे प्रेम तो है, यह मेरे दुःख सुख मे शरीक होने को तैयार तो हैं।

आखिर रामेंद्र ने सिर उठाया और शुष्क मुस्कान के साथ गुलनार से बोले—आइए, आप लोग अंदर चली आइए, यह कहकर वह आगे-आगे रास्ता दिखाते हुए दीवानखाने की ओर चले कि सहसा महरी निकली और गुलनार के हाथ में एक पुर्जा देकर चली गई। गुलनार ने वह पुर्जा लेकर देखा और उसे रामेंद्र के हाथ मे देकर वहीं खड़ी हो गई। रामेंद्रने पुर्जा देखा, लिखा था—बहन गुलनार, तुम यहाँ नाहक आईं। हम लोग योंही बदनाम हो रहे हैं। अब और बदनाम मत करो, बधावा वापस ले जाओ। कभी मिलने का जी चाहे, तो रात को आना और अकेली। मेरा जी तुम्हारे गले लिपटकर रोने के लिए तड़प रहा है; मगर मजबूर हूँ।

रामेंद्र ने पुर्जा फाड़कर फेंक दिया और उद्दंड होकर बोले—इन्हें लिखने दो। मैं किसी से नहीं डरता। अंदर आओ।

गुलनार ने एक क़दम पीछे फिरकर कहा—नहीं बाबूजी, अब हमे आज्ञा दीजिए।

रामेंद्र—एक मिनट तो बैठो।

गुलनार—जी नहीं। एक सेकिंड भी नहीं।

(६)

गुलनार के चले जाने के बाद रामेंद्र अपने कमरे में जा बैठे। जैसी पराजय उन्हे आज हुई, वैसी पहले कभी नहीं हुई। वह आत्मभिमान, वह सच्चा क्रोध, जो अन्याय के ज्ञान से पैदा होता है, लुप्त हो गया था। उसकी जगह लज्जा थी और ग्लानि। इसे बधावे की क्यों सूझ गई। यों तो कभी आती-जाती न थी, आज न जाने कहाँ से फट पड़ा। कुँवर साहब होंगे इतने उदार। उन्होंने जुहरा के नातेदारों से भाईचारे का निबाह किया होगा, मैं इतना उदार नहीं हूँ। कहीं सुलोचना छिपकर इसके पास आती-जाती तो नहीं? लिखा भी तो है कि मिलने का जी चाहे तो रात को आना और अकेली—क्यों न हो, खून तो वही है, मनोवृत्ति वही, विचार वही, आदर्श वही। माना, कुँवर साहब के घर में पालन-पोषण हुआ; मगर रक्त का प्रभाव इतनी जल्दी नहीं मिट सकता। अच्छा, दोनों बहनें मिलती होंगी, तो उनमें क्या बातें होती होंगी? इतिहास या नीति की चर्चा तो हो नहीं सकती। वही निर्लज्जता की बातें होती होंगी। गुलनार अपना वृत्तान्त कहती होगी, उस बाजार के खरीदारों और दूकानदारों के गुण-दोषों पर बहस होती होगी। यह तो हो ही नहीं सकता कि गुलनार इसके पास आते ही अपने को भूल जाय और कोई भद्दी, अनर्गल और कलुषित बातें न करे।

एक क्षण में उनके विचारों ने पलटा खाया; मगर आदमी बिना किसी से मिले-जुले रह भी तो नहीं सकता, यह भी तो एक तरह की भूख है। भूख में अगर शुद्ध भोजन न मिले, तो आदमी जूठा खाने से भी परहेज नहीं करता। अगर इन लोगों ने सुलोचना को अपनाया होता, उसका यों बहिष्कार न करते, तो उसे क्यों ऐसे प्राणियों से मिलने की इच्छा होती। उसका कोई दोष नहीं, यह सारा दोष परिस्थितियों का है, जो हमारे अतीत की याद दिलाती रहती हैं।

रामेंद्र इन्हीं विचारों में पड़े हुए थे कि कुँवर साहब आ पहुँचे और रूठ स्वर में बोले—मैंने सुना गुलनार अभी बधावा लाई थी, तुमने उसे लौटा दिया।

रामेंद्र का विरोध सजीव हो उठा। बोले—मैंने तो नहीं लौटाया। सुलोचना ने लौटाया, पर मेरे ख्याल में अच्छा किया।

कुँवर—तो यह कहो, तुम्हारा इशारा था। तुमने इन पतितों को अपनी ओर खींचने का कितना अच्छा अवसर हाथ से खो दिया है! सुलोचना को देखकर जो कुछ असर पड़ा, वह तुमने मिटा दिया। बहुत संभव था कि एक प्रतिष्ठित आदमी से नाता रखने का अभिमान उसके जीवन में एक नये युग का आरंभ करता; मगर तुमने इन बातों पर ज़रा भी ध्यान न दिया।

रामेंद्र ने कोई जवाब न दिया। कुँवर साहब ज़रा उत्तेजित होकर बोले—आप लोग यह क्यों भूल जाते हैं कि हरेक बुराई मजबूरी से होती है। चोर इसलिए चोरी नहीं करता कि चोरी में उसे विशेष आनंद आता है; बल्कि केवल इसलिए कि ज़रूरत उसे मजबूर करती है। हाँ, वह ज़रूरत वास्तविक है या काल्पनिक इसमें मतभेद हो सकता है। स्त्री के मैके जाते समय कोई गहना बनवाना एक आदमी के लिए ज़रूरी हो सकता है, दूसरे के लिए बिलकुल ग़ैरज़रूरी। क्षुधा से व्यथित होकर एक आदमी अपना ईमान खो सकता है, दूसरा मर जायगा; पर किसी के सामने हाथ न फैलायेगा; पर प्रकृति का यह नियम आप जैसे विद्वानों को न भूलना चाहिए कि जीवन-लालसा प्राणीमात्र में व्यापक है। ज़िंदा रहने के लिए आदमी सब कुछ कर सकता है। ज़िंदा रहना जितना ही कठिन होगा, बुराइयाँ भी उसी मात्रा में बढ़ेंगी, जितना ही आसान होगा उतनी ही बुराइयाँ कम होंगी। हमारा यह पहला सिद्धांत होना चाहिए कि ज़िंदा रहना हरेक के लिए सुलभ हो। रामेंद्र बाबू, आप ने इस वक्त इन लोगों के साथ वही व्यवहार किया, जो दूसरे आप के साथ कर रहे हैं और जिससे आप बहुत दुःखी हैं।

रामेंद्र ने इस लंबे व्याख्यान को इस तरह सुना, जैसे कोई पागल बक रहा हो। इस तरह की दलीलों का वह ख़ुद कितनी ही बार समर्थन कर चुके थे; पर दलीलों से व्यथित अंग की पीड़ा नहीं शांत होती। पतित स्त्रियों का नातेदार की हैसियत से द्वार पर आना इतना अपमानजनक था कि रामेंद्र किसी दलील से पराभूत होकर उसे भूल न सकते थे। बोले—मैं ऐसे प्राणियों से कोई संबंध नहीं रखना चाहता। यह विष अपने घर में नहीं फैलाना चाहता।

सहसा सुलोचना भी कमरे में आ गई। प्रसवकाल का असर अभी बाकी था; पर उत्तेजना ने चेहरे को आरक्त कर रखा था। रामेंद्र सुलोचना को

देखकर और तेज हो गये। वह उसे जता देना चाहते थे, कि इस विषय में मैं एक रेखा तक जा सकता हूँ, उसके आगे किसी तरह नही जा सकता। बोले—मैं यह कभी पसद न करूँगा कि कोई बाजारी औरत किसी वक्त और किसी भेष में मेरे घर आये। रात को अकेले या सूरत बदलकर आने से इस बुराई का असर नहीं मिट सकता। मै समाज के दड से नहीं डरता, इस नैतिक विष से डरता हूँ।

सुलोचना अपने विचार मे मर्यादा-रक्षा के लिए काफी आत्मसमर्पण कर चुकी थी। उसकी आत्मा ने अभी तक उसे क्षमा न किया था। तीव्र स्वर में बोली—क्या तुम चाहते हो कि मै इस क़ैद मे अकेले जान दे दूँ ? कोई तो हो जिससे आदमी हँसे, बोले!

रामेंद्र ने गर्म होकर कहा—हँसने-बोलने का इतना शौक़ था, तो मेरे साथ विवाह न करना चाहिए था। विवाह का बधन बड़ी हद तक त्याग का बधन है। जब तक ससार मे इस विधान का राज्य है, और स्त्री कुलमर्यादा की रक्षक समझी जाती है, उस वक्त तक कोई मर्द यह स्वीकार न करेगा कि उसकी पत्नी बुरे आचरण के प्राणियों से किसी प्रकार का ससर्ग रक्खे।

कुँवर साहब समझ गये कि इस वाद-विवाद से रामेंद्र और भी जिद पकड़ लेंगे, और मुख्य विषय लुप्त हो जायगा, इसलिये नम्र स्वर मे बोले—लेकिन बेटा, यह क्यों ख़्याल करते हो कि एक ऊँचे दरजे की पढ़ी लिखी स्त्री दूसरों के प्रभाव मे आ जायगी, अपना प्रभाव न डालेगी?

रामेंद्र—इस विषय मे शिक्षा पर मेरा विश्वास नहीं। शिक्षा ऐसी कितने बातो को मानती है, जो रीति-नीति और परपरा की दृष्टि से त्याज्य है। अगर पाँव फिसल जाय तो हम उसे काटकर फेंक नहीं देते, पर मैं इस analogy के सामने सिर झुकाने को तैयार नहीं हूँ। मै स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि मेरे साथ रहकर पुराने सबधी का त्याग करना पड़ेगा! इतना ही नहीं, मन तो ऐसा बना लेना पड़ेगा कि ऐसे लोगों से उसे ख़ुद घृणा हो। हमें इस तरह अपना सस्कार करना पड़ेगा कि समाज अपने अन्याय पर लज्जित हो, न यह कि हमारे आचरण ऐसे भ्रष्ट हो जायँ कि दूसरों की निगाह में,यह तिरस्कार औचित्य का स्थान पा जाय।

सुलोचना ने उद्धत होकर कहा—स्त्री इसके लिए मजबूर नही है कि वह आपकी आँखों से देखे और आपके कानों से सुने। उसे यह निश्चय करने का अधिकार है कि कौन-सी चीज़ उसके हित की है, कौन सी नहीं।

कुँवर साहब भयभीत होकर बोले—सिल्लो, तुम भूली जाती हो कि बातचीत मे हमेशा मुलायम शब्दो का व्यवहार करना चाहिए। हम झगड़ा नहीं कर रहे हैं, केवल एक प्रश्न पर अपने अपने विचार प्रकट कर रहे हैं।

सुलोचना ने निर्भीकता से कहा—जी नहीं, मेरे लिए बेड़ियाँ तैयार की जा रही हैं। मैं इन बेड़ियो को नहीं पहन सकती। मैं अपनी आत्मा को उतना ही स्वाधीन समझती हूँ, जितना कोई मर्द समझता है।

रामेंद्र ने अपनी कठोरता पर कुछ लज्जित होकर कहा—मैंने तुम्हारी आत्मा की स्वाधीनता को छीनने की कभी इच्छा नहीं की। और न मैं इतना विचारहीन हूँ। शायद तुम भी इसका समर्थन करोगी; लेकिन क्या तुम्हें विपरीत मार्ग पर चलते देखूँ, तो मैं समझा भी नहीं सकता?

सुलोचना—उसी तरह, जैसे मै तुम्हे समझा सकती हूँ। तुम मुझे मजबूर नही कर सकते।

रामेंद्र—मैं इसे नहीं मान सकता।

सुलोचना—अगर मैं अपने किसी नातेदार से मिलने जाऊँ, तो आपकी इज्जत में बट्टा लगता है। क्या इसी तरह आप यह स्वीकार करेंगे कि आपका व्यभिचारियों से मिलना जुलना मेरी इज्ज़त में दाग़ लगाता है?

रामेंद्र—हाँ, मै यह मानता हूँ।

सुलोचना—आपका कोई व्यभिचारी भाई आ जाय, तो आप उसे दरवाज़े से भगा देंगे?

रामेंद्र—तुम मुझे इसके लिए मजबूर नहीं कर सकतीं।

सुलोचना—और आप मुझे मजबूर कर सकते हैं?

'बेशक।'

'क्यों?'

'इसी लिए कि मैं पुरुष हूँ, इस छोटे से परिवार का मुख्य अंग हूँ। इसी लिए कि तुम्हारे ही कारण मुझे ..रामेंद्र कहते कहते रुक गये; पर सुलोचना

उनके मुँह से निकलनेवाले शब्दों को ताड़ गई । उसका चेहरा तमतमा उठा, मानो छाती मे बरछी सी लग गई । मन मे ऐसा उद्वेग उठा कि इसी क्षण यह घर छोड़कर, सारी दुनिया से नाता तोड़कर चली जाऊँ और फिर इन्हें कभी मुँह न दिखाऊँ । अगर इसी का नाम विवाह है कि किसी की मर्जी की गुलाम होकर रहूँ, अपमान सहन करूँ, तो ऐसे विवाह को दूर ही से सलाम है।

वह तैश मे आकर कमरे से निकलना चाहती थी कि कुँवर साहब ने लपककर उसे पकड लिया और बोले—क्या करती हो बेटी, घर मे जाओ, क्यो रोती हो ? अभी तो मै जीता हूँ, तुम्हें क्या ग़म है ! रामेंद्र बाबू ने कोई ऐसी बात नहीं कही और न कहना चाहते थे । फिर आपस की बातों का क्या बुरा मानना, किसी अवसर पर तुम भी जो जी मे आवे कह लेना ।

यो समझाते हुए कुँवर साहब उसे अदर ले गये । वास्तव में सुलोचना कभी गुलनार से मिलने की इच्छुक न थी । वह उससे स्वय भागती थी। एक क्षणिक आवेश में उसने गुलनार को वह पुरजा लिख दिया था। मन में स्वय समझती थी, कि इन लोगों से मेल-जोल रखना मुनासिब नहीं ; लेकिन रामेंद्र ने यह विरोध किया, यही उसके लिए असह्य था। यह मुझे मना क्यों करे ? क्या मैं इतना भी नहीं समझती ? क्या इन्हें मेरी ओर से इतनी शका है ? इसीलिए तों, कि मैं कुलीन नहीं हूँ !

मैं अभी-अभी गुलनार से मिलने जाऊँगी, ज़िद्‌न जाऊँगी , देखूँ मेरा क्या करते हैं ।

लाड़-प्यार में पली हुई सुलोचना को कभी किसी ने तीखी आँखों से न देखा था । कुँवर साहब उसकी मर्ज़ी के गुलाम थे । रामेंद्र भी इतने दिनों उसका मुँह जोहते रहे । आज अकस्मात् यह तिरस्कार और फटकार पाकर उसकी स्वेच्छा प्रेम और आत्मीयता के सारे नातों को पैरो से कुचल डालने के लिए विकल हो उठी । वह सब कुछ सह लेगी ; पर यह धौंस, यह अन्याय यह अपमान, उससे न सहा जायगा ।

उसने खिड़की से सिर निकालकर कोचवान !को पुकारा और बोली—गाड़ी लाओ, मुझे चौक जाना है, अभी लाओं ।

कुँवर साहब ने चुमकारकर कहा—बेटी सिल्लो, क्या कर रही हो, मेरे ऊपर

दया करो। इस वक्त कहीं मत जाओ, नहीं हमेशा के लिए पछताना पड़ेगा। रामेंद्र बाबू भी बड़े ग़ुस्सेवर आदमी हैं। फिर तुमसे बड़े हैं, ज़्यादा विचार-वान हैं, उन्हीं का कहना मान जाओ। मैं तुमसे सच कहता हूँ। तुम्हारी मा जब थीं, तो कई बार ऐसी नौबत आई कि मैंने उससे कहा—घर से निकल जाओ; पर उस प्रेम की देवी ने कभी ड्योढ़ी के बाहर पाँव नहीं निकाला। इस वक्त धैर्य से काम लो। मुझे विश्वास है, ज़रा देर में रामेंद्र बाबू ख़ुद लज्जित होकर तुम्हारे पास अपना अपराध क्षमा कराने आयें।

सहसा रामेंद्र ने आकर पूछा—गाड़ी क्यों मँगवाई? कहाँ जा रही हो?

रामेंद्र का चेहरा इतना क्रोधोन्मत्त हो रहा था, कि सुलोचना सहम उठी। दोनों आँखों से ज्वाला-सी निकल रही रही थी। नथने फड़क रहे थे। पिंडलियाँ काँप रही थीं। यह कहने की हिम्मत न पड़ी कि गुलनार के घर जाती हूँ। गुलनार का नाम सुनते ही शायद यह मेरी गर्दन पर सवार हो जायँगे—इस भय से वह काँप उठी। आत्मरक्षा का भाव प्रबल हो गया। बोली—ज़रा अम्माँ के मज़ार तक जाऊँगी।

रामेंद्र ने डाटकर कहा—कोई ज़रूरत नहीं वहाँ जाने की।

सुलोचना ने कातर स्वर मे कहा—क्यों अम्मा के मज़ार तक जाने की भी रोक है? रामेंद्र ने उसी ध्वनि मे कहा—हाँ।

सुलोचना—तो फिर अपना घर सम्हालो, मैं जाती हूँ।

रामेंद्र—जाओ, तुम्हारे लिए क्या, यह न सही दूसरा घर सही!

अभी तक तस्मा बाक़ी था, वह भी कट गया। यों शायद सुलोचना वहाँ से कुँअर साहब के बँगले पर जाती, दो-चार दिन रूठी रहती, फिर रामेंद्र उसे मना लाते और मामला तै हो जाता; लेकिन इस चोट ने समझौते और संधि की जड़ काट दी। सुलोचना दरवाजे तक पहुँची थीं, वहीं चित्र-लिखित-सी खड़ी रह गई। मानो किसी ऋषि के शाप ने उसके प्राण खींच लिये हो। वहीं बैठ गई। न कुछ बोल सकी, न कुछ सोच सकी। जिसके सिर पर बिलली गिर पड़ी हो, वह क्या सोचे, क्या रोये, क्या बोले। रामेंद्र के यह शब्द बिजली से कहीं अधिक घातक थे।

सुलोचना कब तक वहाँ बैठी रही, उसे कुछ ख़बर न थी। जब उसे कुछ

होश आया, तो घर में सन्नाटा छाया हुआ था। घड़ी की तरफ़ आँख उठी, एक बज रहा था। सामने आराम कुर्सी पर कुँवर साहब नवजात शिशु को गोद में लिये सो गये थे। सुलोचना ने उठकर बरामदे में झाँका, रामेंद्र अपने पलंग पर लेटे हुए थे। उसके जी में आया, इसी वक्त इन्हीं के सामने जाकर कलेजे में छुरी मार लूँ और इन्हीं के सामने तड़प तड़पकर मर जाऊँ। वह घातक शब्द याद आ गये। इनके मुँह से ऐसे शब्द निकले क्योंकर। इतने चतुर, इतने उदार और इतने विचारशील होकर भी वह ज़बान पर ऐसे शब्द क्योंकर ला सके।

उसका सारा सतीत्व, भारतीय आदर्शों की गोद में पली हुई, भूमि पर आहत पड़ी हुई, अपनी दीनता पर रो रहा था। वह सोच रही थी, अगर मेरे नाम पर यह दाग़ न होता, मैं भी कुलीन होती, तो क्या यह शब्द इनके मुँह से निकल सकते थे? लेकिन मैं बदनाम हूँ, दलित हूँ, त्याज्य हूँ, मुझे सब कुछ कहा जा सकता है। उफ़ इतना कठोर हृदय! क्या वह किसी दशा से भी रामेंद्र पर इतना कठोर प्रहार कर सकती थी?

बरामदे में बिजली की रोशनी थी। रामेंद्र के मुख पर क्षोभ या ग्लानि का नाम भी न था। क्रोध की कठोरता अब तक उनके मुख को विकृत किये हुए थी। शायद इन आँखों मे आँसू देखकर अब भी सुलोचना के आहत हृदय को तसकीन होती, लेकिन वहाँ तो अभी तक तलवार खिंची हुई थी। उसकी आँखों मे सारा संसार सूना हो गया।

सुलोचना फिर अपने कमरे में आई। कुँवर साहब की आँखें अब भी बंद थीं। इन चंद घंटों ही मे उनका तेजस्वी मुख कान्तिहीन हो गया था। गालों पर आँसुओं की रेखाएँ सूख गई थीं। सुलोचना ने उनके पैरों के पास बैठकर सच्ची भक्ति के आँसू बहाये। हाय! मुझ अभागिनी के लिए इन्होंने कौन-कौन से कष्ट नहीं झेले, कौन-कौन से अपमान नहीं सहे, अपना सारा जीवन ही मुझ पर अर्पण कर दिया और उसका यह हृदय-विदारक अंत।

सुलोचना ने फिर बच्ची को देखा, मगर उसका गुलाब का-सा विकसित मुख देखकर भी उसके हृदय में ममता की तरंग न उठी। उसने उसकी तरफ

से मुँह फेर लिया। यही उस अपमान की मूर्तिमान वेदना है, जो इतने दिनों मुझे भोगनी पड़ी। मैं इसके लिए क्यों अपने प्राण सकट में डालूँ। अगर उसके निर्दयी पिता को उसका प्रेम है, तो उसको पाले। और एक दिन भी उसी तरह रोवे, जिस तरह आज मेरे पिता को रोना पड़ रहा है। ईश्वर अबकी अगर जन्म देना, तो किसी भले आदमी के घर जन्म देना...

जहाँ ज़ुहरा का मज़ार था उसी के बग़ल मे एक दूसरा मज़ार बना हुआ है। ज़ुहरा के मज़ार पर घास जम आई है, जगह-जगह से चूना गिर गया है; लेकिन दूसरा मज़ार बहुत साफ-सुथरा और सजा हुआ है। उसके चारों तरफ गमले रखे हुए हैं और मज़ार तक जाने के लिए गुलाब के बेलो की रविशें बनी हुई हैं।

शाम हो गई है। सूर्य की क्षीण, उदास, पीली किरणें मानो उस मज़ार पर आँसू बहा रही हैं। एक आदमी एक तीन-चार साल की बालिका को गोद में लिये हुए आया और उस मज़ार को अपने रूमाल से साफ़ करने लगा। रविशो मे जो पत्तियाँ पड़ी थीं, उन्हें चुनकर साफ़ कीं और मज़ार पर सुगंध छिड़कने लगा। बालिका दौड़-दौड़कर तितलियों को पकड़ने लगी।

यह सुलोचना का मज़ार है। उसकी आख़िरी नसीहत थी, कि मेरी लाश जलाई न जाय, मेरो माँ की बग़ल में मुझे सुला दिया जाय। कुँवर साहब तो सुलोचना के बाद छः महीने से ज्यादा न चल सके। हाँ, रामेंद्र अपने अन्याय का पश्चात्ताप कर रहे हैं।

शोभा अब तीन साल की हो गई है और उसे विश्वास है कि एक-दिन उसकी माँ इसी मज़ार से निकलेगी!

ढपोरसंख

मुरादाबाद मे मेरे एक पुराने मित्र हैं, जिन्हे दिल में तो मैं एक रत्न समझता हूँ, पर पुकारता हूँ ढपोरसख कहकर और वह बुरा भी नहीं मानते। ईश्वर ने उन्हे जितना हृदय दिया है, उसकी आधी बुद्धि दी होती, तो आज वह कुछ और होते! उन्हें हमेशा तगदस्त ही देखा; मगर किसी के सामने कभी हाथ फैलाते नहीं देखा। हम और वह बहुत दिनों तक साथ पढ़े हैं, ख़ासी बेतकल्लुफी है; पर यह जानते हुए भी, कि मेरे लिए सौ-पचास रुपए से उनकी मदद करना कोई बड़ी बात नहीं और मैं बड़ी ख़ुशी से करूँगा, कभी मुझसे एक पाई के रवादार न हुए; अगर हीले से बच्चों को दो-चार रुपये दे देता हूँ, तो बिदा होते समय उसकी दुगनी रकम के मुरादाबादी बर-तन लादने पड़ते हैं। इसलिए मैंने यह नियम बना लिया है कि जब उनके पास जाता हूँ, तो एक दो दिन मे जितनी बड़ी से बड़ी चपत दे सकता हूँ, देता हूँ। मौसिम मे जो महँगी-से-महँगी चीज़ होती है, वही खाता हूँ। और माँग-माँगकर खाता हूँ, मगर दिल के ऐसे बेहया हैं, कि अगर एक बार भी उधर से निकल जाऊँ और उनसे न मिलूँ, तो बुरी तरह डाँट बताते हैं। इधर दो-तीन साल से मुलाकात न हुई थी। जी देखने को चाहता था। मई मे नैनीताल जाते हुए उनसे मिलने के लिए उतर पडा। छोटा-सा घर है, छोटा सा परिवार, छोटा-सा डील। द्वार पर आवाज दी—ढपोरसख! तुरत बाहर निकल आये और और गले से लिपट गये। ताँगे पर से मेरे ट्रक को उतारकर कधे पर रखा, बिस्तर बग़ल मे दबाया और घर मे दाख़िल हो गये। कहता हूँ, बिस्तर मुझे दे दो, मगर कौन सुनता है। भीतर क़दम रखा, तो देवीजी के दर्शन हुए। छोटे बच्चे ने आकर प्रणाम किया। बस, यही परिवार है।

कमरे में गया, तो देखा ख़तों का एक दफ्तर फैला हुआ है। ख़तों को सुरक्षित रखने की तो इनकी आदत नहीं। इतने ख़त किसके हैं। कुतूहल से पूछा—यह क्या कूड़ा फैला रखा है जी, समेटो।

देवी जी मुसकिराकर बोलीं—कूड़ा न कहिए, एक-एक पत्र साहित्य का रत्न है। आप तो इधर आये नहीं। इनके एक नये मित्र पैदा हो गये हैं। यह उन्हीं के कर-कमलों के प्रसाद हैं।

ढपोरसख ने अपनी नन्हीं-नन्हीं आँखे सिकोड़कर कहा—तुम उसके नाम से क्यो इतना जलती हो, मेरी समझ मे नहीं आता! अगर तुम्हारे-दो चार सौ रुपये उसपर आते हैं, तो उनका देनदार मैं हूँ। वह भी अभी जीता-जागता हैं। किसी को बेईमान क्यों समझती हो? यह क्यों नहीं समझतीं कि उसे अभी सुविधा नहीं है। और फिर दो-चार सौ रुपये एक मित्र के हाथों डूब ही जायँ, तो क्यों रोओ। माना हम ग़रीब हैं, दो-चार सौ रुपये हमारे दो-चार लाख से कम नहीं; लेकिन खाया तो एक मित्र ने!

देवीजी जितनी रूपवती थीं, उतनी ही ज़बान की तेज़ थीं। बोलीं—अगर ऐसों ही का नाम मित्र है, तों मै नहीं समझती, शत्रु किसे कहते हैं।

ढपोरसंख ने मेरी तरफ देखकर, मानो मुझसे हामी भराने के लिए कहा—औरतों का हृदय बहुत ही संकीर्ण होता है।

देवीजी नारी-जाति पर यह आक्षेप कैसे सह सकती थीं। आँखे तरेरकर बोलीं—यह क्यों नहीं कहते, कि उल्लू बनाकर ले गया, ऊपर से हेकड़ी जताते हो! दाल गिर जाने पर तुम्हें भी सूखा अच्छा लगे, तो कोई आश्चर्य नहीं। मैं जानती हूँ, रुपया हाथ का मैल है। यह भो समझती हूँ कि जिसके भाग्य का जितना होता है, उतना वह खाता है; मगर यह मैं कभी न मानूंगी, कि वह सज्जन था और आदर्शवादी था और यह था, वह था। साफ़-साफ क्यों नहीं कहते, लपट था, दग़ाबाज़ था! बस, मेरा तुमसे कोई झगड़ा नहीं।

ढपोरसख ने गर्म होकर कहा—मैं यह नहीं मान सकता। देवीजी भी गर्म होकर बोलीं—तुम्हें मानना पड़ेगा। महाशयजी आ गये हैं। मैं इन्हें पच बदती हूँ। अगर यह कह देंगे, कि सज्जनता का पुतला था, आदर्शवाला था, वीरात्मा था, तो मै मान लूँगी और फिर उसका नाम न लूँगी। और यद इनका फैसला मेरे अनुकूल हुआ, तो लाला तुम्हें इनको अपना बहनोई कहना पड़ेगा!

मैंने पूछा—मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा है, आप किसका जिक्र कर रही हैं? वह कौन था?

देवीजी ने आँखे नचाकर कहा—इन्हीं से पूछो, कौन था? इनका बहनोई था!

ढपोरसख ने झेपकर कहा—अजी, एक साहित्य-सेवी था—करुणाकर जोशी। बेचारा विपत्ति का मारा यहाँ आ पड़ा था। उस वक्त तो यह भी भैया-भैया करती थीं, हलवा बना बनाकर खिलाती थीं, उसकी विपत्ति-कथा सुनकर टेसवे बहाती थीं, और आज वह दग़ाबाज़ है, लपट है, लबार है!

देवीजी ने कहा—वह तुम्हारी ख़ातिर थी। मैं समझती थी, लेख लिखते हो व्याख्यान देते हो, साहित्य के मर्मज्ञ बनते हो, कुछ तो आदमी पहचानते होंगे; पर अब मालूम हो गया, कि कलम घिसना और बात है, मनुष्य की नाड़ी पहचानना और बात।

मैं इस जोशी का वृत्तात सुनने के लिए उत्सुक हो उठा। ढपोरसख तो अपना पचड़ा सुनाने को तैयार थे; मगर देवीजी ने कहा—खाने-पीने से निवृत्त होकर पचायत बैठे। मैंने भी इसे स्वीकार कर लिया।

देवीजी घर मे जाती हुई बोलीं—तुम्हे क़सम है जो अभी जोशी के बारे मे एक शब्द भी इनसे कहो। मै भोजन बनाकर जब तक खिला न लूँ, तब तक दोनों आदमियो पर दफा १४८ है।

ढपोरसंख ने आँखें मारकर कहा—तुम्हारा नमक खाकर यह तुम्हारी तरफदारी करेंगे ही!

बारे देवीजी के कानों में यह जुमला न पडा। धीमे स्वर मे कहा भी गया था, नहीं तो देवीजी ने कुछ-न-कुछ जवाब ज़रूर दिया होता। देवीजी चूल्हा जला चुकीं और ढपोरसख उनकी ओर से निश्चिंत हो गये, तो मुझसे बोले—जब तक वह रसोई में हैं, मै सक्षेप में तुम्हें वह वृत्तात सुना दूँ?

मैंने धर्म की आड लेकर कहा—नहीं भाई, मै पच बनाया गया हूँ, और इस विषय मे कुछ न सुनूँगा। उन्हें आ जाने दो।

'मुझे भय है, कि तुम उन्हीं का-सा फैसला कर दोगे और फिर वह मेरा घर में रहना अपाढ कर देंगी।'

मैंने ढाढ़स दिया—यह आप कैसे कह सकते हैं, मैं क्या फैसला करूँगा ?

'मैं तुम्हें जानता जो हूँ। तुम्हारी अदालत में औरत के सामने मर्द कभी जीत ही नहीं सकता।'

'तो क्या चाहते हो तुम्हारी डिग्री कर दूँ ?'

'क्या दोस्ती का इतना हक़ भी नहीं अदा कर सकते ?'

'अच्छा लो, तुम्हारी जीत होगी, चाहे गालियाँ ही क्यों न मिलें।'

खाते-पीते दोपहर हो गया। रात का जागा था। सोने की इच्छा हो रही थी ; पर देवीजी कब माननेवाली थीं। भोजन करके आ पहुँचीं। ढपोरसंख ने पत्रों का पुलिंदा समेटा और वृत्तांत सुनाने लगे।

देवीजी ने सावधान किया—एक शब्द भी झूठ बोले, तो जुर्माना होगा।

ढपोरसंख ने गंभीर होकर कहा—झूठ वह बोलता है, जिसका पक्ष निर्बल होता है। मुझे तो अपनी विजय का विश्वास है।

इसके बाद कथा शुरू हो गई—

'दो साल से ज्यादा हुए, एक दिन मेरे पास एक पत्र आया, जिसमें साहित्यसेवा के नाते एक ड्रामे की भूमिका लिखने की प्रेरणा की गई थी। यह करुणाकर का पत्र था। इस साहित्यक रीति से मेरा उनसे प्रथम परिचय हुआ। साहित्यकारों की इस ज़माने में जो दुर्दशा है, उसका अनुभव कर चुका हूँ, और करता रहता हूँ, और यदि भूमिका तक बात रहे, तो उनकी सेवा करने में पसोपेश नहीं होता। मैंने तुरंत जवाब दिया—आप ड्रामा भेज दीजिए। एक सप्ताह में ड्रामा आ गया ; पर अबके पत्र में भूमिका लिखने ही की नहीं, कोई प्रकाशक ठीक कर देने की भी प्रार्थना की गई थी। मैं प्रकाशकों के झँझट में नहीं पड़ता। दो-एक बार पड़कर कई मित्रों को जानी दुश्मन बना चुका हूँ। मैंने ड्रामे को पढ़ा, उस पर भूमिका लिखी और हस्तलिपि लौटा दी। ड्रामा मुझे सुंदर मालूम हुआ ; इसलिए भूमिका भी प्रशंसात्मक थी। कितनी ही पुस्तकों की भूमिका भी लिख चुका हूँ। कोई नई बात न थी ; पर अबकी भूमिका लिखकर पिंड न छूटा। एक सप्ताह के बाद एक लेख आया, कि इसे अपनी पत्रिका में प्रकाशित कर दीजिए। (ढपोरसंख एक पत्रिका के सम्पादक हैं) इसे गुण कहिए या दोष, मुझे दूसरों पर

विश्वास बहुत-जल्द आ जाता है। और जब किसी लेखक का मुआमला हो, तो मेरी विश्वास-क्रिया और भी तीव्र हो जाती है। मैं अपने एक मित्र को जानता हूँ, जो साहित्यवालों के साये से भागते हैं। वह खुद निपुण लेखक हैं, बड़े ही सज्जन हैं, बड़े ही ज़िंदा-दिल। अपनी शादी करके लौटने पर जब-जब रास्ते में मुझसे भेंट हुई, कहा—आपकी मिठाई रखी हुई है, भेजवा दूँगा; पर वह मिठाई आजतक न आई, हालाँकि अब ईश्वर की दया से विवाह-तरु में फल भी लग आये, लेकिन खैर, मैं साहित्य-सेवियों से इतना चौकन्ना नहीं रहता। इन पत्रों मे इतनी विनय, इतना आग्रह, इतनी भक्ति होती थी, कि मुझे जोशी से बिना साक्षात्कार के ही स्नेह हो गया। मालूम हुआ, एक बड़े बापका बेटा है, घर से इसलिए निर्वासित है, कि उसके चाचा दहेज की लम्बी रकम लेकर उसका विवाह करना चाहते थे, यह उसे मंजूर न हुआ। इसपर चाचा ने घर से निकाल दिया। बाप के पास गया। बाप आदर्श भायप-भक्त था। उसने चाचा के फैसले की अपील न सुनी। ऐसी दशा में सिद्धांत का मारा युवक सिवाय घर से बाहर निकल भागने के और क्या करता? यों वन-वन के पत्ते तोड़ता, द्वार-द्वार ठोकर खाता वह ग्वालियर आ गया था। उसपर मंदाग्नि का रोगी, जीर्ण ज्वर से ग्रस्त। आप ही बतलाइए, ऐसे आदमी से क्यों आपको सहानुभूति न होती? फिर जब एक आदमी आपको 'प्रिय भाई साहब लिखता है, अपने मनोरहस्य आपके सामने खोलकर रखता है, विपिति में भी धैर्य और पुरुषार्थ को हाथ से नहीं छोड़ता, कड़े से कड़ा परिश्रम करने को तैयार है, तो यदि आपमें सौजन्य का अणुमात्र भी है, तो आप उसकी मदद जरूर करेंगे।

अच्छा, अब फिर ड्रामे की तरफ आइए। कई दिनों बाद जोशी का पत्र प्रयाग से आया। वह वहाँ के एक मासिक-पत्रिका के सम्पादकीय विभाग में नौकर हो गया था। यह पत्र पाकर मुझे कितना संतोष और आनंद हुआ, कह नहीं सकता। कितना उद्यमशील आदमी है! उसके प्रति मेरा स्नेह और भी प्रगाढ़ हो गया। पत्रिका का स्वामी संपादक सख़्ती से
जरा सी देर हो जाने पर दिन-भर की मज़दूरी काट लेता
घुड़कियाँ जमाता था; पर यह सत्याग्रही वीर सब कुछ सह

में लगा रहता था। अपना भविष्य बनाने का ऐसा अवसर पाकर वह उसे कैसे छोड़ देता। यह सारी बातें स्नेह और विश्वास को बढ़ानेवाली थीं। एक आदमी को कठिनाइयों का सामना करते देखकर किसे उससे प्रेम न होगा! विश्वास न होगा, गर्व न होगा!

प्रयाग में वह ज़्यादा न ठहर सका। उसने मुझे लिखा, मैं सब कुछ झेलने को तैयार हूँ, भूखों मरने को तैयार हूँ, पर आत्मसम्मान में दाग़ नहीं लगा सकता, कुवचन नहीं सह सकता।

ऐसा चरित्र यदि आप पर प्रभाव न डाल सके, तो मैं कहूँगा, आप चालाक चाहे जितने हों; पर हृदय-शून्य हैं।

एक सप्ताह के बाद प्रयाग से फिर पत्र आया—यह व्यवहार मेरे लिए असह्य हो गया। आज मैंने इस्तीफा दे दिया। यह न समझिए, कि मैंने हलके दिल से लगी-लगाई रोज़ी छोड़ दी। मैंने वह सब किया, जो मुझे करना चाहिए था। यहाँ तक कि कुछ-कुछ वह भी किया, जो मुझे न करना चाहिए था; पर आत्मसम्मान का खून नहीं कर सकता। अगर यह कर सकता, तो मुझे घर छोड़कर निकलने की क्या आवश्यकता थी। मैंने बम्बई जाकर अपनी किस्मत आजमाने का निश्चय किया है। मेरा दृढ़ संकल्प है कि अपने घरवालों के सामने हाथ न फैलाऊँगा, उनसे दया की भिक्षा न मागूँगा। मुझे कुलीगरी करनी मंजूर है, टोकरी ढोना मंजूर है; पर अपनी आत्मा को कलंकित नहीं कर सकता।

मेरी श्रद्धा और बढ़ गई। यह व्यक्ति अब मेरे लिए केवल ड्रामा का चरित्र न था, जिसके सुख से सुखी और दुख से दुखी होने पर भी हम दर्शक ही रहते हैं। वह अब मेरे इतने निकट पहुँच गया था, कि उसपर आघात होते देखकर मै उसकी रक्षा करने को तैयार था, उसे डूबते देखकर पानी मे कूदने से भी न हिचकता।

मै बड़ी उत्कंठा से उसके बंबई से आनेवाले पत्र का इतज़ार करने लगा। छठवें ही दिन पत्र आया। वह बंबई मे काम खोज रहा था, लिखा था—घबड़ाने की कोई बात नहीं है, मै सब कुछ झेलने को तैयार हूँ। फिर दो-दो चार-चार दिन के अंतर से कई पत्र आये। वह वीरों की भाँति कठिनाइयों

के सामने कमर कसे खड़ा था, हालाँकि तीन दिन से उसे भोजन न मिला था।

ओह! कितना ऊँचा आदर्श है! कितना उज्ज्वल चरित्र! मैं समझता हूँ, मैंने उस समय बड़ी कृपणता की। मेरी आत्मा ने मुझे धिक्कारा—यह बेचारा इतने कष्ट उठा रहा है, और तुम बैठे देख रहे हो। क्यों उसके पास कुछ रुपये नहीं भेजते? मैंने आत्मा के कहने पर अमल न किया; पर अपनी बेदर्दी पर खिन्न अवश्य था।

जब कई दिन की बेचैनी भरे हुए इंतजार के बाद यह समाचार आया, कि वह एक साप्ताहिक पत्र के संपादकीय विभाग में जगह पा गया है, तो मैंने आराम की साँस ली और ईश्वर को सच्चे दिल से धन्यवाद दिया।

साप्ताहिक में जोशी के लेख निकलने लगे। उन्हें पढ़कर मुझे गर्व होता था। कितने सजीव, कितने विचार से भरे लेख थे। उसने मुझसे भी लेख माँगे; पर मुझे अवकाश न था। क्षमा माँगी, हालाँकि इस अवसर पर उसको प्रोत्साहन न देने पर मुझे बड़ा खेद होता था।

लेकिन शायद बाधाएँ हाथ धोकर उसके पीछे पड़ी थीं। पत्र के ग्राहक कम थे। चंदे और डोनेशन से काम चलता था। रुपये हाथ आ जाते, तो कर्मचारियों को थोड़ा-थोड़ा मिल जाता, नहीं आसरा लगाये काम करते रहते। इस दशा में ग़रीब ने तीन महीने काटे होंगे। आशा थी, तीन महीने का हिसाब होगा, तो अच्छी रकम हाथ लगेगी, मगर वहाँ सूखा जवाब मिला। स्वामी ने टाट उलट दिया, पत्र बंद हो गया और कर्मचारियों को अपना-सा मुँह लिये विदा होना पड़ा। स्वामी की सज्जनता में संदेह नहीं; लेकिन रुपये कहाँ से लाता! सज्जनता के नाते लोग आधे वेतन पर काम कर सकते थे, लेकिन पेट बाँधकर काम करना कब मुमकिन था। और फिर बंबई का खर्च। बेचारे जोशी को फिर ठोकरें खानी पड़ीं। मैंने खत पढ़ा, तो बहुत दुःख हुआ। ईश्वर ने मुझे इस योग्य न बनाया, नहीं बेचारा क्यों पेट के लिए यों मारा मारा फिरता!

बारे अबकी बहुत हैरान न होना पड़ा। किसी मिल में गाठों पर नंबर लिखने का काम मिल गया। एक रुपया रोज मजूरी थी। बंबई में एक

रुपया इधर के चार आने बराबर समझो। कैसे उसका काम चलता था, ईश्वर ही जाने।

कई दिन के बाद एक लंबा पत्र आया। एक जर्मन एजेंसी उसे रखने पर तैयारी थी; अगर वह तुरंत सौ रुपये की जमानत दे सके। एजेंसी यहाँ की फौजों में जूते, सिगार, साबुन आदि सप्लाई करने का काम करती थी। अगर यह जगह मिल जाती, तो उसके दिन आराम से कटने लगते। लिखा था, अब ज़िंदगी से तंग आ गया हूँ। हिम्मत ने जवाब दे दिया। आत्महत्या करने के सिवाय और कोई उपाय नहीं सूझता। केवल माताजी की चिंता है। रो रोकर प्राण दे देंगी। पिताजी के साथ उन्हें शारीरिक सुखों की कमी नहीं; पर मेरे लिए उनकी आत्मा तड़पती रहती है। मेरी यही अभिलाषा है, कि कहीं बैठने का ठिकाना मिल जाता, तो एक बार उन्हें अपने साथ रखकर उनकी जितनी सेवा हो सकती, करता। इसके सिवा मुझे कोई इच्छा नहीं है; लेकिन जमानत कहाँ से लाऊँ? बस, कल का दिन और है। परसों कोई दूसरा उम्मेदवार जमानत देकर यह ले लेगा और मैं ताकता रह जाऊँगा। एजेंट मुझे रखना चाहता है; लेकिन अपने कार्यालय के नियमों को क्या करे।

इस पत्र ने मेरी कृपण प्रकृति को भी वशीभूत कर लिया। इच्छा हो जाने पर कोई-न कोई राह निकल आती है। मैंने रुपये भेजने का निश्चय कर लिया। अगर इतनी मदद से एक युवक का जीवन सुधर रहा हो, तो कौन ऐसा है, जो मुँह छिपा ले। इससे बड़ा रुपयो का और क्या सदुपयोग हो सकता है। हिंदी कलम घिसनेवालो के पास इतनी बड़ी रक़म ज़रा मुश्किल ही से निकलती है; पर सयोग से उस वक्त मेरे कोष मे रुपए मौजूद थे। मैं इसके लिए अपनी कृपणता का ऋणी हूँ। देवीजी से सलाह की। वह बड़ी खुशी से राजी हो गईं, हालाँकि अब सारा दोष मेरे ही सिर मढा जाता है। कल रुपयों का पहुँचना आवश्यक था, नहीं तो अवसर हाथ से निकल जायगा। मनीआर्डर तीन दिन मे पहुँचेगा। तुरत तारघर गया और तार से रुपये भेज दिये। जिसने बरसों की कतर-ब्योंत के बाद इतने रुपये जोड़े हों और जिसे भविष्य भी अभावमय ही दीखता हो, वही उस आनद

का अनुभव कर सकता है, जो इस समय मुझे हुआ। सेठ अमीरचंद को दस लाख का दान करके भी इतना आनंद न हुआ होगा। दिया तो मैंने ऋण समझकर ही ; पर वह दोस्ती का ऋण था, जिसका अदा होना स्वप्न का यथार्थ होना है।

उस पत्र को मैं कभी न भूलूँगा, जो धन्यवाद के रूप में चौथे दिन मुझे मिला। कैसे सच्चे उद्गार थे ! एक-एक शब्द अनुग्रह में डूबा हुआ। मैं उसे साहित्य की एक चीज़ समझता हूँ।

देवीजी ने चुटकी ली—सौ रुपये में उससे बहुत अच्छा पत्र मिल सकता है।

ढपोरसंख ने कुछ जवाब न दिया। कथा कहने में तन्मय थे।

बंबई में वह किसी प्रसिद्ध स्थान पर ठहरा था। केवल नाम और पोस्ट-बॉक्स लिखने ही से उसे पत्र मिल जाता था। वहाँ से कई पत्र आये। वह प्रसन्न था।

देवीजी फिर बोलीं—प्रसन्न क्यों न होता, कपे में एक चिड़िया जो फँस गई थी।

ढपोरसंख ने चिढ़कर कहा—या तो मुझे कहने दो, या तुम कहो। बीच में बोलो मत।

बंबई से कई दिन के बाद एक पत्र आया कि एजेंसी ने उसके व्यवहार से प्रसन्न होकर उसे काशी में नियुक्त कर दिया है और वह काशी आ रहा है। उसे वेतन के उपरांत भत्ता भी मिलेगा। काशी में उसके एक मौसा थे, जो वहाँ के प्रसिद्ध डॉक्टर थे, पर वह उनके घर न उतरकर अलग ठहरा। इससे उसके आत्मसम्मान का पता चलता है ; मगर एक महीने में काशी से उसका जी भर गया। शिकायत से भरे पत्र आने लगे—सुबह से शाम तक फौजी आदमियों की ख़ुशामद करनी पड़ती है, सुबह का गया-गया दस बजे रात को घर आता हूँ, उस वक्त अकेला अँधेरा घर देखकर चित्त दुःख से भर जाता है, किससे बोलूँ किससे हँसूँ। बाज़ार की पूरियाँ खाते खाते तंग आ गया हूँ। मैंने समझा था, अब कुछ दिन चैन से कटेंगे, लेकिन मालूम होता है, अभी किस्मत में ठोकरें खाना लिखा है। मैं इस तरह जीवित नहीं रह सकता। रात-

रात भर पड़ा रोता रहता हूँ, आदि। मुझे इन पत्रों मे वह अपने आदर्श से गिरता हुआ मालूम हुआ। मैंने उसे समझाया, लगी रोज़ी न छोड़ो, काम किये जाओ। जवाब आया, मुझसे अब यहाँ नहीं रहा जाता। फ़ौजियों का व्यवहार असह्य है। फिर, मैनेजर साहब मुझे रंगून भेज रहे हैं और रंगून जाकर मैं बच नहीं सकता। मैं कोई साहित्यिक काम करना चाहता हूँ। कुछ दिन आपकी सेवा मे रहना चाहता हूँ।

मैं इस पत्र का जवाब देने जा ही रहा था, कि फिर पत्र आया। मैं कल देहरादून-एक्सप्रेस से आ रहा हूँ। दूसरे दिन वह आ पहुँचा। दुबला-सा आदमी, साँवला रंग, लंबा मुँह, बड़ी-बड़ी आँखे, अँग्रेज़ी वेश, साथ में कई चमड़े के ट्रक, एक सूटकेस, एक होल्डाल। मै तो उसका ठाट देखकर दंग रह गया।

देवीजी ने टिप्पणी की—फिर भी तो न चेते!

मैंने समझा था, गाढ़े का कुर्ता, चप्पल, ज्यादा-से-ज़्यादा फाउन्टेनपेन-वाला आदमी होगा; मगर यह महाशय तो पूरे साहब बहादुर निकले। मुझे इस छोटे-से घर मे उन्हें ठहराते हुए संकोच हुआ।

देवीजी से बिना बोले न रहा गया—आते ही श्री-चरणों पर सिर तो रख दिया, अब और क्या चाहते थे!

ढपोरसख अबकी मुसकिराये—देखो श्यामा, बीच बीच में टोको मत। अदालत की प्रतिष्ठा यह कहती है कि अभी चुपचाप सुनती जाओ। जब तुम्हारी बारी आये, तो जो चाहे, कहना।

फिर सिलसिला शुरू हुआ—था तो दुबला-पतला; मगर बड़ा फुर्तीला, बातचीत मे बड़ा चतुर, एक जुमला अंग्रेज़ी बोलता, एक जुमला हिंदी, और हिंदी भी अंग्रेज़ी की खिचड़ी, जैसे आप जैसे सभ्य लोग बोलते हैं। बात-चीत शुरू हुई—आपके दर्शनों की बड़ी इच्छा थी। मैंने जैसा अनुमान किया था, वैसा ही आपको देखा। बस, अब मालूम हो रहा है, कि मैं भी आदमी हूँ। इतने दिनो तक क़ैदी था।

मैने कहा—तो क्या इस्तीफा दे दिया?

'नहीं, अभी तो छुट्टी लेकर आया हूँ। अभी इस महीने का वेतन भी नहीं मिला। मैंने लिख दिया है, यहाँ के पते से भेज दे। नौकरी तो अच्छी है;

मगर काम बहुत करना पड़ता है और मुझे कुछ लिखने का अवसर नहीं मिलता।'

खैर, रात को तो मैंने इसी कमरे में उन्हें सुलाया। दूसरे दिन यहाँ के एक होटल मे प्रबंध कर दिया। होटलवाले पेशगी रुपये ले लेते हैं। जोशी के पास रुपये न थे। मुझे तीस रुपये देने पड़े। मैंने समझा, इसका वेतन तो आता ही होगा, ले लूँगा।

यहाँ मेरे एक माथुर मित्र हैं। उनसे भी मैंने जोशी का ज़िक्र किया था। उसके आने की खबर पाते ही होटल दौड़े। दोनो मे दोस्ती हो गई। जोशी दो-तीन बार दिन मे, एक बार रात को जरूर आते और खूब बाते करते। देवीजी उनको हाथों पर लिये रहतीं। कभी उनके लिए पकौड़ियाँ बन रही हैं, कभी हलवा। जोशी हरफनमौला था। गाने में कुशल, हारमोनियम में निपुण, इंद्रजाल के करतब दिखलाने में कुशल। सालन अच्छा पकाता था। देवीजी को गाना सीखने का शौक़ पैदा हो गया था। उसे म्यूज़िक मास्टर बना लिया।

देवीजी लाल मुँह करके बोलीं – तो क्या मुफ्त में हलवा, पकौड़ियाँ और पान बना बनाकर खिलाती थीं?

एक महीना गुज़र गया, पर जोशी का वेतन न आया। मैंने पूछा भी नहीं। सोचा, अपने दिल में समझेगा, अपने होटलवाले रुपयो का तक़ाजा कर रहे हैं। माथुर के घर भी उसने आना जाना शुरू कर दिया। दोनो साथ घूमने जाते; साथ रहते। जोशी जब आते, माथुर का बखान करते, माथुर जब आते, जोशी की तारीफ करते। जोशी के पास अपने अनुभवों का विशेष भण्डार था। वह फौज में रह चुका था। जब उसकी मॅगेतर का विवाह दूसरे आदमी से हो गया, तो शोक में उसने फौजी नौकरी छोड़ दी थी। सामरिक जीवन की न-जाने कितनीं ही घटनाएँ उसे याद थीं। और जब अपने मा बाप और चाचा-चाची का जिक्र करने लगता, तो उसकी आँखों में आँसू भर आते। देवीजी भी उसके साथ रोतीं।

देवीजी तिर्छी आँखों से देखकर रह गईं। बात सच्ची थी।

एक दिन मुझसे अपने एक ड्रामे की बड़ी तारीफ की। वह ड्रामा कलकत्ते

में खेला गया। और मदन कंपनी के मैनेजर ने उसे बधाइयाँ दी थीं। ड्रामे के दो-चार टुकड़े जो उसके पास पड़े थे, मुझे सुनाये। मुझे ड्रामा बहुत पसन्द आया। उसने काशी के एक प्रकाशक के हाथ वह ड्रामा बेच दिया था और कुल पचीस रुपये पर। मैंने कहा, उसे वापस मँगा लो। रुपये मैं दे दूँगा। ऐसी सुन्दर रचना किसी अच्छे प्रकाशक को देंगे, या किसी थियेटर कपनी से खेलवायेंगे। तीन-चार दिन के बाद मालूम हुआ कि प्रकाशक अब पचास रुपए लेकर लौटायेगा। कहता है, मै इसका कुछ अश छपा चुका हूँ। मैंने कहा, मँगा लो पचास रुपये ही सही। ड्रामा वी० पी० से वापस आया। मैंने पचास रुपये दे दिये।

महीना खत्म हो रहा था। होटलवाले दूसरा महीना शुरू होते ही रुपये पेशगी माँगेंगे। मैं इसी चिन्ता में था, कि जोशी ने आकर कहा—मैं अब माथुर के साथ रहूँगा। बेचारा गरीब आदमी है। अगर मै बीस रुपये भी दे दूँगा, तो उसका काम चल जायगा। मै बहुत ख़ुश हुआ। दूसरे दिन वह माथुर के घर डट गया।

अब आता, तो माथुर के घर का कोई-न-कोई रहस्य लेकर आता। यह तो मैं जानता था, कि माथुर की आर्थिक दशा अच्छी नहीं हैं। बेचारा रेलवे के दफ़्तर में नौकर था। वह नौकरी भी छूट गई थी ; मगर यह न मालूम था कि उसके यहाँ फाके हो रहे हैं। कभी मालिक मकान आकर गालियाँ सुना जाता है, कभी दूधवाला, कभी बनिया, कभी कपड़ेवाला। बेचारा उनसे मुँह छिपाता फिरता है। जोशी आँखो मे आँसू भर-भरकर उसके सकटों की करुण कहानी कहता और रोता। मैं तो जानता था, मैं ही एक आफत का मारा हूँ। माथुर की दशा देखकर मुझे अपनी विपत्ति भूल गई। मुझे अपनी ही चिन्ता है, कोई दूसरी फिक्र नहीं। जिसके द्वार पर जा पड़ूँ दो रोटियाँ मिल जायँगी ; मगर माथुर के पीछे तो पूरा खटला है। मा, दो विधवा बहनें, एक भाँजी, दो भाँजे, एक छोटा भाई। इतने बड़े परिवार के लिए पचास रुपये तो केवल रोटी-दाल के लिए चाहिए। माथुर सच्चा वीर है, देवता है, जो इतने बडे परिवार का पालन कर रहा है। वह अब अपने लिए नहीं, माथुर के लिए दुखी था।

देवीजी ने टीका की—जभी माथुर की भाँजी पर डोरे डाल रहा था। दुःख का भार कैसे हलका करता !

ढपोरसख ने बिगड़कर कहा—अच्छा, तो अब तुम्हीं कहो।

मैंने समझाया—तुम तो यार ज़रा-जरा सी बात पर तिनक उठते हो ! क्या तुम समझते हो, यह फुलझड़ियाँ मुझे न्याय-पथ से विचलित कर देंगी ?

फिर कहानी शुरू हुई—एक दिन आकर बोला—आज मैंने माथुर के उद्धार का उपाय सोच निकाला। मेरे एक माथुर मित्र बैरिस्टर हैं। उनसे जग्गो (माथुर की भाँजी) के विवाह के विषय में पत्र व्यवहार कर रहा हूँ। उसकी एक विधवा बहन को दोनों बच्चो के साथ ससुराल भेज दूँगा। दूसरी विधवा बहन अपने देवर के पास जाने पर राजी है। बस, तीन-चार आदमी रह जायँगे। कुछ मैं दूँगा, कुछ माथुर पैदा करेगा, गुजर हो जायगा , मगर आज उसके घर के दो महीनों का किराया देना पड़ेगा। मालिक मकान ने सुबह-ही से धरना दे रखा है। कहता है, अपना किराया लेकर ही हटूँगा। आपके पास तीस रुपये हो, तो दे दीजिए। माथुर के छोटे भाई का वेतन कल-परसों तक मिल जायगा, रुपये मिल जायँगे। एक मित्र सकट में पड़ा हुआ है। दूसरा मित्र उसकी सिफ़ारिश कर रहा है। मुझे इनकार करने का साहस न हुआ। देवीजी ने उस वक्त नाक भौ जरूर सिकोड़ा था, पर मैंने न माना। रुपये दे दिये।

देवीजी ने डक मारा— यह क्यों नहीं कहते, कि वह रुपये मेरी बहन ने बरतन ख़रीदकर भेजने के लिए भेजे थे।

ढपोरसख ने गुस्सा पीकर कहा— खैर, यही सही। मैंने रुपये दे दिये , मगर मुझे यह उलझन होने लगी, कि इस तरह तो मेरा कचूमर ही निकल जायगा। माथुर पर एक न-एक सकट रोज़ ही सवार रहेगा। मैं कहाँ तक उन्हें उबारूँगा। जोशी भी जान खा रहा था कि कहीं कोई जगह दिला दीजिए। सयोग से उन्हीं दिनो मेरे एक आगरे के मित्र आ निकले। काउ-सिल के मेंबर थे। अब जेल में हैं। गाने-बजाने का शौक़ है, दो-एक ड्रामे भी लिख चुके हैं, अच्छे-अच्छे रईसो से परिचय है। खुद भी बड़े रसिक हैं। अबकी वह आये, तो मैंने जोशी का उनसे ज़िक्र किया। उसका ड्रामा भी

सुनाया। बोले—तो उसे मेरे साथ कर दीजिए। अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बना लूँगा। मेरे घर में रहे, मेरे साथ घर के आदमी की तरह रहे। जेब-ख़र्च के लिए मुझसे तीस रुपये महीना लेता जाय। मेरे साथ ड्रामे लिखे। मैं फूला न समाया। जोशी से कहा। जोशी भी तैयार हो गया; लेकिन जाने के पहले उसे कुछ रुपयों की ज़रूरत हुई। एक भले आदमी के साथ फटेहालों तो जाते नहीं बनता और न यही उचित था, कि पहले ही दिन से रुपये का तकाजा होने लगे। बहुत काट-छाँट करने पर भी चालीस रुपये का ख़र्च निकल आया। जूते टूट गये थे। धोतियाँ फट गई थीं। और भी कई ख़र्च थे, जो इस वक्त याद नहीं आते। मेरे पास रुपये न थे। श्यामा से माँगने का हौसला न हुआ।

देवीजी बोलीं—मेरे पास तो कारूँ का ख़ज़ाना रखा था न! कई हज़ार महीने लाते हो, सौ-दो सौ रुपये बचत मे आ ही जाते होंगे।

ढपोरसंख इस व्यंग्य पर ध्यान न देकर अपनी कथा कहते रहे—रुपये पाकर जोशी ने ठाट बनाया और काउन्सिलर साहब के साथ चले। मैं स्टेशन तक पहुँचाने गया। माथुर भी था। लौटा, तो मेरे दिल पर से एक बोझ उतर गया था।

माथुर ने कहा—बड़ा मुहब्बती आदमी है।

मैने समर्थन किया—बड़ा। मुझे तो भाई-सा मालूम होता है।

'मुझे तो अब घर अच्छा न लगेगा। घर के सब आदमी रोते रहे। मालूम ही न होता था, कि कोई ग़ैर आदमी है। अम्मा से लड़के की तरह बातें करता था। बहनो से भाई की तरह।'

'बदनसीब आदमी है, नहीं, जिसका बाप दो हज़ार रुपये माहवारी कमाता हो, वह यों मारा-मारा फिरे।'

'दार्जिलिंग मे इनके बाप की दो कोठियाँ हैं।'

'आई० एम० एस० है!'

'जोशी मुझे भी वहीं ले जाना चाहता है। साल-दो-साल में तो वहाँ जायगा ही। कहता है, तुम्हें मोटर की एजेंसी खुलवा दूँगा।'

इस तरह ख़याली पुलाव पकाते हुए हम लोग घर आये।

मैं दिल में खुश था, कि चलो अच्छा हुआ, जोशी के लिए अच्छा सिलसिला निकल आया। मुझे यह आशा भी बँध चली, कि अबकी उसे वेतन मिलेगा, तो मेरे रुपये देगा। चार-पाँच महीने मे चुकता कर देगा। हिसाब लगाकर देखा, तो अच्छी ख़ासी रक़म हो गई थी। मैंने दिल में समझा, यह भी अच्छा ही हुआ। यों जमा करता, तो कभी न जमा होते। इस बहाने से किसी तरह जमा तो हो गये। मैंने यह सोचा कि अपने मित्र से जोशी के वेतन के रुपये पेशगी क्यों न ले लूँ, कह दूँ, उसके वेतन से महीने-महीने काटते रहिएगा।

लेकिन अभी मुश्किल से एक सप्ताह हुआ होगा कि एक दिन देखता हूँ, तो जोशी और माथुर, दोनों चले आ रहे हैं। मुझे भय हुआ, कहीं जोशीजी फिर तो नहीं छोड़ आये; लेकिन शंका को दबाता हुआ बोला—कहो भई, कब आये? मज़े मे तो हो?

जोशी ने बैठकर एक सिगार जलाते हुए कहा—बहुत अच्छी तरह हूँ। मेरे बाबू साहब बड़े ही सज्जन आदमी हैं। मेरे लिए अलग एक कमरा ख़ाली करा दिया है। साथ ही खिलाते हैं। बिलकुल भाई की तरह रखते हैं। आजकल किसी काम से दिल्ली गये हैं। मैंने सोचा, यहाँ पड़े-पड़े क्या करूँ, तब तक आप ही लोगों से मिलता आऊँ। चलते वक्त बाबू साहब ने मुझसे कहा था, मुरादाबाद से थोड़े-से बरतन लेते आना; मगर शायद उन्हें रुपये देने की याद नहीं रही। मैंने उस वक्त माँगना भी उचित न समझा। आप एक पचास रुपये दे दीजिएगा। मैं परसों तक जाऊँगा और वहाँ से जाते-ही-जाते भेजवा दूँगा। आप तो जानते हैं, रुपये के मुआमले में वे कितने खरे हैं।

मैंने ज़रा रुखाई के साथ कहा—रुपये तो इस वक्त मेरे पास नहीं हैं।

देवीजी ने टिप्पणी की—क्यों झूठ बोलते हो? तुमने रुखाई से कहा था, कि रुपये नहीं हैं?

ढपोरसख ने पूछा—और क्या चिकनाई के साथ कहा था?

देवीजी—तो फिर काग़ज़ के रुपये क्यो दे दिये थे? बड़ी रुखाई करनेवाले!

ढपोरसख—अच्छा साहब, मैंने हँसकर रुपये दे दिये। बस, अब खुश

हुईं। तो भई मुझे बुरा तो लगा; लेकिन अपने सज्जन मित्र का वास्ता था। मेरे ऊपर बेचारे बड़ी कृपा रखते हैं। मेरे पास पत्रिका का काग़ज़ ख़रीदने के लिए पचास रुपये रखे हुए थे। वह मैंने जोशी को दे दिये।

शाम को माथुर ने आकर कहा—जोशी तो चले गये। कहते थे, बाबू साहब का तार आ गया है। बड़ा उदार आदमी है। मालूम ही नहीं होता, कोई बाहरी आदमी है। स्वभाव भी बालकों का-सा है। भाँजी की शादी तय करने को कहते थे। लेन-देन का तो कोई ज़िक्र है ही नहीं; पर कुछ नजर तो देनी ही पड़ेगी। बैरिस्टर साहब, जिनसे विवाह हो रहा है, दिल्ली के रहने वाले हैं। उनके पास जाकर नज़र देनी होगी। जोशीजी चले जायँगे। आज मैंने रुपये भी दे दिये। चलिए एक बड़ी चिन्ता सिर-से टली।

मैंने पूछा—रुपये तो तुम्हारे पास न होंगे?

माथुर ने कहा—रुपये कहाँ थे साहब। एक महाजन से स्टाम्प लिखकर लिये, दो रुपये सैकड़े सूद पर।

देवीजी ने क्रोध भरे स्वर में कहा—मैं तो उस दुष्ट को पा जाऊँ तो मुँह नोच लूँ। पिशाच ने इस गरीब को भी न छोड़ा।

ढपोरसख बोला—यह क्रोध तो आपको अब आ रहा है न। तब तो आप भी समझती थी, कि जोशी दया और धर्म का पुतला है।

देवीजी ने विरोध किया—मैंने उसे पुतला-पुतली कभी नहीं समझा। हाँ तुम्हारी तकलीफों के भुलावे मे पड़ जाती थी।

ढपोरसख—तो साहब, इस तरह कोई दो महीने गुज़रे, इस बीच में भी जोशी दो-तीन बार आये; मगर मुझसे कुछ माँगा नहीं। हाँ, अपने बाबू साहब के सबंध में तरह तरह की बातें कीं, जिनसे मुझे दो-चार गल्प लिखने की सामग्री मिल गई।

मई का महीना था। एक दिन प्रातःकाल जोशी आ पहुँचे। मैंने पूछा, तो मालूम हुआ, उनके बाबू साहब नैनीताल चले गये। इन्हें भी लिये जाते थे; पर उन्होंने हम लोगों के साथ यहाँ रहना अच्छा समझा और चले आये।

देवीजी ने फुलझड़ी छोड़ी—कितना त्यागी था बेचारा। नैनीताल की बहार छोड़कर यहाँ गर्मी में प्राण देने चला आया।

ढपोरसखजी ने इसकी ओर कुछ ध्यान न देकर कहा—मैंने पूछा—कोई नई बात तो नहीं हुई वहाँ।

जोशी ने हँसकर कहा—मेरे भाग्य में तो नई-नई विपत्तियाँ लिखी हैं। उनसे कैसे जान बच सकती है। अबकी भी एक नई विपत्ति सिर पड़ी। यह कहिए आपका आशीर्वाद था, जान बच गई, नहीं तो अब तक जमुनाजी में बहा चला जाता होता। एक दिन जमुना किनारे सैर करने चला गया। वहाँ तैराकी का मैच था। बहुत से आदमी तमाशा देखने आये हुए थे। मैं भी एक जगह खड़ा होकर देखने लगा। मुझ से थोडी दूर पर एक और महाशय एक युवती के साथ खडे थे। मैंने बातचीत की, तो मालूम हुआ, मेरी ही बिरादरी के हैं। यह भी मालूम हुआ, मेरे पिता और चाचा, दोनो ही से उनका परिचय है। मुझसे स्नेह की बातें करने लगे—तुम्हें इस तरह ठोकरें खाते तो बहुत दिन हो गये; क्यों नहीं चले जाते, अपने मा बाप के पास। माना कि उनका लोक व्यवहार तुम्हें पसद नहीं; लेकिन माता-पिता का पुत्र पर कुछ-न-कुछ अधिकार तो होता ही है। तुम्हारी माताजी को कितना दुःख हो रहा होगा।

सहसा एक युवक किसी तरफ से आ निकला और वृद्ध महाशय तथा युवती को देखकर बोला—आपको शर्म नहीं आती कि आप अपनी युवती कन्या को इस तरह मेले में लिये खड़े हैं।

वृद्ध महाशय का मुँह ज़रा-सा निकल आया और युवती तुरत घूघट निकालकर पीछे हट गई। मालूम हुआ, कि उसका विवाह इसी युवक से ठहरा हुआ है। वृद्ध उदार, सामाजिक विचारों के आदमी थे। परदे के कायल न थे। युवक, वयस में युवक होकर भी खूसट विचारों का आदमी था, परदे का कट्टर पक्षपाती। वृद्ध थोड़ी देर तक तो अपराधी-भाव से बातें करते रहे; पर युवक प्रतिक्षण गर्म होता जाता था। आख़िर बूढ़े बाबा भी तेज़ हुए।

युवक ने आँखें निकालकर कहा—मैं ऐसी निर्लज्जा से विवाह करना अपने लिए अपमान की बात समझता हूँ।

वृद्ध ने क्रोध से काँपते हुए स्वर में कहा—और मैं तुम-जैसे लपट से अपनी कन्या का विवाह करना लज्जा की बात समझता हूँ।

युवक ने क्रोध के आवेश में वृद्ध का हाथ पकड़कर धक्का दिया। बातों से न जीतकर अब वह हाथों से काम लेना चाहता था। वृद्ध धक्का खाकर गिर पड़े। मैने लपककर इन्हें उठाया और युवक को डाँटा।

वह वृद्ध को छोड़कर मुझसे लिपट गया। मैं कोई कुस्तीबाज़ तो हूँ नहीं। वह लड़ना जानता था। मुझे उसने बात-की-बात मे गिरा दिया और मेरा गला दबाने लगा। कई आदमी जमा हो गये थे। जब तक कुश्ती होती रही, लोग कुश्ती का आनंद उठाते रहे; लेकिन जब देखा मुआमला सगीन हुआ चाहता है, तो तुरंत बीच-बचाव कर दिया। युवक बूढ़े बाबा से जाते-जाते कह गया—तुम अपनी लड़की को वेश्या बनाकर बाज़ार में घुमाना चाहते हो, तो अच्छी तरह घुमाओ, मुझे अब उससे विवाह नहीं करना है। वृद्ध चुपचाप खड़े थे और युवती रो रही थी। भाई साहब, तब मुझसे न रहा गया। मैंने कहा—महाशय, आप मेरे पिता के तुल्य हैं और मुझे जानते हैं। यदि आप मुझे इस योग्य समझें, तो मैं इन देवीजी को अपनी हृदयेश्वरी बनाकर अपने को धन्य समझूँगा। मैं जिस दशा में हूँ, आप देख रहे हैं। संभव है, मेरा जीवन इसी तरह कट जाय; लेकिन श्रद्धा, सेवा और प्रेम यदि जीवन को सुखी बना सकता है, तो मुझे विश्वास है, कि देवीजी के प्रति मुझमे इन भावों की कमी न रहेगी। बूढ़े बाबा ने गद्‌गद होकर मुझे कंठ से लगा लिया। उसी क्षण मुझे अपने घर ले गये, भोजन कराया और विवाह का सगुन कर दिया। मैं एक बार युवती से मिलकर उसकी सम्मति भी लेना चाहता था। बूढ़े बाबा ने मुझे इसकी सहर्ष अनुमति दे दी। युवती से मिलकर मुझे ज्ञात हुआ, कि वह रमणियों मे रत्न है। मैं उसकी बुद्धिमत्ता देखकर चकित हो गया। मैंने अपने मन में जिस सुंदरी की कल्पना की थी, वह उससे हू-बहू मिलती है। मुझे उतनी ही देर में विश्वास हो गया, कि मेरा जीवन उसके साथ सुखी होगा। मुझे अब आशीर्वाद दीजिए। युवती आपकी पत्रिका बराबर पढ़ती है और आपसे उसे बड़ी श्रद्धा है। जून में विवाह होना निश्चय हुआ है। मैंने स्पष्ट कह दिया—मैं जेवर-कपड़े नाम-मात्र को लाऊँगा, न कोई धूम-धाम ही करूँगा। वृद्ध ने कहा—मैं तो स्वयं यही कहनेवाला था। मैं कोई तैयारी नहीं चाहता, न धूम-धाम की मुझे इच्छा

है। जब मैंने आपका नाम लिया, कि वह मेरे बड़े भाई के तुल्य हैं, तो वह बहुत प्रसन्न हुए। आपके लेखों को वह बड़े आदर से देखते हैं।

मैंने कुछ खिन्न होकर कहा—यह तो सब कुछ है; लेकिन इस समय तुम्हें विवाह करने की सामर्थ्य भी नहीं है। और कुछ न हो, तो पचास रुपये की बँधी हुई आमदनी तो होनी ही चाहिए।

जोशी ने कहा—भाई साहब, मेरा उद्धार विवाह ही से होगा। मेरे घर से निकलने का कारण भी विवाह ही था और घर वापस जाने का कारण भी विवाह ही होगा। जिस समय प्रमिला हाथ बाँधे हुए जाकर पिताजी के चरणों पर गिर पड़ेगी, उनका पाषाण हृदय भी पिघल जायगा। समझेंगे, विवाह तो हो ही चुका, अब वधू पर क्यों ज़ुल्म किया जाय। जब उसे आश्रय मिल जायगा, तो मुझे झक-मारकर बुलायेंगे। मैं इसी ज़िद पर घर से निकला था, कि अपना विवाह अपने इच्छानुसार बिना कुछ लिये दिये करूँगा और वह मेरी प्रतिज्ञा पूरी हुई जा रही है। प्रमिला इतनी चतुर है, कि वह मेरे घरवालों को चुटकियों में मना लेगी। मैंने तख़मीना लगा लिया है। कुल तीन सौ रुपये ख़र्च होंगे और यही तीन-चार सौ रुपये मुझे ससुराल से मिलेंगे! मैंने सोचा है, प्रमिला को पहले यहीं लाऊँगा। यहीं से वह मेरे घर पत्र लिखेगी और आप देखिएगा तीसरे ही दिन चचा साहब गहनों की पिटारी लिये आ पहुँचेंगे। विवाह हो जाने पर वह कुछ नहीं कर सकते। इसलिए मैंने विवाह की ख़बर किसी को नहीं दी।

मैंने कहा—लेकिन मेरे पास तो अभी कुछ भी नहीं है भाई। मैं तीन सौ रुपये कहाँ से लाऊँगा?

जोशी ने कहा—तीन सौ रुपये नक़द थोड़े ही लगेंगे। कोई सौ रुपये के कपड़े लगेंगे। सौ रुपये की दो-एक सोहाग की चीज़ें बनवा लूँगा और सौ रुपये राह ख़र्च समझ लीजिए। उनका मकान काशीपुर में है। वहीं से विवाह करेंगे। यह बंगाली सोनार जो सामने है, आपके कहने से एक सप्ताह के वादे पर जो जो चीज़ें माँगूँगा, दे देगा। बज़ाज़ भी आपके कहने से दे देगा। नकद मुझे कुल सौ रुपये की ज़रूरत पड़ेगी और ज्यों ही उधर से लौटा त्यों ही दे दूँगा। बारात में आप और माथुर के सिवा कोई तीसरा

आदमी न होगा। आपको मैं कष्ट नहीं देना चाहता; लेकिन जिस तरह अब तक आपने मुझे भाई समझकर सहायता दी है, उसी तरह एक बार और दीजिए। मुझे विश्वास था, कि आप इस शुभ कार्य में आपत्ति न करेंगे। इसलिए मैंने वचन दे दिया। अब तो आपको यह डोंगी पार लगानी ही पड़ेगी।

देवीजी बोलीं—मैं कहती थी, उसे एक पैसा मत दो। कह दो, हम तुम्हारी शादी-विवाह के झंझट मे नहीं पड़ते।

ढपोरसख ने कहा—हाँ, तुमने अबकी बार ज़रूर समझाया; लेकिन मैं क्या करता। शादी का मुआमला, उस पर उसने मुझे भी घसीट लिया था, अपनी इज़्ज़त का कुछ ख़याल तो करना ही पड़ता है।

देवीजी ने मेरा लिहाज़ किया और चुप हो गईं।

अब मैं उस वृत्तान्त को न बढ़ाऊँगा। साराश यह है, कि जोशी ने ढपोरसंख के मत्थे सौ रुपये के कपड़े और सौ रुपये से कुछ ऊपर के गहनों का बोझ लादा। बेचारों ने एक मित्र से सौ रुपये उधार लेकर उनके सफरख़र्च को दिया। ख़ुद ब्याह में शरीक हुए। ब्याह मे ख़ासी धूम-धाम रही। कन्या के पिता ने मेहमानों का आदर-सत्कार ख़ूब किया। उन्हें जल्दी थी; इस लिए वह ख़ुद तो दूसरे ही दिन चले आये; पर माथुर जोशी के साथ विवाह के अंत तक रहा। ढपोरसख को आशा थी, कि जोशी ससुराल के रुपये पाते ही माथुर के हाथों भेज देगा, या ख़ुद लेता आयेगा; मगर माथुर भी दूसरे दिन आ गये, ख़ाली हाथ और यह खबर लाये, कि जोशी को ससुराल में कुछ भी हाथ नहीं लगा। माथुर से उन्हें अब मालूम हुआ कि लड़की से जमुना-तट पर मिलने की बात सर्वथा निर्मूल थी। इस लड़की से जोशी बहुत दिनों तक पत्र-व्यवहार कर रहा था। फिर तो ढपोरसख के कान खड़े हो गये। माथुर से पूछा—अच्छा! यह बिल्कुल कल्पना थी उसकी?

माजुर—जी हाँ।

ढपोर०—अच्छा, तुम्हारी भांजी के विवाह का क्या हुआ?

मथुरा—अभी तो कुछ नहीं हुआ।

ढपोर०—मगर जोशी ने कई महीने तक तुम्हारी सहायता तो खूब की !

माथुर—मेरी सहायता वह क्या करता। हाँ, दोनों जून भोजन भले कर लेता था।

ढपोर०—तुम्हारे नाम पर उसने मुझसे जो रुपए लिये थे, वह तो तुम्हें दिये होंगे ?

माथुर—क्या मेरे नाम पर भी कुछ रुपये लिये थे ?

ढपोर०—हाँ भाई, तुम्हारे घर का किराया देने के लिए तो ले गया था।

माथुर—सरासर बेईमानी। मुझे उसने एक पैसा भी नहीं दिया, उलटे और एक महाजन से मेरे नाम पर सौ रुपयो का स्टाम्प लिखकर रुपये लिये। मैं क्या जानता था, कि धोखा दे रहा है। सयोग से उसी वक्त आगरे के वह सज्जन आ गये, जिनके पास जोशी कुछ दिनों रहा था। उन्होंने माथुर को देखकर पूछा—अच्छा ! आप अभी जिंदा हैं। जोशी ने तो कहा था, माथुर मर गया है।

माथुर ने हँसकर कहा—मेरे तो सिर मे दर्द भी नहीं हुआ।

ढपोरसंख ने पूछा—अच्छा आपके मुरादाबादी बरतन तो पहुँच गये ?

आगरा-निवासी मित्र ने कुतूहल से पूछा—कैसे मुरादाबादी बरतन ?

'वही जो आपने जोशी की मारफत मँगवाये थे ?'

'मैंने कोई चीज़ उसकी मारफत नहीं मँगवाई। मुझे ज़रूरत होती तो आपको सीधा न लिखता ?'

माथुर ने हँसकर कहा—तो यह रुपये भी उसने हज़म कर लिये।

आगरा-निवासी मित्र बोले—मुझसे भी तो तुम्हारी मृत्यु के बहाने सौ रुपये लाया था। यह तो एक ही जालिया निकला। उफ ! कितना बड़ा चकमा दिया है इसने ! जिन्दगी मे यह पहला मौक़ा है, कि मैं यों बेवकूफ बना। बचा को पा जाऊँ, तो तीन साल को भेजवाऊँ। कहाँ है आजकल ?

माथुर ने कहा—अभी तो ससुराल में है।

ढपोरसख का वृत्तान्त समाप्त हो गया। जोशी ने उन्हीं को नहीं, माथुर-जैसे और ग़रीब आगरा-निवासी सज्जन जैसे घाघ को भी उलटे छुरे से मूड़ा और अगर भंडा न फूट गया होता, तो अभी न-जाने कितने दिनों तक मूड़ता।

उसकी इन मौलिक चालों पर मैं भी मुग्ध हो गया। बेशक! अपने फ़न का उस्ताद है, छटा हुआ गुर्गा।

देवीजी बोलीं—सुन ली आपने सारी कथा?

मैंने डरते-डरते कहा—हाँ, सुन तो ली।

'अच्छा, तो अब आपका क्या फैसला है? (पति की ओर इशारा करके) इन्होंने घोंघापन किया या नहीं? जिस आदमी को एक-एक पैसे के लिए दूसरों का मुँह ताकना पड़े, वह घर के पाँच-छः सौ रुपये इस तरह उड़ा दे, इसे आप उसकी सज्जनता कहेंगे या बेवकूफी? अगर इन्होंने यह समझकर रुपये दिये होते, कि पानी में फेंक रहा हूँ, तो मुझे कोई आपत्ति न थी; मगर यह बराबर इस धोखे में रहे और मुझे भी उसी धोखे में डालते रहे, कि वह घर का मालदार है और मेरे सब रुपये ही न लौटा देगा; बल्कि और भी कितने सलूक करेगा। जिसका बाप दो हज़ार रुपये महीना पाता हो, जिसके चाचा की आमदनी एक हज़ार मासिक हो और एक लाख की जायदाद घर में हो, वह और कुछ नहीं तो युरोप की सैर तो एक बार करा ही सकता था। मैं अगर कभी मना भी करती, तो आप बिगड़ जाते थे और उदारता का उपदेश देने लगते थे। यह मैं स्वीकार करती हूँ, कि शुरू में मैं भी धोखे में आ गई थी; मगर पीछे से मुझे उसका सन्देह होने लगा था। और विवाह के समय तो मैंने ज़ोर देकर कह दिया था, कि अब एक पाई भी न दूँगी। पूछिए झूठ कहती हूँ, या सच? फिर अगर मुझे धोखा हुआ, तो मैं घर में रहनेवाली स्त्री हूँ। मेरा धोखे में आ जाना क्षम्य है; मगर यह जो लेखक और विचारक और उपदेशक बनते हैं, यह क्यों धोखे में आये और जब मैं इन्हें समझाती थी; तो यह क्यों अपने को बुद्धिमत्ता का अवतार समझकर मेरी बातों की उपेक्षा करते थे? देखिए, रू-रिआयत न कीजिएगा, नहीं मैं बुरी तरह ख़बर लूँगी। मैं निष्पक्ष न्याय चाहती हूँ।'

ढपोरसंख ने दर्दनाक आँखों से मेरी तरफ देखा, जो मानो मान-भिक्षा माँग रही थीं। उसी के साथ देवीजी की आग्रह, आदेश और गर्व से भरी आँखे ताक रही थीं। एक को अपनी हार का विश्वास था, दूसरी को अपनी जीत का। एक रिआयत चाहती थी, दूसरी सच्चा न्याय।

मैंने कृत्रिम गम्भीरता से अपना निर्णय सुनाया—मेरे मित्र ने कुछ भावुकता से अवश्य काम लिया है ; पर उनकी सज्जनता निर्विवाद है।

ढपोरसख उछल पड़े और मेरे गले लिपट गये। देवीजी ने सगर्व नेत्रों से देखकर कहा—यह तो मै जानती ही थी, कि चोर-चोर मौसेरे भाई होंगे। तुम दोनो एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हो। अब तक रुपये में एक पाई मर्दों का विश्वास था। आज तुमने वह भी उठा दिया। आज निश्चय हुआ, कि पुरुष, छली, कपटी विश्वासघाती और स्वार्थी होते हैं। मैं इस निर्णय को नहीं मानती। मुफ्त में ईमान बिगाड़ना इसी को कहते हैं। भला मेरा पक्ष लेते, तो अच्छा भोजन मिलता ; उनका पक्ष लेकर आपको सड़े सिगरेटों के सिवा और क्या हाथ लगेगा। ख़ैर, हाँड़ी गई तो गई, कुत्ते की जात तो पहचानी गई।

उस दिन से दो-तीन बार देवीजी से भेंट हो चुकी है, और वही फटकार सुननी पड़ी है। वह न क्षमा चाहती हैं, न क्षमा कर सकती हैं।

डिमांसट्रेशन

महाशय गुरुप्रसादजी रसिक जीव हैं, गाने-बजाने का शौक़ है, खाने-खिलाने का शौक़ है और सैर-तमाशे का शौक़ है ; पर उसी मात्रा में द्रव्योपार्जन का शौक़ नहीं है। यों वह किसी के मुँहताज नहीं हैं, भले आदमियों की तरह रहते हैं और हैं भी भले आदमी ; मगर किसी काम में चिमट नहीं सकते। गुड़ होकर भी उनमें लस नहीं है। वह कोई ऐसा काम उठाना चाहते हैं, जिसमें चटपट क़ारूँ का ख़ज़ाना मिल जाय और हमेशा के लिए बेफ़िक्र हो जायँ। बैंक से छमाही सूद चला आये, खायें और मजे से पड़े रहें ; किसी ने सलाह दी, नाटक-कम्पनी खोलो। उनके दिल में भी बात जम गई। मित्रों को लिखा—मैं ड्रामेटिक कंपनी खोलने जा रहा हूँ, आप लोग ड्रामे लिखना शुरू कीजिए। कंपनी का प्रासपेक्टस बना, कई महीने उसकी खूब चर्चा रही, कई बड़े-बड़े आदमियों ने हिस्से ख़रीदने के वादे किये। लेकिन न हिस्से बिके, न कंपनी खड़ी हुई, हाँ इसी धुन में गुरुप्रसादजी ने एक नाटक की रचना कर डाली। और यह फ़िक्र हुई कि इसे किसी कंपनी को दिया जाय। लेकिन यह तो मालूम ही था, कंपनीवाले एक ही घाघ होते हैं। फिर हरेक कंपनी में उसका एक नाटककार भी होता है। वह कब चाहेगा कि उसकी कंपनी में किसी बाहरी आदमी का प्रवेश हो। वह इस रचना में तरह-तरह के ऐब निकालेगा और कंपनी के मालिक को भड़का देगा। इसलिए प्रबंध किया गया, कि मालिकों पर नाटक का कुछ ऐसा प्रभाव जमा दिया जाय कि नाटककार महोदय की कुछ दाल न गल सके। पाँच सज्जनों की एक कमेटी बनाई गई, उसमें सारा प्रोग्राम विस्तार के साथ तय किया गया और दूसरे दिन पाँचों सज्जन गुरुप्रसादजी के साथ नाटक दिखाने चले ! ताँगे आ गये। हारमोनियम तबला आदि सब उसपर रख दिये गये ; क्योंकि नाटक का डिमांसट्रेशन (demonstration) करना निश्चित हुआ था।

सहसा विनोदबिहारी ने कहा—यार, ताँगे पर जाने में तो कुछ बदरोबी

होगी। मालिक सोचेगा, यह महाशय यों ही हैं। इस समय दस-पाँच रुपये का मुँह न देखना चाहिए। मैं तो अँग्रेजी की विज्ञापनबाज़ी का क़ायल हूँ कि रुपये मे पद्रह आने उसमें लगाकर शेष एक आने में रोज़गार करते हैं। कहीं से दो मोटरें मँगानी चाहिए।

रसिकलाल बोले—लेकिन केराये की मोटरों से यह बात न पैदा होगी, जो आप चाहते हैं। किसी रईस से दो मोटरें माँगनी चाहिए, मारिस हो या नये चाल की आस्टिन।

बात सच्ची थी। भेख से भीख मिलती है। विचार होने लगा किस रईस से याचना की जाय। अजी वह महाखूसट है। सवेरे उसका नाम ले लो तो दिन भर पानी न मिले। अच्छा सेठजी के पास चले तो कैसा? मुँह धो रखिए, उसकी मोटरें अफसरों के लिए रिजर्व हैं, अपने लड़के तक को कभी बैठने नहीं देता, आपको दिये देता है। तो फिर कपूर साहब के पास चलें। अभी उन्होने नई मोटर ली है। अजी उसका नाम न लो। कोई-न-कोई बहाना करेगा, ड्राइवर नहीं है, मरम्मत मे है।

गुरुप्रसाद ने अधीर होकर कहा—तुम लोगों ने तो व्यर्थ का बखेड़ा कर दिया। ताँगों पर चलने में क्या हरज था।

विनोदबिहारी ने कहा—आप तो घास खा गये हैं। नाटक लिख लेना दूसरी बात है और मुआमले को पटाना दूसरी बात है। रुपये पृष्ठ सुना देगा, अपना-सा मुँह लेकर रह जाओगे।

अमरनाथ ने कहा—मैं तो समझता हूँ, मोटर के लिए किसी राजा-रईस की खुशामद करना बेकार है। तारीफ तो जब है कि पाँव पाँव चलें और वहाँ ऐसा ऐसा रग जमाये कि मोटर से भी ज्यादा शान रहे। विनोदबिहारी उछल पड़े। सब लोग पाँव-पाँव चले। वहाँ पहुँचकर किस तरह बातें शुरू होंगी, किस तरह तारीफों के पुल बाँधे जायँगे, किस तरह ड्रामेटिस्ट साहब को खुश किया जायगा, इसपर बहस होती जाती थी।

हम लोग कपनी के कैप में कोई दो बजे पहुँचे। वहाँ मालिक साहब, उनके ऐक्टर, नाटककार सब पहले ही से हमारा इतजार कर रहे थे। पान, इलायची, सिगरेट मँगा लिए गये थे।

ऊपर जाते ही रसिकलाल ने मालिक से कहा—क्षमा कीजिएगा, हमें आने मे देर हुई। हम मोटर से नहीं, पाँव-पाँव आये हैं। आज यही सलाह हुई कि प्रकृति की छटा का आनंद उठाते चले ; गुरुप्रसाद जी तो प्रकृति के उपासक हैं। इनका बस होता, तो आज चिमटा लिये या तो कहीं भीख माँगते होते, या किसी पहाड़ी गाँव में वटवृक्ष के नीचे बैठे पक्षियों का चहकना सुनते होते।

विनोद ने रद्दा जमाया—और आये भी तो सीधे रास्ते से नहीं, जाने कहाँ-कहाँ का चक्कर लगाते, खाक छानते। पैरों में जैसे सनीचर हैं।

अमर ने और रग जमाया—पूरे सतजुगी आदमी हैं। नौकर चाकर तो मोटरो पर सवार होते हैं और आप गली-गली मारे-मारे फिरते है। जब और रईस मीठी नींद के मजे लेते होते हैं, तो आप नदी के किनारे ऊषा का शृंगार देखते हैं। मस्तराम ने फरमाया—कवि होना, माने दीन-दुनिया से मुक्त हो जाना है। गुलाब ने ही युरोप के बड़े-बड़े कवियों को आसमान पर पहुँचा दिया है। युरोप में होते तो आज इनके द्वार पर हाथी झूमता होता। एक दिन एक बालक को रोते देखकर आप रोने लगे। पूछता हूँ—भई क्यों रोते हो, तो और रोते हैं। मुँह से आवाज़ नहीं निकलती। बड़ी मुश्किल से आवाज़ निकली।

विनोद—जनाब ! कवि का हृदय कोमल भावों का स्रोत है, मधुर सगीत का भडार है, अनंत का आईना है।

रसिक—क्या बात कही है आपने, अनत का आईना है ! वाह ! कवि की सोहबत में आप भी कुछ कवि हुए जा रहे हैं।

गुरुप्रसाद ने नम्रता से कहा—मै कवि नहीं हूँ और न मुझे कवि होने का दावा है। आप लोग मुझे जबरदस्ती कवि बनाये देते हैं। कवि स्रष्टा की वह अद्भुत रचना है जो पचभूतो की जगह नौ रसों से बनती है।

मस्तराम—आप का यही एक वाक्य है, जिसपर सैकड़ों कविताए न्यौछावर हैं। सुनी आपने रसिकलाल जी, कवि की महिमा। याद कर लीजिए, रट डालिए।

रसिकलाल—कहाँ तक याद करे, भैया, यह तो सूक्तियो में बातें करत

हैं और नम्रता का यह हाल है कि अपने को कुछ समझते ही नहीं। महानता का यही लक्षण है। जिसने अपने को कुछ समझा, वह गया। (कंपनी के स्वामी से) आप तो अब खुद ही सुनेंगे, ड्रामे में अपना हृदय निकालकर रख दिया है। कवियो में जो एक प्रकार का अल्हड़पन होता है, उसकी आप में कहीं गध भी नहीं। इस ड्रामे की सामग्री जमा करने के लिए आपने कुछ नहीं तो एक हज़ार बड़े-बड़े पोथो का अध्ययन किया होगा। वाजिद-अली शाह को स्वार्थी इतिहास-लेखकों ने कितना कलकित किया है, आप लोग जानते ही हैं। उस लेख-राशि को छाँटकर उसमें से सत्य के तत्त्व खोज निकालना आप ही का काम था!

विनोद—इसी लिए हम और आप दोनो कलकत्ते गये और वहाँ कोई ६ महीने मटियाबुर्ज की खाक छानते रहे। वाजिदअली शाह की हस्तलिखित एक पुस्तक की तलाश की। उसमे उन्होने खुद अपनी जीवन-चर्चा लिखी है। एक बुढ़िया की पूजा की गई तब कहीं जाके ६ महीने में किताब मिली।

अमरनाथ—पुस्तक नहीं रत्न है।

मस्तराम—उस वक्त तो उसकी दशा कोयले की थी, गुरुप्रसाद जी ने उसपर मोहर लगाकर अशर्फी बना दिया। ड्रामा ऐसा चाहिए कि जो सुने दिल हाथों से थाम ले। एक-एक वाक्य दिल में चुभ जायँ।

अमरनाथ—ससार साहित्य के सभी नाटकों को आपने चाट डाला और नाट्य-रचना पर सैकडो किताबे पढ़ डालीं।

विनोद—जभी तो चीज भी लासानी हुई है।

अमरनाथ—लाहौर ड्रामेटिक क्लब का मालिक हफ्ते भर यहाँ पड़ा रहा, पैरों पड़ा कि मुझे यह नाटक दे दीजिए; लेकिन आपने न दिया। जब ऐक्टर हीं अच्छे नहीं, तो उनसे अपना ड्रामा खेलवाना उसकी मिट्टी ख़राब करना था। इस कपनी के ऐक्टर माशाअल्लाह अपना जवाब नही रखते और इसके नाटककार की सारे ज़माने में धूम है। आप लोगों के हाथों में पड़कर यह ड्रामा धूम मचा देगा।

विनोद—एक तो लेखक साहब खुद शैतान से ज़्यादा मशहूर हैं, उस पर यहाँ के ऐक्टरों का नाट्य कौशल! शहर लुट जागा।

मस्तराम—रोज़ ही तो किसी-न-किसी कंपनी का आदमी सिर पर सवार रहता है ; मगर बाबू साहब किसी से सीधे मुँह बात नहीं करते।

विनोद—बस एक यह कंपनी है, जिसके तमाशों के लिए दिल बेक़रार रहता है, नहीं तो और जितने ड्रामे खेले जाते हैं दो कौड़ी के। मैंने तमाशा देखना ही छोड़ दिया।

गुरुप्रसाद—नाटक लिखना बच्चों का खेल नहीं है ; खूने जिगर पीना पड़ता है। मेरे ख़याल मे एक नाटक लिखने के लिए पाँच साल का समय भी काफी नहीं। बल्कि अच्छा ड्रामा ज़िंदगी में एक ही लिखा जा सकता है। यों कलम घिसना दूसरी बात है। बड़े-बड़े धुरंधर आलोचकों का यही निर्णय है कि आदमी ज़िंदगी मे एक ही नाटक लिख सकता है। रूस, फ्रांस, जर्मनी सभी देशों के ड्रामे पढ़े ; पर कोई न-कोई दोष सभी में मौजूद। किसी मे भाव है तो भाषा नहीं, भाषा है तो भाव नहीं। हास्य है तो गान नहीं, गान है तो हास्य नहीं। जब तक भाव, भाषा, हास्य और गान यह चारो अग पूरे हो, उसे ड्रामा कहना ही न चाहिए। मैं तो बहुत ही तुच्छ आदमी हूँ, कुछ आप लोगों की सोहबत में शुदबुद आ गया। मेरी रचना की हस्ती ही क्या। लेकिन ईश्वर ने चाहा, तो ऐसे दोष आपको न मिलेंगे।

विनोद—जब आप उस विषय के ममज्ञ हैं, तो दोष रह ही कैसे सकते हैं।

रसिकलाल—दस साल तक तो आपने केवल संगीत कला का अभ्यास किया है। घर के हज़ारों रुपये उस्तादों को भेंट कर दिये, फिर भी दोष रह जाय, तो दुर्भाग्य है।

रिहर्सल—

रिहर्सल शुरू और वाह ! वाह ! हाय ! हाय ! का तार बँधा। कोरस सुनते ही ऐक्टर और प्रोप्राइटर और नाटककार सभी मानो जाग पड़े। भूमिका ने उन्हें विशेष प्रभावित न किया था ; पर असली चीज़ सामने आते ही आँखे खुलीं। समाँ बँध गया। पहला सीन आया। आँखों के सामने वाजिद-अली शाह के दर्बार की तसवीर खिंच गई। दरबारियों की हाजिर-जवाबी और फड़कते हुए लतीफे ! वाह ! वाह ! *क्या कहना है ! क्या वाक्य-रचना* थी, क्या शब्द योजना थी; रसों का कितना सुरुचि से भरा हुआ समावेश था !

तीसरा दृश्य हास्यमय था। हँसते-हँसते लोगों की पसलियाँ दुखने लगीं, स्थूलकाय स्वामी की संयत अविचलता भी आसन से डिग गई। चौथा सीन करुणाजनक था। हास्य के बाद करुणा, आँधी के बाद आनेवाली शान्ति थी। विनोद आँखों पर हाथ रखे, सिर झुकाये, जैसे रो रहे थे। मस्तराम बार-बार ठंडी आहें खींच रहे थे और अमरनाथ बार-बार सिसकियाँ भर रहे थे। इसी तरह सीन-पर-सीन और अंक-पर-अंक समाप्त होते गये, यहाँ तक कि जब रिहर्सल समाप्त हुआ, तो दीपक जल चुके थे।

सेठजी अब तक सोंठ बने हुए बैठे थे। ड्रामा समाप्त हो गया; पर उनके मुखारविंद पर उनके मनोविचार का लेशमात्र भी आभास न था। जड़ भरत की तरह बैठे हुए थे, न मुसकिराहट थी, न कुतूहल, न हर्ष, न कुछ। विनोदविहारी ने मुआमले की बात पूछी—तो इस ड्रामा के बारे श्रीमान् की क्या राय है?

सेठजी ने उसी विरक्त भाव से उत्तर दिया—मैं इसके विषय में कल निवेदन करूँगा। कल यहीं भोजन भी कीजिएगा। आप लोगों के लायक भोजन तो क्या होगा, उसे केवल विदुर का साग समझकर स्वीकार कीजिए।

पंच पाडव बाहर निकले, तो मारे खुशी के सबकी बाछें खिली जाती थीं।

विनोद—पाँच हजार की थैली है। नाक-नाक बद सकता हूँ।

अमरनाथ—पाँच हज़ार है कि दस, यह तो नहीं कह सकता, पर रंग खूब जम गया।

रसिक—मेरा अनुमान तो चार हजार का है।

मस्तराम—और मेरा विश्वास है कि दस हज़ार से कम वह कहेगा ही नहीं। मैं तो सेठ के चेहरे की तरफ ध्यान से देख रहा था। आज ही कह देता, पर डरता था, कहीं ये लोग अस्वीकार न कर दें। उसके होंठों पर तो हँसी न थी, पर मगन हो रहा था।

गुरुप्रसाद—मैंने पढ़ा भी तो जी तोड़कर।

विनोद—ऐसा जान पड़ता था तुम्हारी वाणी पर सरस्वती बैठ गई हैं। सभों की आँखें खुल गईं।

रसिक—मुझे उसकी चुप्पी से ज़रा संदेह होता है।

अमर—आपके संदेह का क्या कहना। आपको ईश्वर पर भी संदेह है।

मस्त—ड्रामाटिस्ट भी बहुत ख़ुश हो रहा था। दस-बारह हज़ार का वारा-न्यारा है। भई, आज इस ख़ुशी में एक दावत होनी चाहिए।

गुरुप्रसाद—अरे, तो कुछ बोहनी-बट्टा तो हो जाय।

मस्त—जी नहीं, तब तो जलसा होगा। आज दावत होगी।

विनोद—भाग्य के बली हो तुम गुरुप्रसाद।

रसिक—मेरी राय है, ज़रा उस ड्रामाटिस्ट को गाँठ लिया जाय। उसका मौन मुझे भयभीत कर रहा है।

मस्त—आप तो वाही हुए हैं। वह नाक रगड़कर रह जाय, तब भी यह सौदा होकर रहेगा। सेठजी अब बचकर निकल नहीं सकते।

विनोद—हम लोगों की भूमिका भी तो ज़ोरदार थी।

अमर—उसी ने तो रंग जमा दिया। अब कोई छोटी रक़म कहने का उसे साहस न होगा।

अभिनय—

रात को गुरुप्रसाद के घर मित्रों की दावत हुई। दूसरे दिन कोई ६ बजे पाँचों आदमी सेठजी के पास जा पहुँचे। सध्या का समय हवाखोरी का है। आज मोटर पर न आने के लिए बना-बनाया बहाना था। सेठजी आज बेहद ख़ुश नज़र आते थे। कल की वह मुहर्रमी सूरत अतरधान हो गई थी। बात-बात पर चहकते थे, हँसते थे, जैसे लखनऊ का कोई रईस हो। दावत का सामान तैयार था। मेज़ों पर भोजन चुना जाने लगा। अँगूर, संतरे, केले, सूखे मेवे, कई किस्म की मिठाइयाँ, कई तरह के मुरब्बे, शराब आदि सजा दिये गये और यारो ने ख़ूब मज़े से दावत खाई। सेठजी मेहमाननेवाज़ी के पुतले बने हुए हरेक मेहमान के पास आ-आकर पूछते—कुछ और मँगवाऊँ? कुछ तो और लीजिए। आप लोगों के लायक़ भोजन यहाँ कहाँ बन सकता है।

भोजन के उपरांत लोग बैठे, तो मुआमले की बात चीत होने लगी। गुरुप्रसाद का हृदय आशा और भय से काँपने लगा।

सेठजी—हज़ूर ने बहुत ही सुदर नाटक लिखा है। क्या बात है।

ड्रामेटिस्ट—यहाँ जनता अच्छे ड्रामों की क़द्र नहीं करती, नहीं तो यह ड्रामा लाजवाब होता।

सेठजी—जनता क़द्र नहीं करती न करे, हमे जनता की बिलकुल परवाह नहो है, रत्ती बराबर परवाह नहीं है। मैं इसकी तैयारी में ५० हजार केवल बाबू साहब की खातिर से खर्च कर दूँगा। आपने इतनी मेहनत से एक चीज लिखी है, तो मैं उसका प्रचार भी उतने ही हौसले से करूँगा। हमारे साहित्य के लिए क्या यह कुछ कम सौभाग्य की बात है कि आप-जैसे महान् पुरुष इस क्षेत्र में आ गये। यह कीर्ति हुज़ूर को अमर बना देगी।

ड्रामेटिस्ट—मैंने तो ऐसा ड्रामा आज तक नहीं देखा। लिखता मैं भी हूँ, और लोग भी लिखते हैं। लेकिन आपकी उड़ान को कोई क्या पहुँचेगा! कहीं कहीं तो आपने शेक्सपियर को भी मात कर दिया है।

सेठजी— तो जनाब, जो चीज़ दिल की उमग से लिखी जाती है, वह ऐसी ही अद्वितीय होती है। शेक्सपियर ने जो कुछ लिखा, रुपये के लोभ से लिखा। हमारे दूसरे नाटककार भी धन ही के लिए लिखते हैं। उनमें वह बात कहाँ पैदा हो सकती है। गोसाईंजी की रामायण क्यों अमर है! इसी लिए कि वह भक्ति और प्रेम से प्रेरित होकर लिखी गई है। सादी की गुलिस्ताँ और बोस्ताँ, होमर की रचनाएँ, इसी लिए स्थायी हैं कि उन कवियो ने दिल की उमग से लिखा। जो उमग से लिखता है, वह एक-एक शब्द, एक एक वाक्य, एक-एक उक्ति पर महीनों खर्च कर देता है। धनेच्छु को तो एक काम जल्दी से समाप्त करके दूसरा काम शुरू करने की फ़िक्र होती है।

ड्रामेटिस्ट—आप बिल्कुल सत्य कह रहे हैं। हमारे साहित्य की अवनति केवल इसलिए हो रही है कि हम सब धन के लिए, या नाम के लिए लिखते हैं।

सेठजी—सोचिए, आपने दस साल केवल संगीतालय के लिए खर्च कर दिये। लाखों रुपये कलावंतों और गायकों को दे डाले होंगे। कहाँ-कहाँ से और कितने परिश्रम और खोज से इस नाटक की सामग्री एकत्र की। न जाने कितने राजों महाराजो को सुनाया। इस परिश्रम और लगन का पुरस्कार कौन दे सकता है।

ड्रामेटिस्ट—मुमकिन ही नहीं। ऐसी रचनाओं के पुरस्कार की कल्पना करना ही उनका अनादर करना है। इनका पुरस्कार यदि कुछ है, तो वह अपनी आत्मा का संतोष है, और वह संतोष आपके एक-एक शब्द से प्रकट होता है।

सेठजी—आपने बिल्कुल सत्य कहा कि ऐसी रचनाओं का पुरस्कार अपनी आत्मा का संतोष है। यश तो बहुधा ऐसी रचनाओं को मिल जाता है, जो साहित्य के कलक हैं। आपसे ड्रामा ले लीजिए और आज ही पार्ट भी तक़सीम कर दीजिए। तीन महीने के अदर इसे खेल डालना होगा। मेज़ पर ड्रामे की हस्तलिपि पड़ी हुई थी। ड्रामेटिस्ट ने उसे उठा लिया। गुरुप्रसाद ने दीन नेत्रों से विनोद की ओर देखा, विनोद ने अमर की ओर, अमर ने रसिक की ओर; पर शब्द किसी के मुँह से न निकला। सेठजी ने मानो सभी के मुँह सी दिये हों। ड्रामेटिस्ट साहब किताब लेकर चल दिये।

सेठजी ने मुस्किराकर कहा—हुज़ूर को थोड़ी-सी तकलीफ और करनी होगी। ड्रामा का रिहर्सल शुरू हो जायगा, तो आपको थोड़े दिनों कंपनी के साथ रहने का कष्ट उठाना पड़ेगा। हमारे ऐक्टर अधिकाश गुजराती हैं। वह हिंदी भाषा के शब्दो का शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकते। कहीं-कहीं शब्दों पर अनावश्यक ज़ोर देते हैं। अपनी निगरानी से यह सारी बुराइयाँ दूर हो जायँगी। ऐक्टरो ने यदि पार्ट अच्छा न किया, तो आपके सारे परिश्रम पर पानी पड़ जायगा। यह कहते हुए उसने लड़के को आवाज़ दी—बॉय! आप लोगों के लिए सिगार लाओ।

सिगार आ गया। सेठजी उठ खड़े हुए। यह मित्र-मडली के लिए बिदाई की सूचना थी। पाँचों सज्जन भी उठे। सेठजी आगे-आगे द्वार तक आये। फिर सबसे हाथ मिलाते हुए कहा—आज इस ग़रीब कपनी का तमाशा देख लीजिए। फिर यह संयोग न जाने कब प्राप्त हो।

गुरुप्रसाद ने मानो किसी क़ब्र के नीचे से कहा—हो सका तो आ जाऊँगा।

सड़क पर आकर पाँचो मित्र खड़े होकर एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। तब पाँचो ही ज़ोर से कहकहा मारकर हँस पड़े।

विनोद ने कहा—यह हम सब का गुरुघंटाल निकला।

अमर—साफ आँखों में धूल झोंक दी।

रसिक—मैं उसकी चुप्पी देखकर पहले ही से डर रहा था कि यह कोई पल्ले सिरे का घाघ है।

मस्त—मान गया इसकी खोपड़ी को। यह चपत उम्र भर न भूलेगी।

गुरुप्रसाद इस आलोचना में शरीक न हुए। वह इस तरह सिर झुकाये चले जा रहे थे, मानो अभी तक वह स्थिति को समझ ही न पाये हों।

अचकन पहने, तुर्की टोपी लगाये, ताँगे के सामने से निकले। दारोग़ाजी ने उन्हें देखते ही झुककर सलाम किया और शायद मिज़ाज शरीफ पूछना चाहते थे कि उस भले आदमी ने सलाम का जवाब गालियों से देना शुरू किया। जब ताँगा कई क़दम आगे निकल आया, तो वह एक पत्थर लेकर ताँगे के पीछे दौड़ा। ताँगेवाले ने घोड़े को तेज़ किया। उस भलेमानुस ने भी क़दम तेज़ किये और पत्थर फेका! मेरा सिर बाल-बाल बच गया। उसने दूसरा पत्थर उठाया, वह हमारे सामने आकर गिरा। तीसरा पत्थर इतने ज़ोर से आया कि दारोग़ाजी के घुटने में बडी चोट आई; पर इतनी देर में ताँगा इतनी दूर निकल आया था कि हम अब पत्थरो की मार से दूर हो गये थे। हाँ, गालियों की मार अभी तक जारी थी। जब तक वह आदमी आँखों से ओझल न हो गया, हम उसे एक हाथ में पत्थर उठाये, गालियाँ बकते हुए देखते रहे।

जब ज़रा चित्त शान्त हुआ, मैंने दारोग़ाजी से पूछा—यह कौन आदमी है साहब? कोई पागल तो नहीं है?

दारोग़ाजी ने घुटने को सहलाते हुए कहा—पागल नहीं है साहब, मेरा पुराना दुश्मन है। मैंने समझा था, ज़ालिम पिछली बाते भूल गया होगा। वरना मुझे क्या पड़ी थी कि सलाम करने जाता।

मैने पूछा—आपने इसे किसी मुक़दमे मे सज़ा दिलाई होगी।

'बड़ी लबी दास्तान है जनाब! बस इतना ही समझ लीजिए कि इसका बस चले, तो मुझे ज़िंदा ही निगल जाय।'

'आप तो शौक़ की आग को और भड़का रहे हैं। अब तो वह दास्तान सुने बग़ैर तस्कीन न होगी।'

दारोग़ाजी ने पहलू बदलकर कहा—अच्छी बात है, सुनिए। कई साल हुए, मैं सदर में ही तैनात था। बेफिक्री के दिन थे, ताज़ा ख़ून, एक माशूक़ से आँख लड गई। आमद-रफ़्त शुरू हुई। अब भी जब उस हसीना की याद आती है, तो आँखों से आँसू निकल आते हैं। बाज़ारू औरतो मे इतनी हया, इतनी वफा, इतनी मुरव्वत मैंने नहीं देखी। दो साल उसके साथ इतने लुत्फ़ से गुज़रे कि आज भी उसकी याद करके रोता हूँ। मगर क़िस्से को बढ़ाऊँगा

नहीं, वरना अधूरा ही रह जायगा। मुख्तसर यह कि दो साल के बाद मेरे तबादले का हुक्म आ गया। उस वक्त दिल को जितना सदमा पहुँचा उसका ज़िक्र करने के लिए दफ़्तर चाहिए। बस, यही जी चाहता था कि इस्तीफ़ा दे दूँ। उस हसीना ने यह ख़बर सुनी, तो उसकी जान-सी निकल गई। सफ़र की तैयारी के लिए मुझे तीन दिन मिले थे। ये तीन दिन हमने मन्सूबे बाँधने में काटे। उस वक्त मुझे अनुभव हुआ कि औरतों को अक़्ल से ख़ाली समझने में हमने कितनी बड़ी ग़लती की है। मेरे मंसूबे शेख़चिल्ली के-से होते थे। कलकत्ते भाग चलें, वहाँ कोई दूकान खोल दें, या इसी तरह कोई दूसरी तजवीज़ करता। लेकिन वह यही जवाब देती कि अभी वहाँ जाकर अपना काम करो। जब मकान का बदोबस्त हो जाय, तो मुझे बुला लेना। मैं दौड़ी चली आऊँगी।

आख़िर जुदाई की घड़ी आई। मुझे मालूम होता था कि अब जान न बचेगी। गाड़ी का वक्त निकला जाता था, और मैं उसके पास से उठने का नाम न लेता था। मगर मैं फिर क़िस्से को तूल देने लगा। ख़ुलासा यह कि मैं उसे दो-तीन दिन में बुलाने का वादा करके रुख़सत हुआ। पर अफसोस! वे दो-तीन दिन कभी न आये। पहले दस पाँच दिन तो अफसरों से मिलने और इलाक़े की देखभाल में गुज़रे। इसके बाद घर से ख़त आ गया कि तुम्हारी शादी तय हो गई; रुख़सत लेकर चले आओ। शादी की ख़ुशी मे उस वफा की देवी की मुझे फ़िक्र न रही। शादी करके महीने भर बाद लौटा, तो बीबी साथ थी। रही-सही याद भी जाती रही। उसने एक महीने के बाद एक ख़त भेजा; पर मैंने उसका जवाब न दिया। डरता रहता था कि कहीं एक दिन वह आकर सिर पर सवार न हो जायँ; फिर बीबी को मुँह दिखाने लायक़ भी न रह जाऊँ।

साल भर के बाद मुझे एक काम से सदर आना पड़ा। उस वक्त मुझे उस औरत की याद आई, सोचा, ज़रा चलकर देखना चाहिए, किस हालत में है। फ़ौरन अपने ख़त न भेजने और इतने दिनों तक न आने का जवाब सोच लिया और उसके द्वार पर जा पहुँचा। दरवाज़ा साफ-सुथरा था, मकान की हालत भी पहले से अच्छी थी। दिल को ख़ुशी हुई कि इसकी हालत

उतनी ख़राब नहीं है, जितनी मैंने समझी थी। और, क्यों ख़राब होने लगी। मुझ-जैसे दुनिया में क्या और आदमी ही नहीं हैं।

मैंने दरवाज़ा खटखटाया। अंदर से वह बंद था। आवाज़ आई—कौन है?

मैंने कहा—वाह! इतनी जल्द भूल गईं। मैं हूँ, बशीर।

कोई जवाब न मिला। आवाज उसी की थी, इसमें शक नहीं; फिर दरवाजा क्यों नहीं खोलती? ज़रूर मुझसे नाराज है। मैंने फिर किवाड़ खटखटाये और लगा अपनी मुसीबतों का क़िस्सा सुनाने। कोई पंद्रह मिनट के बाद दरवाजा खुला। हसीना ने मुझे इशारे से अंदर बुलाया और चट किवाड़ बंद कर लिये। मैंने कहा—मैं तुमसे मुआफी माँगने आया हूँ। यहाँ से जाकर मैं बड़ी मुश्किल में फँस गया। इलाक़ा इतना ख़राब है कि दम मारने की मुहलत नहीं मिलती।

हसीना ने मेरी तरफ न देखकर ज़मीन की तरफ ताकते हुए कहा—मुआफी किस बात की? तुमसे मेरा निकाह तो हुआ न था। दिल कहीं और लग गया, तो मेरी याद क्यों आती। मुझे तुमसे कोई शिकायत नहीं। जैसा और लोग करते हैं, वैसा ही तुमने किया। यही क्या कम है कि इतने दिनों के बाद इधर आ तो गये। रहे तो ख़ैरियत से?

'किसी तरह ज़िंदा हूँ।'

'शायद जुदाई में घुलते-घुलते यह तोंद निकल आई है। ख़ुदा झूठ न बुलवाये, तब से दूने हो गये हो।'

मैंने झेंपते हुए कहा—यह सारा बलग़म का फिसाद है। भला मोटा मैं क्या होता। उधर का पानी निहायत बलगमी है। तुमने तो मेरी याद ही भुला दी।

उसने अबकी मेरी ओर तेज़ निगाहों से देखा और बोली—ख़त का जवाब तक न दिया, उलटे मुझी को इलज़ाम देते हो। मैं तुम्हें शुरू से बेवफा समझती थी, और तुम वैसे ही निकले। बीबी लाये और मुझे ख़त तक न लिखा!

मैंने ताज्जुब से पूछा—तुम्हे कैसे मालूम हुआ कि मेरी शादी हो गई?

उसने रुखाई से कहा—यह पूछकर क्या करोगे ? झूठ तो नहीं कहती। बेवफा बहुत देखे ; लेकिन तुम सबसे बढ़कर निकले। तुम्हारी आवाज़ सुनकर जी मे तो आया कि दुत्कार दूँ ; लेकिन यह सोचकर दरवाज़ा खोल दिया कि अपने दरवाज़े पर किसी को क्या ज़लील करूँ।

मैंने कोट उतारकर खूँटी पर लटका दिया, जूते भी उतार डाले और चारपाई पर लेटकर बोला—लैली, देखो, इतनी बेरहमी से न पेश आओ। मैं तो अपनी ख़ताओ को ख़ुद तस्लीम करता हूँ और इसी लिए अब तुमसे मुआफ़ी माँगने आया हूँ। जरा अपने नाजुक हाथो से एक पान तो खिला दो। सच कहना, तुम्हे मेरी याद काहे को आती होगी। कोई और यार मिल गया होगा।

लैली पानदान खोलकर पान बनाने लगी कि एकाएक किसी ने किवाड़ खटखटाये। मैंने घबड़ाकर पूछा—यह कौन शैतान आ पहुँचा ?

हसीना ने होठो पर उँगली रखते हुए कहा—यह मेरे शौहर हैं। तुम्हारी तरफ से जब निराश हो गई, तो मैंने इनके साथ निकाह कर लिया।

मैंने त्यौरियाँ चढ़ाकर कहा—तो तुमने मुझसे पहले ही क्यों न बता दिया, मैं उलटे पाँव लौट न जाता, यह नौबत क्यो आती। न-जाने कबकी यह कसर निकाली।

'मुझे क्या मालूम कि यह इतने जल्द आ पहुँचेंगे। रोज़ तो पहर रात गये आते थे। फिर तुम इतनी दूर से आये थे, तुम्हारी कुछ खातिर भी तो करनी थी।'

'यह अच्छी ख़ातिर की। बताओ, अब मैं जाऊँ कहाँ।'

'मेरी समझ में ख़ुद कुछ नहीं आ रहा है। या अल्लाह ! किस अज़ाब में फँसी।'

इतने में उन साहब ने फिर दरवाज़ा खटखटाया। ऐसा मालूम होता था कि किवाड़ तोड़ डालेगा। हसीना के चेहरे पर एक रङ्ग आता था, एक रंग जाता था। बेचारी खड़ी काँप रही थी। बस, ज़बान से यही निकलता था—या अल्लाह रहम कर !

बाहर से आवाज़ आई—अरे तुम क्या सरेशाम से सो गईं ? अभी तो

आठ भी नहीं बजे। कहीं साँप तो नहीं सूँघ गया। अल्लाह जानता है अब और देर की, तो किवाड़ चिड़वा डालूँगा।

मैंने गिड़गिड़ाकर कहा—खुदा के लिए मेरे छिपने की कोई जगह बताओ। पिछवाड़े कोई दरवाज़ा नहीं है?

'ना!'

'सडास तो है?'

'सबसे पहले वह वहीं जायँगे।'

'अच्छा वह सामने कोठरी कैसी है?'

'हाँ है तो, लेकिन कहीं कोठरी खोलकर देखा तो?'

'क्या बहुत डबल आदमी है?'

'तुम जैसे दो को बग़ल में दबा ले।'

'तो खोल दो कोठरी। वह ज्योंही अंदर आयेगा, मैं दरवाज़ा खोलकर निकल भागूँगा।'

हसीना ने कोठरी खोल दी। मैं अंदर जा घुसा। दरवाज़ा फिर बंद हो गया।

मुझे कोठरी में बंद करके हसीना ने जाकर सदर दरवाज़ा खोला और बोली—क्यों किवाड़ तोड़े डालते हो? आ तो रही हूँ।

मैंने कोठरी के किवाड़ों के दरवाज़ों से देखा। आदमी क्या पूरा देव था। अंदर आते ही बोला—तुम सरेशाम से सो गई थीं!

'हाँ, ज़रा आँख लग गई थी।'

'मुझे तो ऐसा मालूम हो रहा था कि तुम किसी से बातें कर रही हो।'

'वहम की दवा तो लुकमान के पास भी नहीं!'

'मैंने साफ सुना। कोई न कोई था ज़रूर। तुमने उसे कहीं छिपा रखा है।'

'इन्हीं बातो पर तुमसे मेरा जी जलता है। सारा घर तो पड़ा है, देख क्यो नहीं लेते।'

'देखूँगा तो मैं ज़रूर ही, लेकिन तुमसे सीधे-सीधे पूछता हूँ, बतला दो, कौन था?'

हसीना ने कुंजियों का गुच्छा फेंकते हुए कहा—अगर कोई था तो घर

ही में न होगा; लो, सब जगह देख आओ। सुई तो है नहीं कि मैंने कहीं छिपा दी हो।

वह शैतान इन चकमों मे न आया। शायद पहले भी ऐसा ही चरका खा चुका था। कुंजियो का गुच्छा उठाकर सबसे पहले मेरी कोठरी के द्वार पर आया और उसके ताले को खोलने की कोशिश करने लगा। गुच्छे में उस ताले की कुंजी न थी। बोला—इस कोठरी की कुंजी कहाँ है?

हसीना ने बनावटी ताज्जुब से कहा—अरे, तो क्या उसमे कोई छिपा बैठा है? वह तो लकड़ियों से भरी पड़ी है।

'तुम कुंजी दे दो न।'

'तुम भी कभी-कभी पागलों के-से काम करने लगते हो। अँधेरे में कोई साँप-बिच्छू निकल आये तो। ना भैया, मैं उसकी कुंजी न दूँगी।'

'बला से साँप निकल आयेगा। अच्छा ही हो, निकल आये। इस बेह-याई की ज़िंदगी से तो मौत ही अच्छी।'

हसीना ने इधर-उधर तलाश करके कहा—न जाने उसकी कुंजी कहाँ रख दी। ख़याल नहीं आता।

'इस कोठरी में तो मैने और कभी ताला पड़ा नहीं देखा।'

'मैं तो रोज़ लगाती हूँ। शायद कभी लगाना भूल गई हूँ, तो नहीं कह सकती।'

'तो तुम कुंजी न दोगी?'

'कहती तो हूँ, इस वक्त नहीं मिल रही है।'

'कहे देता हूँ, कच्चा ही खा जाऊँगा।'

अब तक तो मैं किसी तरह ज़ब्त किये खड़ा रहा। बार-बार अपने ऊपर गुस्सा आ रहा था कि यहाँ क्यों आया। न जाने यह शैतान कैसे पेश आये। कहीं तैश में आकर मार ही न डाले। मेरे हाथमे ती कोई छूरी भी नहीं। या खुदा! अब तू ही मालिक है। दम रोके हुए खड़ा था कि एक पल का भी मौक़ा मिले, तो निकल भागूँ; लेकिन जब उस मरदूद ने किवाड़ों को ज़ोर से धमधमाना शुरू किया, तब तो रूह ही फना हो गई। इधर-उधर निगाह डाली कि किसी कोने में छिपने की जगह है, या नहीं। किवाड़ के

दराज़ों से कुछ रोशनी आ रही थी ! ऊपर जो निगाह उठाई, तो एक मचान-सा दिखाई दिया। डूबते को तिनके का सहारा मिल गया। उचककर चाहता था कि ऊपर चढ़ जाऊँ कि मचानपर एक आदमी को बैठे देखकर उस हालत मे मेरे मुँह से चीख निकल गई। यह हज़रत अचकन पहने, घड़ी लगाये, एक खूबसूरत साफा बाँधे, उकड़ूँ बैठे हुए थे। अब मुझे मालूम हुआ कि मेरे लिए दरवाजा खोलने मे हसीना ने इतनी देर क्यों की थी। अभी इनको देख ही रहा था कि दरवाजे पर मूसल की चोटें पड़ने लगीं। मामूली किवाड़ तो थे ही, तीन-चार चोटो मे दोनों किवाड़े नीचे आ रहे, और वह मरदूद लालटेन लिये कमरे में घुसा। उस वक्त मेरी क्या हालत थी, इसका अंदाज़ आप ख़ुद कर सकते हैं। उसने मुझे देखते ही लालटेन रख दी और मेरी गर्दन पकड़कर बोला—अच्छा, आप यहाँ तशरीफ रखते हैं। आइए, आप की कुछ ख़ातिर करूँ। ऐसे मेहमान रोज़ कहाँ मिलते हैं।

यह कहते हुए उसने मेरा एक हाथ पकडकर इतने जोर से बाहर की तरफ ढकेला कि मैं आँगन मे औंधा जा गिरा। उस शैतान की आँखों से अंगारे निकल रहे थे। मालूम होता था, उसके होंठ मेरा ख़ून चूसने के लिए बढे आ रहे हैं। मैं अभी जमीन से उठने भी न पाया था कि वह कसाई एक बडा-सा तेज छुरा लिये मेरी गर्दन पर आ पहुँचा, मगर जनाब, हूँ पुलीस का आदमी। उस वक्त मुझे एक चाल सूझ गई। उसने मेरी जान बचा ली, वरना आज आपके साथ ताँगे पर न बैठा होता। मैने हाथ जोड-कर कहा—हुजूर, मैं बिलकुल वेक़सूर हूँ। मै तो मीर साहब के साथ आया था।

उसने गरजकर पूछा—कौन मीर साहब ? मैंने जी कड़ा करके कहा—वही, जो मचान पर बैठे हुए हैं। मैं तो हुजूर का गुलाम ठहरा, जहाँ हुक्म पाऊँगा, आपके साथ जाऊँगा। मेरी इसमे क्या ख़ता है।

'अच्छा, तो कोई मीर साहब मचान पर भी तशरीफ रखते हैं ?'

उसने मेरा हाथ पकड़ लिया और और कोठरी में जाकर मचान पर देखा। वह हज़रत सिमटे-सिमटाये, भीगी बिल्ली बने बैठे थे। चेहरा ऐसा पीला पड़ गया था, गोया बदन में जान ही नहीं।

उसने उनका हाथ पकड़कर एक झटका दिया, तो आप धम से नीचे आ रहे। उनका ठाट देखकर अब इसमें कोई शुबहा न रहा कि वह मेरे मालिक हैं। उनकी सूरत देखकर इस वक्त तरस के साथ हँसी भी आती थी।

'तू कौन है बे?'

'जी, मैं मेरा मकान, यह आदमी झूठा है, यह मेरा नौकर नहीं है।'

'तू यहाँ क्या करने आया था?'

'मुझे यही बदमाश (मेरी तरफ देखकर) धोखा देकर लाया था।'

'यह क्यों नहीं कहता कि मज़े उड़ाने आया था। दूसरों पर इल्ज़ाम रखकर अपनी जान बचाना चाहता है सुअर? ले तू भी क्या समझेगा कि किसके पाले पड़ा था।'

यह कहकर उसने उसी तेज़ छुरे से उन साहब की नाक काट ली। मैं मौका पाकर बेतहाशा भागा; लेकिन हाय हाय की आवाज़ मेरे कानो मे आ रही थी। इसके बाद उन दोनों में कैसी छनी, हसीना के सिर पर क्या आफत आई, इसकी मुझे कुछ ख़बर नहीं। मैं तब से बीसों बार सदर आ चुका हूँ; पर उधर भूलकर भी नहीं गया। यह पत्थर फेकनेवाले हज़रत वही हैं, जिनकी नाक कटी थी। आज न जाने कहाँ से दिखाई पड़ गये और मेरी शामत आई कि उन्हें सलाम कर बैठा। आपने उनकी नाक की तरफ शायद ख़याल नहीं किया।

मुझे अब ख़याल आया कि उस आदमी की नाक कुछ चिपटी थी। बोला—हाँ, नाक कुछ चिपटी तो थी। मगर आपने उस ग़रीब को बुरा चरका दिया।

'और करता ही क्या?'

'आप दोनों मिलकर उस आदमी को क्या न दबा लेते?'

'ज़रूर दबा लेते; मगर चोर का दिल आधा होता है। उस वक्त अपनी-अपनी पड़ी थी कि मुक़ाबला करने की सूझती। कहीं उस रमझल्ले में घर लिया जाता, तो आबरू अलग जाती और नौकरी से अलग हाथ धोता। मगर अब इस आदमी से होशियार रहना पड़ेगा।'

इतने में चौक आ गया, और हम दोनों ने अपनी-अपनी राह ली।

रूप देखती हूँ और गर्व से फूल उठती हूँ। अपनी हमजोलियों को दिखाकर अपना गौरव और उनकी ईर्ष्या बढ़ाती हूँ। बस!

अभी थोड़े ही दिन हुए हैं, उन्होंने मुझे यह चंद्रहार दिया है। जो इसे देखता है, मोहित हो जाता है। मैं भी उसकी बनावट और सजावट पर मुग्ध हूँ। मैंने अपना संदूक खोला और उस गुलदस्ते को निकाल लाई। आह! उसे हाथ में लेते ही मेरी एक-एक नस मे बिजली दौड़ गई। हृदय के सारे तार कंपित हो गये। वह सूखी हुई पंखड़ियाँ जो अब पीले रग की हो गई थीं, बोलती हुई मालूम होती थीं, उनके सूखे, मुरझाए हुए मुखों से अस्फुटित कंपित, अनुराग मे डूबे शब्द साँय-साँय करके निकलते हुए जान पड़ते थे, किंतु वह रत्न-जटित, कांति से दमकता हुआ हार स्वर्ण और पत्थरों का एक समूह था, जिसमें प्राण न थे, संज्ञा न थी, मर्म न था। मैंने फिर गुलदस्ते को चूमा, कंठ से लगाया, आर्द्र नेत्रो से सींचा और फिर सदूक में रख आई! आभूषणो से भरा हुआ संदूक उस एक स्मृति-चिह्न के सामने तुच्छ था। यह क्या रहस्य था!

फिर मुझे उनके एक पुराने पत्र की याद आ गई। उसे उन्होंने कालेज से मेरे पास भेजा था। उसे पढ़कर मेरे हृदय मे जो आनद हुआ था, जो तूफान उठा था, आँखों से जो नदी बही थी, क्या उसे कभी भूल सकती हूँ! उस पत्र को मैने अपनी सोहाग की पेटारी में रख दिया था। इस समय उस पत्र को पढ़ने की प्रबल इच्छा हुई। मैंने पिटारी से वह पत्र निकाला। उसे स्पर्श करते ही मेरे हाथ काँपने लगे, हृदय मे धड़कन होने लगी। मै कितनी देर उसे हाथ मे लिये खड़ी रही, कह नही सकती। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मैं फिर वही हो गई हूँ, जो पत्र पाते समय थी। उस पत्र में क्या प्रेम के कवित्वमय उद्गार थे? क्या प्रेम की साहित्यिक विवेचना थी? क्या वियोग-व्यथा का करुण क्रंदन था? उसमें तो प्रेम का एक शब्द भी न था। लिखा था—कामिनी, तुमने आठ दिनों से कोई पत्र नहीं लिखा। क्यों नहीं लिखा? अगर तुम मुझे पत्र न लिखोगी, तो मै होली की छुट्टियो में घर न आऊँगा, इतना समझ लो। आख़िर तुम सारे दिन क्या किया करती हो? मेरे उपन्यासों की आलमारी खोल ली है क्या? आपने मेरी आलमारी क्यों

खोली ! समझती होगी, मैं पत्र न लिखूँगी, तो बचा खूब रोयेंगे और हैरान होंगे। यहाँ इसकी परवा नहीं। नौ बजे रात को सोता हूँ, तो आठ बजे उठता हूँ। कोई चिंता है तो यही कि फेल न हो जाऊँ। अगर फेल हुआ, तो तुम जानोगी।

कितना सरल, भोले-भाले हृदय से निकला हुआ, निष्कपट मानपूर्ण आग्रह और आतंक से भरा हुआ पत्र था, मानो उनका सारा उत्तरदायित्व मेरे ही ऊपर था। ऐसी धमकी क्या अब भी वह मुझे दे सकते हैं ? कभी नहीं। ऐसी धमकी वही दे सकता है, जो न मिल सकने की व्यथा को जानता हो, उसका अनुभव करता हो। पतिदेव अब जानते हैं, इस धमकी का मुझ पर कोई असर न होगा, मैं हँसूँगी और आराम से सोऊँगी, क्योंकि मै जानती हूँ, वह अवश्य आयेंगे और उनके लिए ठिकाना ही कहाँ है ! जा ही कहाँ सकते हैं ! तबसे उन्होंने मेरे पास कितने ही पत्र लिखे हैं। दो दिन को भी बाहर जाते हैं, तो जरूर एक पत्र भेजते हैं, और जब दस-पाँच दिन को जाते हैं, तो नित्यप्रति एक पत्र आता है। पत्रों मे प्रेम के चुने हुए शब्द, चुने हुए वाक्य, चुने हुए सबोधन भरे होते हैं। मैं उन्हें पढ़ती हूँ और एक ठडी साँस लेकर रख देती हूँ। हाय ! वह हृदय कहाँ गया ? प्रेम के इन निर्जीव, भावशून्य कृत्रिम शब्दों मे वह अभिन्नता कहाँ है, वह रस कहाँ है ; वह उन्माद कहाँ है, वह क्रोध कहाँ है, वह झुँझलाहट कहाँ है ! उनमे मेरा मन कोई वस्तु खोजता है—कोई अज्ञात, अव्यक्त, अलक्षित वस्तु—पर वह नहीं मिलती। उनमें सुगध भरी होती है, पत्रो के कागज़ आर्टपेपर को मात करते हैं ; पर उनका यह सारा बनाव सँवार किसी गतयौवना नायिका के बनाव-सिंगार के सदृश ही लगता है। कभी-कभी तो मै पत्रो को खोलती भी नहीं ! मैं जानती हूँ, उनमे क्या लिखा होगा।

उन्हीं दिनों की बात है, मैंने तीजे का व्रत किया था। मैंने देवी के समुख सिर झुकाकर वंदना की थी—देवि, मैं तुमसे केवल एक वरदान माँगती हूँ ! हम दोनो प्राणियों में कभी विच्छेद न हो और मुझे कोई अभिलाषा नहीं, मैं ससार की और कोई वस्तु नहीं चाहती। तब से चार साल हो गये हैं, और हममें एक दिन के लिए भी विच्छेद नहीं हुआ। मैने तो केवल

एक वरदान माँगा था। देवी ने वरदानो का भंडार ही मुझे सौंप दिया। पर आज मुझे देवी के दर्शन हों, तो मै उनसे कहूँ, तुम अपने सारे वरदान ले लो। मैं इनमें से एक भी नहीं चाहती। मैं फिर वही दिन देखना चाहती हूँ, जब हृदय में प्रेम की अभिलाषा थी, तुमने सब कुछ देकर मुझे उस अतुल सुख से वंचित कर दिया, जो अभिलाषा में था। मैं अबकी देवी से वह दिन दिखाने की प्रार्थना करूँ, जब मै किसी निर्जन जलतट और सघन वन मे अपने प्रियतम को ढूँढ़ती फिरूँ। नदी की लहरों से कहूँ, मेरे प्रियतम को तुमने देखा है? वृक्षों से पूछूँ, मेरे प्रियतम कहाँ गये। क्या वह सुख मुझे कभी प्राप्त न होगा? उसी समय मद, शीतल पवन चलने लगा। मैं खिड़की के बाहर सिर निकाले खड़ी थी। पवन के झोंके से मेरे केश की लटे बिखरने लगीं। मुझे ऐसा आभास हुआ, मानो मेरे प्रियतम वायु के इन उच्छ्वासों मे है। फिर मैंने आकाश की ओर देखा। चाँद की किरणे चाँदी के जग-मगाते तारों की भाँति आँखों से आँखमिचौनी-सी खेल रही थीं। आँख बद करते समय सामने आ जातीं; पर आँखे खोलते ही अदृश्य हो जाती थीं। मुझे उस समय ऐसा आभास हुआ कि मेरे प्रियतम उन्हीं जगमगाते तारों पर बैठे आकाश से उतर रहे हैं। उसी समय किसी ने गाया :

अनोखे-से नेही के त्याग,
निराले पीड़ा के ससार!
कहाँ होते हो अतर्द्धान,
लुटा करके सोने-सा प्यार!

'लुटा करके सोने-सा प्यार', यह पद मेरे मर्मस्थल को तीर की भाँति छेदता हुआ कहाँ चला गया, नहीं जानती। मेरे रोयें खड़े हो गये। आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। ऐसा मालूम हुआ, जैसे कोई मेरे प्रियतम को मेरे हृदय से निकाले लिये जाता है। मैं जोर से चिल्ला पड़ी। उसी समय पतिदेव की नींद टूट गई। वह मेरे पास आकर बोले—क्या अभी तुम चिल्लाई थीं? अरे! तुम तो रो रही हो? क्या बात है? कोई स्वप्न तो नहीं देखा?

मैंने सिसकते हुए कहा—रोऊँ न, तो क्या हँसूँ?

स्वामी ने मेरा हाथ पकड़कर कहा—क्यो, रोने का कोई कारण है, या यो ही रोना चाहती हो ?

'क्या मेरे रोने का कारण तुम नहीं जानते ?'

'मैं तुम्हारे दिल की बात कैसे जान सकता हूँ ?'

'तुमने जानने की कभी चेष्टा की है ?'

'मुझे इसका सान-गुमान भी न था कि तुम्हारे रोने का कोई कारण हो सकता है ।'

'तुमने तो बहुत कुछ पढा है, क्या तुम भी ऐसी बात कह सकते हो ?'

स्वामी ने विस्मय में पड़कर कहा—तुम तो पहेलियाँ बुझवाती हो !

'क्यों, क्या तुम कभी नहीं रोते ?'

'मैं क्यों रोने लगा ।'

'तुम्हे अब कोई अभिलाषा नहीं है ?'

'मेरी सबसे बडी अभिलाषा पूरी हो गई । अब मैं और कुछ नहीं चाहता ।'

यह कहते हुए पतिदेव मुस्कराये और मुझे गले से लिपटा लेने को बढे । उनकी यह हृदयहीनता इस समय मुझे बहुत बुरी लगी । मैने उन्हें हाथों से पीछे हटाकर कहा—मैं इस स्वाँग को प्रेम नहीं समझती । जो कभी रो नहीं सकता वह प्रेम नहीं कर सकता । रुदन और प्रेम, दोनों एक ही स्रोत से निकले हैं ।

उसी समय फिर उसी गाने की ध्वनि सुनाई दी—

अनोखे से नेही के त्याग,
निराले पीडा के ससार !
कहाँ होते हो अतर्द्धान,
लुटा करके सोने-सा प्यार !

पतिदेव के मुख की वह मुस्कराहट लुप्त हो गई । मैंने उन्हें एक बार काँपते देखा । ऐसा जान पडा, उन्हे रोमाच हो रहा है । सहसा उनका दाहना हाथ उठकर उनकी छाती तक गया । उन्होंने लम्बी साँस ली और उनकी आँखों से आँसू की बूँदे निकलकर गालो पर आ गई । तुरत मैंने

रोते हुए उनकी छाती पर सिर रख दिया और उस परम सुख का अनुभव किया, जिसके लिए कितने दिनों से मेरा हृदय तड़प रहा था। आज फिर मुझे पतिदेव का हृदय धड़कता हुआ सुनाई दिया, आज उनके स्पर्श में फिर स्फूर्ति का ज्ञान हुआ।

अभी तक उस पद के शब्द मेरे हृदय में गूँज रहे थे—

कहाँ होते हो अन्तर्द्धान
लुटा करके सोने-सा प्यार!❀

खुचड़

बाबू कुंदनलाल कचहरी से लौटे, तो देखा कि उनकी पत्नीजी एक कुँजड़िन से कुछ शाक भाजी ले रही हैं। कुँजड़िन पालक टके सेर कहती है, वह डेढ पैसे दे रही हैं। इस पर कई मिनट विवाद होता रहा। आख़िर कुँजड़िन डेढ़ ही पैसे पर राज़ी हो गई। अब तराजू और बाँट का प्रश्न छिड़ा। दोनों पल्ले बराबर न थे। एक में सघा था। बाँट भी पूरे न उतरते थे। पड़ोसिन के घर से सेर आया। साग तुल जाने के बाद अब घाटे का प्रश्न उठा। पत्नीजी और माँगती थीं, कुँजड़िन कहती थी, अब क्या सेर-दो-सेर घाटे में ही ले लोगी बहूजी। ख़ैर, आध घंटे में यह सौदा पूरा हुआ, और कुँजड़िन, फिर कभी न आने की धमकी देकर, बिदा हुई। कुंदनलाल खड़े खड़े यह तमाशा देखते रहे। कुँजड़िन के जाने के बाद पत्नीजी लोटे का पानी लाईं, तो आपने कहा—आज तो तुमने ज़रा-सा साग लेने में पूरे आध घंटे लगा दिये। इतनी देर मे तो हज़ार-पाँच सौ का सौदा हो जाता। ज़रा-ज़रा-से साग के लिए इतनी ठाँय-ठाँय करते तुम्हारा सिर भी नहीं दुखता !

रामेश्वरी ने कुछ लज्जित होकर कहा—पैसे मुफ़्त में तो नहीं आते !

'यह ठीक है ; लेकिन समय का भी कुछ मूल्य है। इतनी देर में तुमने बड़ी मुश्किल से एक धेले की बचत की। कुँजड़िन ने भी दिल मे कहा होगा, कहाँ की गँवारिन है। अब शायद भूलकर भी इधर न आये।'

'तो फिर मुझसे तो यह नहीं हो सकता कि पैसे की जगह धेले का सौदा लेकर बैठ जाऊँ।'

'इतनी देर में तो तुमने कम से-कम २० पन्ने पढ़े होते। कल महरी से घंटों सिर मारा। परसों दूधवाले के साथ घंटों शास्त्रार्थ किया। ज़िंदगी क्या इन्हीं बातों में ख़र्च करने को दी गई है ?'

कुंदनलाल प्रायः नित्य ही पत्नी को सदुपदेश देते रहते थे। यह उनका

दूसरा विवाह था। रामेश्वरी को आये अभी दो ही तीन महीने हुए थे। अब तक तो बड़ी ननदजी ऊपर के काम किया करती थीं। रामेश्वरी की उनसे न पटी। उसको मालूम होता था, यह तो मेरा सर्वस्व ही लुटाये देती हैं। आख़िर वह चली गईं। तब से रामेश्वरी ही घर की स्वामिनी है। वह बहुत चाहती है कि पति को प्रसन्न रखे। उनके इशारों पर चलती है; एक बार जो बात सुन लेती है, गाँठ बाँध लेती है। पर रोज़ ही तो कोई न कोई नई बात हो जाती है, और कुंदनलाल को उसे उपदेश देने का अवसर मिल जाता है।

(२)

एक दिन बिल्ली दूध पी गई। रामेश्वरी दूध गर्म करके लाई, और स्वामी के सिरहाने रखकर पान बना रही थी कि बिल्ली ने दूध पर अपना ईश्वरदत्त अधिकार सिद्ध कर दिया। रामेश्वरी यह अपहरण स्वीकार न कर सकी। रूल लेकर बिल्ली को इतने जोर से मारा कि वह दो-तीन लुड़कियाँ खा गई।

कुंदनलाल लेटे-लेटे अख़बार पढ़ रहे थे। बोले—और जो मर जाती?

रामेश्वरी ने ढिठाई के साथ कहा—तो मेरा दूध क्यों पी गई?

'उसे मारने से दूध मिल तो नहीं गया?'

'जब कोई नुकसान कर देता है, तो उस पर क्रोध आता ही है।'

'न आना चाहिए। पशु के साथ आदमी भी क्यों पशु हो जाय? आदमी और पशु मे इसके सिवा और क्या अंतर है।'

कुंदनलाल कई मिनट तक दया, विवेक और शांति की शिक्षा देते रहे, यहाँ तक कि बेचारी रामेश्वरी मारे ग्लानि के रो पड़ी।

इसी भाँति एक दिन रामेश्वरी ने एक भिक्षुक को दुत्कार दिया, तो बाबू साहब ने फिर उपदेश देना शुरू किया। बोले—तुमसे न उठा जाता हो, तो लाओ मैं दे आऊँ। गरीब को यों न दुत्कारना चाहिए।

रामेश्वरी ने त्योरियाँ चढ़ाते हुए कहा—दिन-भर तो ताँता लगा रहता है। कोई कहाँ तक दौड़े। सारा देश भिखमंगो ही से भर गया है शायद।

कुंदनलाल ने उपेक्षा के भाव से मुस्कराकर कहा—उसी देश में तो तुम भी बसती हो!

'इतने भिखमंगे आ कहाँ से जाते हैं ? ये सब काम क्यों नहीं करते ?'

'कोई आदमी इतना नीच नहीं होता, जो काम मिलने पर भीख माँगे। हाँ, अपंग हो, तो दूसरी बात है। अपंगों का भीख के सिवा और क्या सहारा हो सकता है ?'

'सरकार इनके लिए अनाथालय क्यों नहीं खुलवाती ?'

'जब स्वराज्य हो जायगा, तब शायद खुल जायँ ; अभी तो कोई आशा नहीं है। मगर स्वराज्य भी धर्म ही से आयेगा।'

'लाखों साधु सन्यासी, पंडे-पुजारी मुफ्त का माल उड़ाते हैं, क्या इतना धर्म काफी नहीं है ? अगर इस धर्म से स्वराज्य मिलता, तो कब का मिल चुका होता।'

'इसी धर्म का प्रसाद है कि हिंदू-जाति अभी तक जीवित है, नहीं कब को रसातल पहुँच चुकी होती। रोम, यूनान, ईरान, असीरिया किसी का अब निशान भी नहीं है। यह हिंदू-जाति है, जो अभी तक समय के क्रूर आघातों का सामना करती चली जाती है।'

'आप समझते होंगे, हिंदू-जाति जीवित है। मैं तो उसे उसी दिन से मरा हुआ समझती हूँ, जिस दिन से वह अधीन हो गई। जीवन स्वाधीनता का नाम है, गुलामी तो मौत है।'

कुदनलाल ने युवती को चकित नेत्रों से देखा, ऐसे विद्रोही विचार उसमें कहाँ से आ गये ? देखने में तो वह बिलकुल भोली थी। समझे, कहीं सुन-सुना लिया होगा। कठोर होकर बोले—क्या व्यर्थ का विवाद करती हो। लजाती तो नहीं, ऊपर से और बक-बक करती हो।

रामेश्वरी यह फटकार पाकर चुप हो गई। एक क्षण वहाँ खड़ी रही, फिर धीरे-धीरे कमरे से चली गई।

(२)

एक दिन कुदनलाल ने कई मित्रों की दावत की। रामेश्वरी सवेरे से रसोई में घुसी, तो शाम तक सिर न उठा सकी। उसे यह बेगार बुरी मालूम हो रही थी। अगर दोस्तों की दावत करनी थी, तो खाना बनवाने का कोई प्रबन्ध क्यों नहीं किया ? सारा बोझ उसी के सिर क्यों डाल दिया ? उससे

एक बार पूछ तो लिया होता कि दावत करूँ या न करूँ। होता तब भी यही, जो अब हो रहा था। वह दावत के प्रस्ताव का बड़ी ख़ुशी से अनुमोदन करती, तब वह समझती, दावत मैं कर रही हूँ। अब वह समझ रही थी, मुझसे बेगार ली जा रही है। ख़ैर, भोजन तैयार हुआ, लोगों ने भोजन किया और चले गये; मगर मुंशीजी मुँह फुलाये बैठे हुए थे। रामेश्वरी ने कहा—तुम क्यों नहीं खा लेते, या अभी सवेरा है?

बाबू साहब ने आँखें फाड़कर कहा—क्या खा लूँ, यह खाना है, या बैलों की सानी!

रामेश्वरी के सिर से पाँव तक आग लग गई। सारा दिन चूल्हे के सामने जली, उसका यह पुरस्कार! बोली—मुझसे जैसा हो सका, बनाया। जो बात अपने बस की नहीं है, उसके लिए क्या करती?

'पूड़ियाँ सब सेवड़ी हैं।'

'होगी।'

'कचौड़ी में इतना नमक था कि किसी ने छुआ तक नहीं।'

'होगा।'

'हलुआ अच्छी तरह भुना नहीं—कचाइँध आ रही थी।'

'आती होगी।'

'शोरबा इतना पतला था, जैसे चा।'

'होगा।'

'स्त्री का पहला धर्म यह है कि वह रसोई के काम में चतुर हो।'

फिर उपदेशों का तार बँधा, यहाँ तक कि रामेश्वरी ऊबकर चली गई!

(४)

पाँच छः महीने गुज़र गये। एक दिन कुंदनलाल के एक दूर के संबंधी उनसे मिलने आये। रामेश्वरी को ज्यों ही उनकी ख़बर मिली, जल-पान के लिये मिठाई भेजी; और महरी से कहला भेजा—आज यहीं भोजन कीजिएगा। वह महाशय फूले न समाये। बोरिया-बँधना लेकर पहुँच गये और डेरा डाल दिया। एक हफ्ता गुज़र गया; मगर आप टलने का नाम भी नहीं लेते। आव-भगत में कोई कमी होती, तो शायद उन्हें कुछ चिंता

होती ; पर रामेश्वरी उनके सेवा-सत्कार में जी-जान से लगी हुई थी। फिर वह भला क्यों हटने लगे।

एक दिन कुदनलाल ने कहा—तुमने यह बुरा रोग पाला।

रामेश्वरी ने चौंककर पूछा—कैसा रोग ?

'इन्हें टहला क्यो नहीं देतीं ?'

'मेरा क्या बिगाड़ रहे हैं ?'

'कम-से-कम १) की रोज़ चपत दे रहे हैं। और, अगर यही ख़ातिरदारी रही, तो शायद जीते-जी टलेंगे भी नहीं।'

'मुझसे तो यह नहीं हो सकता कि कोई दो-चार दिन के लिए आ जाय, तो उसके सिर हो जाऊँ। जब तक उनकी इच्छा हो, रहें।'

'ऐसे मुफ्तखोरों का सत्कार करना पाप है। अगर तुमने इसे इतना सिर न चढाया होता, तो अब तक लगा हुआ होता। जब दिन मे तीन बार भोजन और पचासों बार पान मिलता है, तो उसे कुत्ते ने काटा है, जो अपने घर जाय !'

'रोटी का चोर बनना तो अच्छा नहीं।'

'कुपात्र और सुपात्र का विचार तो कर लेना चाहिए। ऐसे आलसियों को खिलाना-पिलाना वास्तव मे उन्हें जहर देना है। ज़हर से तो केवल प्राण निकल जाते हैं, यह ख़ातिरदारी तो आत्मा का सर्वनाश कर देती है। अगर यह हजरत महीने-भर भी यहाँ रह गये, तो फिर ज़िंदगी-भर के लिए बेकार हो जायेंगे। फिर इनसे कुछ न होगा, और इसका सारा दोष तुम्हारे सिर होगा।'

तर्क का ताता बँध गया। प्रमाणों की झडी लग गई। रामेश्वरी खिसिया-कर चली गई। कुदनलाल उससे कभी सतुष्ट भी हो सकते हैं, उनके उपदेशों की वर्षा कभी बद भी हो सकती है, यह प्रश्न उसके मन में बार-बार उठने लगा।

[५]

एक दिन देहात से भैंस का ताज़ा घी आया। इधर महीनों से बाज़ार का घी खाते-खाते नाक में दम हो रहा था। रामेश्वरी ने उसे खोलाया, उसमे

लौंग डाली और कड़ाह से निकालकर एक मटकी में रख दिया। उसकी सोंधी सोंधी सुगंध से सारा घर महक रहा था। महरी चौका-बर्तन करने आई, तो उसने चाहा कि मटकी चौके से उठाकर छींके या आले पर रख दे। पर संयोग की बात, उसने मटकी उठाई, तो वह उसके हाथ से छूटकर गिर पड़ी। सारा घी बह गया। धमाका सुनकर रामेश्वरी दौड़ी, तो महरी खड़ी रो रही थी, और मटकी चूर-चूर हो गई थी। तड़पकर बोली—मटकी कैसे टूट गई? मैं तेरी तलब से काट लूँगी। राम-राम! सारा घी मिट्टी में मिला दिया! तेरी आँखें फूट गई थीं क्या? या हाथों में दम नहीं था? इतनी दूर से मँगाया, इतनी मिहनत से गर्म किया; मगर एक बूँद भी गले के नीचे न गया। अब खड़ी बिसूर क्या रही है, जा अपना काम कर।

महरी ने आँसू पोंछकर कहा—बहूजी, अब तो चूक हो गई, चाहे तलब काटो, चाहे जान मारो। मैंने तो सोचा—उठाकर आले पर रख दूँ, तो चौका लगाऊँ। क्या जानती थी कि भाग्य में यह लिखा है। न जाने किस अभागे का मुँह देखकर उठी थी।

रामेश्वरी—मैं कुछ नहीं जानती, सब रुपये तेरी तलब से वसूल कर लूँगी। एक रुपया जुरमाना न किया तो कहना।

महरी—मर जाऊँगी सरकार, कहीं एक पैसे का ठिकाना नहीं है।

रामेश्वरी—मर जा या जी जा, मैं कुछ नहीं जानती।

महरी ने एक मिनट तक कुछ सोचा और बोली—अच्छा काट लीजिएगा सरकार। आपसे सबर नहीं होता; मैं सबर कर लूँगी। यही न होगा, भूखों मर जाऊँगी। जीकर ही कौन-सा सुख भोग रही हूँ कि मरने को डरूँ। समझ लूँगी, एक महीना कोई काम कहीं किया। आदमी से बड़ा-बड़ा नुकसान हो जाता है, यह तो घी ही था।

रामेश्वरी को एक ही क्षण में महरी पर दया आ गई। बोली—तू भूखों मर जायगी, तो मेरा काम कौन करेगा।

महरी—काम कराना होगा, खिलाइएगा, न काम कराना होगा, भूखों मारिएगा। आज से आकर आप ही के द्वार पर सोया करूँगी।

रामेश्वरी—सच कहती हूँ, आज तूने बड़ा नुकसान कर डाला।

महरी—मैं तो आप ही पछता रही हूँ सरकार।

रामेश्वरी—जा गोबर से चौका लीप दे, मटकी के टुकड़े दूर फेंक दे। और बाज़ार से घी लेती आ।

महरी ने खुश होकर चौका गोबर से लीपा, और मटकी के टुकड़े बटोर रही थी कि कुंदनलाल आ गये, और हाँड़ी टूटी देखकर बोले—यह हाँडी कैसे टूट गई।

रामेश्वरी ने कहा—महरी उठाकर ऊपर रख रही थी, उसके हाथ से छूट पड़ी।

कुंदनलाल ने चिल्लाकर कहा—तो सब घी बह गया?

'और क्या कुछ बच भी रहा!'

'तुमने महरी से कुछ कहा नहीं!'

'क्या कहती! उसने जान बूझकर तो गिरा नहीं दिया!'

'यह नुकसान कौन उठायेगा?'

'हम उठायेंगे, और कौन उठायेगा। अगर मेरे ही हाथ से छूट पड़ती,

'तो क्या हाथ काट लेती।'

कुन्दनलाल ने ओठ चबाकर कहा—तुम्हारी कोई बात मेरी समझ में नहीं आती। जिसने नुकसान किया है, उससे वसूल होना चाहिए। यही ईश्वरीय नियम है। आँख की जगह आँख, प्राण के बदले प्राण, यह ईसा-मसीह-जैसे दयालु पुरुष का कथन है। अगर दंड का विधान संसार से उठ जाय, तो यहाँ रहे कौन? सारी पृथ्वी रक्त से लाल हो जाय, हत्यारे दिन-दहाडे लोगों का गला काटने लगें। दंड ही से समाज की मर्यादा क़ायम है। जिस दिन दंड न रहेगा, संसार न रहेगा। मनु आदि स्मृतिकार बेवकूफ नहीं थे कि दंड-न्याय को इतना महत्त्व दे गये। और किसी विचार से नहीं तो मर्यादा की रक्षा के लिए दंड अवश्य देना चाहिए। ये रुपये महरी को देने पड़ेंगे। उसकी मज़दूरी काटनी पड़ेगी। नहीं तो आज उसने घी का घड़ा लुढका दिया है, कल को कोई और नुकसान कर देगी।

रामेश्वरी ने डरते डरते कहा—मैंने तो उसे क्षमा कर दिया है।

कुंदनलाल ने आँखे निकालकर कहा—लेकिन मैं नहीं क्षमा कर सकता।

महरी द्वार पर खड़ी यह विवाद सुन रही थी। जब उसने देखा कि कुंदनलाल का क्रोध बढ़ता ही जाता है, और मेरे कारण रामेश्वरी को घुड़कियाँ सुननी पड़ रही हैं, तो वह सामने जाकर बोली—बाबूजी, अब तो कसूर हो गया। आप सब रुपये मेरी तलब से काट लीजिए। रुपये नही हैं, नही तो अभी लाकर आपके हाथ पर रख देती।

रामेश्वरी ने उसे घुड़ककर कहा—जा भाग यहाँ से, तू क्या करने आई ? बड़ी रुपयावाली बनी है !

कुंदनलाल ने पत्नी की ओर कठोर नेत्रो से देखकर कहा—तुम क्यो उसकी वकालत कर रही हो ? यह मोटी-सी बात है, और इसे एक बच्चा भी समझता है कि जो नुकसान करता है, उसे उसका दंड भोगना पड़ता है। मै क्यों पाँच रुपये का नुकसान उठाऊँ ? वजह ? क्यो नहीं इसने मटके को सँभालकर पकड़ा, क्यों इतनी जल्दबाज़ी की, क्यों तुम्हें बुलाकर मदद नहीं ली ? यह साफ इसकी लापरवाही है।

यह कहते हुए कुंदनलाल बाहर चले गये।

(६)

रामेश्वरी इस अपमान से आहत हो उठी। डाँटना ही था, तो कमरे में बुलाकर एकात मे डाँटते। महरी के सामने उसे रूई की तरह तूम डाला। उसकी समझ ही में न आता था, यह किस स्वभाव के आदमी हैं। आज एक बात कहते हैं, कल उसी को काटते हैं, जैसे कोई झक्की आदमी हो। कहाँ तो दया और उदारता के अवतार बनते थे, कहाँ आज पाँच रुपये के लिए प्राण देने लगे। बड़ा मज़ा आ जाय, जो कल महरी बैठ रहे। कभी तो इनके मुख से प्रसन्नता का एक शब्द निकला होता ! अब मुझे भी अपना स्वभाव बदलना पड़ेगा ! यह सब मेरे सीधे होने का फल है। ज्यों-ज्यों मैं तरह देती हूँ, आप जामे से बाहर होते हैं। इसका इलाज यही है कि एक कहे, तो दो सुनाऊँ। आख़िर कब तक और कहाँ तक सहूँ। कोई हद भी है ! जब देखो डाँट रहे हैं। जिसके मिज़ाज का कुछ पता ही न हो, उसे कौन खुश रख सकता है। उस दिन ज़रा-सा बिल्ली को मार दिया, तो आप दया का उपदेश करने लगे। आज वह दया कहाँ गई। इनको ठीक करने का उपाय यही है कि

समझ लूँ, कोई कुत्ता भूँक रहा है। नहीं, ऐसा क्यों करूँ। अपने मन से कोई काम ही न करूँ, जो यह कहें, वही करूँ, न जौ-भर कम न जौ-भर ज़्यादा। जब इन्हे मेरा कोई काम पसद ही नहीं आता, तो मुझे क्या कुत्ते ने काटा है, जो बरबस अपनी टाँग अड़ाऊँ। बस, यही ठीक है।

वह रात-भर इसी उधेड़-बुन में पड़ी रही। सवेरे कुदनलाल नदी स्नान करने गये। लौटे, तो नौ बज गये थे। घर मे जाकर देखा, तो चौका-बर्तन न हुआ था। प्राण सूख गये। पूछा—क्या महरी नही आई?

रामे०—नहीं।

कुदन०—तो फिर?

रामे०—जो आपकी आज्ञा।

कुदन०—यह तो बडी मुश्किल है।

रामे०—हाँ, है तो।

कुदन०—पडोस की महरी को क्यों न बुला लिया?

रामे०—किसके हुक्म से बुलाती। अब हुक्म हुआ है, बुलाये लेती हूँ।

कुंदन०—अब बुलाओगी, तो खाना कब बनेगा? नौ बज गये हैं। इतना तो तुम्हें अपनी अक्ल से काम लेना चाहिए था कि महरी नहीं आई तो पड़ोसवाली को बुला ले।

रामे०—अगर उस वक्त, सरकार पूछते, क्यों दूसरी महरी बुलाई, तो क्या जवाब देती? अपनी अक़्ल से काम लेना छोड़ दिया। अब तुम्हारी अक्ल ही से काम लूँगी। मैं यह नहीं चाहती कि कोई मुझे आँखे दिखाये।

कुदन०—अच्छा तो इस वक्त क्या होता है?

रामे०—जो, हुज़ूर का हुक्म हो।

कुदन०—तुम मुझे बनाती हो?

रामे०—मेरी इतनी मजाल कि आप को बनाऊँ। मै तो हुजूर की लौंड़ी हूँ। जो कहिए, वह करूँ।

कुदन०—मैं तो जाता हूँ, तुम्हारा जो जी चाहे करो।

रामे०—जाइए, मेरा जी कुछ न चाहेगा और न कुछ करूँगी।

कुदन०—आख़िर तुम क्या खाओगी?

रामे०—जो आप दे देंगे, वही खा लूँगी।

कुंदन०—लाओ, बाजार से पूड़ियाँ ला दूँ।

रामेश्वरी रुपया निकाल लाईं। कुंदनलाल पूड़ियाँ लाये। इस वक्त का काम चला। दफ्तर गये। लौटे, तो देर हो गई थी। आते-ही-आते पूछा—महरी आई?

रामे०—नहीं।

कुंदन०—मैंने तो कहा था, पड़ोसवाली को बुला लेना।

रामे०—बुलाया था। वह पाँच रुपये माँगती है।

कुंदन०—तो एक ही रुपये का तो फ़र्क था, क्यों नहीं रख लिया?

रामे०—मुझे यह हुक्म न मिला था। मुझसे जवाब-तलब होता कि एक रुपया ज्यादा क्यों दे दिया, ख़र्च की किफ़ायत पर उपदेश दिया जाने लगता, तो क्या करती।

कुंदन०—तुम बिलकुल मूर्ख हो।

रामे०—बिलकुल।

कुंदन०—तो इस वक्त भी भोजन न बनेगा?

रामे०—मजबूरी है।

कुंदनलाल सिर थामकर चारपाई पर बैठ गये। यह तो नई विपत्ति गले पड़ी। पूड़ियाँ उन्हें रुचती न थीं। जी में बहुत झुँझलाये। रामेश्वरी को दो चार उल्टी-सीधी सुनाईं; लेकिन उसने मानों सुना ही नहीं। कुछ बस न चला, तो महरी की तलाश में निकले। जिसके यहाँ गये, मालूम हुआ, महरी काम करने चली गई। आख़िर एक कहार मिला। उसे बुला लाये। कहार ने दो आने लिये और बर्तन धोकर चलता बना।

रामेश्वरी ने कहा—भोजन क्या बनेगा?

कुंदन०—रोटी-तरकारी बना लो, या इसमें भी कुछ आपत्ति है।

रामे०—तरकारी घर में नहीं है?

कुंदन०—दिन-भर बैठी रही, तरकारी भी न लेते बनी? अब इतनी रात गये तरकारी कहाँ मिलेगी?

रामे०—मुझे तरकारी ले रखने का हुक्म न मिला था। मै पैसा-धेला ज़्यादा दे देती तो?

कुंदनलाल ने विवशता से दाँत पीसकर कहा—आखिर तुम क्या चाहती हो?

रामेश्वरी ने शात भाव से जवाब दिया—कुछ नही, केवल अपमान नहीं चाहती।

कुंदन०—तुम्हारा अपमान कौन करता है?

रामे०—आप करते हैं।

कुंदन०—तो मैं घर के मामले में कुछ न बोलूँ?

रामे०—आप न बोलेगे, तो कौन बोलेगा। मैं तो केवल हुक्म की ताबेदार हूँ।

रात रोटी दाल पर कटी। दोनो आदमी लेटे। रामेश्वरी को तो तुरत नींद आ गई। कुंदनलाल बड़ी देर तक करवटे बदलते रहे। अगर रामेश्वरी इस तरह असहयोग करेगी, तो एक दिन भी काम न चलेगा। आज ही बड़ी मुश्किल से भोजन मिला। इसकी समझ ही उलटी है। मैं तो समझाता हूँ, यह समझती है, डाँट रहा हूँ। मुझसे बिना बोले रहा भी तो नहीं जाता। लेकिन अगर बोलने का यह नतीजा है, तो फिर बोलना फिजूल है। नुकसान होगा, बला से; यह तो न होगा कि दफ़्तर से आकर बाज़ार भागूँ। महरी से रुपये वसूल करने की बात इसे बुरी लगी, और थी भी बेजा। रुपये तो न मिले, उलटे महरी ने काम छोड़ दिया।

रामेश्वरी को जगाकर बोले—कितना सोती हो तुम!

रामे०—मजूरों को अच्छी नींद आती है।

कुंदन०—चिढ़ाओ मत, महरी से रुपये न वसूल करना।

रामे०—वह तो लिये खड़ी है शायद।

कुंदन—उसे मालूम हो जायगा, तो काम करने आयेगी।

रामे०—अच्छी बात है कहला भेजूँगी।

कुंदन०—आज से मैं कान पकड़ता हूँ, तुम्हारे बीच मे न बोलूँगा।

रामे०—और जो मैं घर लुटा दूँ तो?

कुंदन०—लुटा दो, चाहे मिटा दो, मगर रूठो मत। अगर तुम किसी बात में मेरी सलाह पूछोगी, तो दे दूँगा; वरना मुँह न खोलूँगा।

रामे०—मैं अपमान नहीं सह सकती।

कुंदन०—इस भूल को क्षमा करो।

रामे०—सच्चे दिल से कहते हो न?

कुंदन०—सच्चे दिल से।

आगा-पीछा

रूप और यौवन के चचल विलास के बाद कोकिला अब उस कलुषित जीवन के चिह्न को आँसुओं से धो रही थी। विगत जीवन की याद आते ही उसका दिल बेचैन हो जाता, और वह विषाद और निराशा से विकल होकर पुकार उठती--हाय! मैंने ससार मे जन्म ही क्यों लिया! उसने दान और व्रत से उन कालिमाओ को धोने का प्रयत्न किया और जीवन के बसंत की सारी विभूति इस निष्फल प्रयास में लुटा दी। पर यह जागृति क्या किसी महात्मा का वरदान या किसी अनुष्ठान का फल थी? नहीं, यह उस नवजात शिशु के प्रथम दर्शन का प्रसाद था, जिसके जन्म ने आज पंद्रह साल से उसकी सूनी गोद को प्रदीप्त कर दिया था। शिशु का मुख देखते ही उसके नीले होठों पर एक क्षीण, करुण, उदास मुस्कराहट झलक गई—पर केवल एक क्षण के लिए। एक ही क्षण के बाद वह मुस्कराहट एक लबी साँस में विलीन हो गई। उस अशक्त, क्षीण, कोमल रुदन ने कोकिला के जीवन का रुख फेर दिया। वात्सल्य की वह ज्योति उसके लिए जीवन सदेश और मूक उपदेश थी।

कोकिला ने उस नवजात बालिका का नाम रखा—श्रद्धा। उसी के जन्म ने तो उसमें श्रद्धा उत्पन्न की थी। वह श्रद्धा को अपनी लड़की नहीं, किसी देवी का अवतार समझती थी। उसकी सहेलियाँ उसे बधाई देने आतीं, पर कोकिला बालिका को उनकी नजरों से छिपाती। उसे यह भी मजूर न था कि उनकी पापमयी दृष्टि भी उसपर पड़े। श्रद्धा ही अब उसकी विभूति, उसकी आत्मा, उसका जीवन-दीपक थी। वह कभी-कभी उसे गोद मे लेकर साध से छलकती हुई आँखों से देखती और सोचती—क्या यह पावन ज्योति भी वासना के प्रचण्ड आघातों का शिकार होगी? मेरे प्रयत्न क्या निष्फल हो जायँगे? आह! क्या कोई ऐसी औषधि नहीं है, जो जन्म के सस्कारों को मिटा दे! भगवान से वह सदैव प्रार्थना करती कि मेरी श्रद्धा कभी काँटों में

न उलझे। वह वचन और कर्म से, विचार और व्यवहार से उसके समुख नारी-जीवन का ऊँचा आदर्श रखेगी। श्रद्धा इतनी सरल, इतनी प्रगल्भ, इतनी चतुर थी कि कभी-कभी कोकिला वात्सल्य से गद्गद होकर उसके तलवों को अपने मस्तक से रगड़ती और पश्चात्ताप तथा हर्ष के आँसू बहाती।

(२)

सोलह वर्ष बीत गये। पहले की भोली भाली श्रद्धा अब एक सगर्व-शांत, लज्जाशील नवयौवना थी, जिसे देखकर आँखे तृप्त हो जाती थीं। विद्या की उपासिका थी; पर सारे संसार से विमुख। जिनके साथ वह पढ़ती थी, वे उससे बात भी न करना चाहती थीं। मातृ-स्नेह के वायुमंडल में पलकर वह घोर अभिमानिनी हो गई थी। वात्सल्य के वायुमंडल, सखी-सहेलियों के परित्याग, रात-दिन की घोर पढ़ाई और पुस्तकों के एकांतवास से अगर श्रद्धा को अहंभाव हो आया, तो आश्चर्य की कौन-सी बात है। उसे किसी से भी बोलने का अधिकार न था। विद्यालय में भले घर की लड़कियाँ उसके सहवास में अपना अपमान समझती थीं। रास्ते मे लोग उँगली उठाकर कहते—'कोकिला रंडी की लड़की है।' उसका सिर झुक जाता, कपोल क्षण भर के लिए लाल होकर दूसरे ही क्षण फिर चूने की तरह सफेद हो जाते।

श्रद्धा को एकांत से प्रेम था। विवाह को ईश्वरीय कोप समझती थीं। यदि कोकिला ने कभी उसकी बात चला दी, तो उसके माथे पर बल पड़ जाते, चमकते हुए लाल चेहरे पर कालिमा छा जाती, आँखों से झर झर आँसू बहने लगते; कोकिला चुप हो जाती। दोनों के जीवन-आदर्शों में विरोध था। कोकिला समाज के देवता की पुजारिन। श्रद्धा को समाज से, ईश्वर से और मनुष्य से घृणा। यदि संसार में उसे कोई वस्तु प्यारी थी, तो वह थीं उसकी पुस्तकें। श्रद्धा उन्हीं विद्वानों के संसर्ग मे अपना जीवन व्यतीत करती, जहाँ ऊँच-नीच का भेद नहीं, जाति-पाँति का स्थान नहीं—सबके अधिकार समान हैं। श्रद्धा की पूर्ण प्रकृति का परिचय, महाकवि रहीम के एक दोहे के पद से मिल जाता है—

'प्रेम सहित मरिबो भलो, जो विष देय बुलाय।'

अगर कोई सप्रेम बुलाकर उसे विष दे देता, तो वह नतजानु हो अपने

मस्तक से लगा लेती—किंतु अनादर से दिये हुए अमृत की भी उसकी नज़रों में कोई हक़ीकत न थी।

एक दिन कोकिला ने आँखों में आँसू भरकर श्रद्धा से कहा—क्यों मन्नी, सच बताना, तुझे यह लज्जा तो लगती ही होगी कि मैं क्यों इसकी बेटी हुई। यदि तू किसी ऊँचे कुल में पैदा हुई होती, तो क्या तब भी तेरे दिल में ऐसे विचार आते? तू मन-ही-मन मुझे ज़रूर कोसती होगी।

श्रद्धा मा का मुँह देखने लगी। माता से इतनी श्रद्धा कभी उसके दिल मे पैदा नही हुई थी। काँपते हुए स्वर मे बोली—अम्माजी, आप मुझसे ऐसा प्रश्न क्यों करती हैं? क्या मैने कभी आप का अपमान किया है? कोकिला ने गद्‌गद होकर कहा—नहीं बेटी, उस परम दयालु भगवान् से यही प्रार्थना है कि तुम्हारी-जैसी सुशील लड़की सबको दे। पर कभी-कभी यह विचार आता है कि तू अवश्य ही मेरी बेटी होकर पछताती होगी।

श्रद्धा ने धीर कंठ से कहा—अम्मा, आपकी यह भावना निर्मूल है। मैं आप से सच कहती हूँ, मुझे जितनी श्रद्धा और भक्ति आपके प्रति है, उतनी किसी के प्रति नहीं। आप की बेटी कहलाना मेरे लिए लज्जा की बात नहीं, गौरव की बात है। मनुष्य परिस्थितियो का दास होता है। आप जिस वायुमडल मे पलीं, उसका असर तो पड़ना ही था, किंतु पाप के दलदल मे फँसकर फिर निकल आना अवश्य गौरव की बात है। बहाव की ओर से नाव खे ले जाना तो बहुत सरल है, किंतु जो नाविक बहाव के प्रतिकूल खे ले जाता है, वही सच्चा नाविक है। कोकिला ने मुस्कराते हुए पूछा—तो फिर विवाह के नाम से क्यो चिढती है? श्रद्धा ने आँखे नीची करके उत्तर दिया—बिना विवाह के क्या जीवन व्यतीत नही हो सकता? मैं कुमारी ही रहकर जीवन बिताना चाहती हूँ। विद्यालय से निकलकर कॉलेज मे प्रवेश करूँगी, और दो-तीन वर्ष बाद हम दोनों स्वतन्त्र रूप से रह सकती हैं। डॉक्टर बन सकती हूँ, वकालत कर सकती हूँ, औरतों के लिए अब सब मार्ग खुल गये हैं।

कोकिला ने डरते-डरते पूछा—क्यों, क्या तुम्हारे हृदय मे कोई दूसरी इच्छा नहीं होती? किसी से प्रेम करने की अभिलाषा तेरे मन मे नहीं पैदा होती?

श्रद्धा ने एक लंबी साँस लेकर कहा—अम्माजी! प्रेम-विहीन संसार में कौन है? प्रेम मानव-जीवन का श्रेष्ठ अंग है। यदि ईश्वर की ईश्वरता कहीं देखने में आती है, तो वह केवल प्रेम में। जब कोई ऐसा व्यक्ति मिलेगा, जो मुझे वरने मे अपनी मानहानि न समझेगा, तो मैं तन-मन-धन से उसकी पूजा करूँगी; पर किसके सामने हाथ पसारकर प्रेम की भिक्षा माँगू? यदि किसी ने सुधार के क्षणिक आवेश में विवाह कर भी लिया, तो मैं प्रसन्न न हो सकूँगी। इससे तो कहीं अच्छा है कि मैं विवाह का विचार ही छोड़ दूँ।

(३)

इन्हीं दिनो महिला-मडल का एक उत्सव हुआ। कॉलेज के रसिक विद्यार्थी काफ़ी सख्या मे समिलित हुए। हॉल में तिल भर भी जगह खाली न थी। श्रद्धा भी आकर स्त्रियों की सबसे अत की पंक्ति में खड़ी हो गई। उसे यह सब स्वाँग मालूम होता था। आज प्रथम ही बार वह ऐसी सभा में सम्मिलित हुई थी।

सभा की कार्रवाई शुरू हुई। प्रधान महोदय की वक्तृता के पश्चात् प्रस्ताव पेश होने लगे और उनके समर्थन के लिए वक्तृताएँ होने लगीं; किंतु महिलाएँ या तो अपनी वक्तृताएँ भूल गयीं, या उनपर सभा का रोब ऐसा छा गया कि उनकी वक्तृता-शक्ति लोप हो गई। वे कुछ टूटे-फूटे जुमले बोलकर बैठने लगीं। सभा का रग बिगड़ने लगा। कई लेडियाँ बड़ी शान से प्लेटफार्म पर आईं; किंतु दो-तीन शब्दों से अधिक न बोल सकीं। नव-युवको को मज़ाक उड़ाने का अवसर मिला। क़हक़हे पड़ने लगे, तालियाँ बजने लगीं। श्रद्धा उनकी यह दुर्जनता देखकर तिलमिला उठी, उसका अग-प्रत्यग फड़कने लगा। प्लेटफार्म पर जाकर वह कुछ इस शान से बोली कि सभा पर आतक छा गया। कोलाहल शान्त हो गया। लोग टकटकी बाँधकर उसे देखने लगे। श्रद्धा स्वर्गीय बाला की भाँति धारावाहिक रूप मे बोल रही थी। उसके प्रत्येक शब्द से नवीनता, सजीवता और दृढ़ता प्रतीत होती थी। उसके नवयौवन की सुरभि भी चारों ओर फैलकर सभा-मडल को अवाक् कर रही थी।

सभा समाप्त हुई। लोग टीका-टिप्पणी करने लगे।

कोलेज जाते समय श्रद्धा उस नवयुवक को खोई हुई आँखो से खोजती। घर पर रोज़ चिक की आड़ से, रास्ते के आते-जाते लोगो को देखती ; लेकिन वह नवयुवक नज़र न आता।

कुछ दिनो बाद महिला-मंडल की दूसरी सभा का विज्ञापन निकला। अभी सभा होने को चार दिन बाक़ी थे। यह चारो दिन श्रद्धा ने अपना भाषण तैयार करने मे बिताये। एक-एक शब्द की खोज में घटों सिर मारती। एक-एक वाक्य को बार-बार पढ़ती। बड़े-बड़े नेताओ की स्पीचे पढ़ती और उसी तरह लिखने की कोशिश करती। जब सारी स्पीच पूरी हो गई, तो श्रद्धा अपने कमरे में जाकर कुरसियों और मेजो को सबोधित करके ज़ोर-ज़ोर पढ़ने लगी। भाषणकला के सभी लक्षण जमा हो गये थे। उपसंहार तो इतना सुंदर था कि उसे अपने ही मुख से सुनकर वह मुग्ध हो गई। इसमें कितना संगीत था, कितना आकर्षण, कितनी क्राति !

सभा का दिन आ पहुँचा। श्रद्धा मन-ही-मन भयभीत होती हुई सभा-मंडप में घुसी। हॉल भरा हुआ था और पहले दिन से भी अधिक भीड़ थी। श्रद्धा को देखते ही जनता ने तालियाँ पीटकर उसका स्वागत किया। कोलाहल होने लगा, और सभी एक स्वर में चिल्ला उठे—आप अपनी वक्तृता शुरू करे।

श्रद्धा ने मंच पर आकर एक उड़ती हुई निगाह से जनता की ओर देखा। वह काला नवयुवक जगह न मिलने के कारण, अतिम पक्ति में खड़ा हुआ था। श्रद्धा के दिल मे गुदगुदी सी होने लगी। उसने काँपते हुए स्वर मे अपनी वक्तृता शुरू की। उसकी नज़रों मे सारा हाल पुतलियों से भरा हुआ था ; अगर कोई जीवित मनुष्य था, तो वही सबसे पीछे खड़ा हुआ काला नवयुवक। उसका मुख उसी की ओर था। वह उसी से अपने भाषण की दाद माँग रही थी। हीरा परखने की आशा जौहरी से ही की जाती है।

आध घंटे तक श्रद्धा के मुख से फूलों की वर्षा होती रही। लोगों को बहुत कम ऐसी वक्तृता सुनने को मिली थी।

(४)

श्रद्धा जब सभा समाप्त होने पर घर चली, तो देखा, वही काला नव-

युवक उसके पीछे-पीछे तेज़ी से चला आ रहा है। श्रद्धा को यह मालूम था कि लोगों ने उसका भाषण बहुत पसंद किया है; लेकिन इस नवयुवक की राय सुनने का अवसर उसे नहीं मिला था। उसने अपनी चाल धीमी कर दी। दूसरे ही क्षण वह नवयुवक उसके पास पहुँच गया। दोनों कई क़दम चुपचाप चलते रहे।

अंत मे नवयुवक ने झिझकते हुए कहा—आज तो आपने कमाल कर दिया!

श्रद्धा ने प्रफुल्लता के स्रोत को दबाते हुए कहा—धन्यवाद! यह आप-की कृपा है।

नवयुवक ने कहा—मैं किस लायक हूँ। मैं ही नहीं, सारी सभा सिर धुन रही थी।

श्रद्धा—क्या आप का शुभ स्थान यहीं है?

नवयुवक—जी हाँ, यहाँ मैं एम० ए० मे पढ़ रहा हूँ। यह ऊँच-नीच का भूत न जाने कब तक हमारे सिर पर सवार रहेगा। अभाग्य से मैं भी उन लोगों में हूँ, जिन्हें ससार नीच समझता है। मैं जाति का चमार हूँ। मेरे पिता स्कूलों के इंस्पेक्टर के यहाँ अर्दली थे। उनकी सिफारिश से स्कूल में भरती हो गया। तबसे भाग्य से लड़ता-भिड़ता चला आ रहा हूँ। पहले तो स्कूल के मास्टर मुझे छूते ही न थे। वह हालत तो अब नहीं रही। किंतु लड़के अब भी मुझमे खिंचे रहते हैं।

श्रद्धा—मैं तो कुलीनता को जन्म से नहीं, धर्म से मानती हूँ।

नवयुवक—यह तो आपकी वक्तृता ही से सिद्ध हो गया है। और इसी से आपसे बातें करने का साहस भी हुआ, नहीं तो कहाँ आप, और कहाँ मैं!

श्रद्धा ने अपनी आँखे नीची करके कहा—शायद आपको मेरा हाल मालूम नहीं।

नवयुवक—बहुत अच्छी तरह मालूम है। यदि आप अपनी माताजी के दर्शन करवा सके, तो मैं आपका बड़ा आभारी होऊँगा।

'वह आपसे मिलकर बड़ी प्रसन्न होंगी! शुभनाम?'

'मुझे भगतराम कहते हैं।'

यह परिचय धीरे-धीरे स्थिर और दृढ़ होता गया ; मैत्री प्रगाढ़ होती गई। श्रद्धा की नज़रों में भगतराम एक देवता थे, और भगतराम के समक्ष श्रद्धा, मानवी रूप में देवी थी।

(५)

एक साल बीत गया। भगतराम रोज़ देवी के दर्शनों को जाता। दोनों घंटों बैठे बातें किया करते। श्रद्धा कुछ भाषण करती, तो भगतराम सब काम छोड़कर सुनने जाता। उनके मनसूबे एक थे, जीवन के आदर्श एक, रुचि एक, विचार एक। भगतराम अब प्रेम और उसके रहस्यों की मार्मिक विवेचना करता। उसकी बातों में 'रस' और 'अलंकार' का कभी इतना संयोग न हुआ था। भावों के इंगित करने में उसे कमाल हो गया था। लेकिन ठीक उन अवसरों पर, जब श्रद्धा के हृदय में गुदगुदी होने लगती, उसके कपोल उल्लास से रंजित हो जाते। भगतराम विषय पलट देता और जल्दी ही कोई बहाना बनाकर वहाँ से खिसक जाता। उसके चले जाने पर श्रद्धा हसरत के आँसू बहाती और सोचती—क्या इन्हें दिल से मेरा प्रेम नहीं?

एक दिन कोकिला ने भगतराम को एकान्त में बुलाकर कहा—बेटा! अब तो मुन्नी से तुम्हारा विवाह हो जाय, तो अच्छा। जीवन का क्या भरोसा। कहीं मर जाऊँ, तो यह साध मन ही में रह जाय।

भगतराम ने सिर हिलाकर कहा—अम्मा! ज़रा इस परीक्षा में पास हो जाने दो। जीविका का प्रश्न हल हो जाने के बाद ही विवाह शोभा देता है।

'यह सब तुम्हारा ही तो है, क्या मैं साथ बाँध ले जाऊँगी?'

'यह आपकी कृपा है अम्माजी, पर इतना निर्लज्ज न बनाइए। मैं तो आपका हो चुका, अब तो आप दुतकारें भी तो इस द्वार से नहीं टल सकता। मुझ-जैसा भाग्यवान् संसार में और कौन है। लेकिन देवी के मंदिर में जाने से पहले कुछ पान-फूल तो पास होना ही चाहिए।'

साल-भर और गुजर गया। भगतराम ने एम्० ए० की उपाधि ली और अपने ही विद्यालय में अर्थशास्त्र का अध्यापक हो गया। उस दिन कोकिला ने खूब दान-पुण्य किया। जब भगतराम ने आकर उसके पैरों पर सिर झुकाया, तो उसने उसे छाती से लगा लिया। उसे विश्वास था कि आज

भगतराम विवाह के प्रश्न को जरूर छेड़ेगा। श्रद्धा प्रतीक्षा की मूर्ति बनी हुई थी। उसका एक-एक अंग मानो सौ-सौ तार होकर प्रतिध्वनित हो रहा था। दिल पर एक नशा छाया हुआ था, पाँव ज़मीन पर न पड़ते थे। भगतराम को देखते ही मा से बोली—अम्मा, अब हमको एक हल्का-सा मोटर ले दीजिएगा।

कोकिला ने मुस्कराकर कहा—हल्का-सा क्यों? भारी-सा तो लेना। पहले कोई अच्छा सा मकान तो ठीक कर लो।

श्रद्धा भगतराम को अपने कमरे मे बुला ले गई। दोनों बैठकर नये मकान की सजावट के मनसूबे बाँधने लगे। परदे, फर्श, तस्वीरें, सबकी व्यवस्था की गई। श्रद्धा ने कहा—रुपये भी अम्माजी से ले लेंगे।

भगतराम बोला—उनसे रुपये लेते मुझे शर्म आयेगी।

श्रद्धा ने मुस्कराकर कहा—आख़िर मेरे दहेज के रुपये तो देंगी।

दोनों घंटे भर बातें करते रहे। मगर वह मार्मिक शब्द, जिसे सुनने के लिए श्रद्धा का मन आतुर हो रहा था, आज भी भगतराम के मुँह से न निकला और वह बिदा हो गया।

उसके चले जाने पर कोकिला ने डरते-डरते पूछा—आज क्या बातें हुईं?

श्रद्धा ने उसका आशय समझकर कहा—अगर मैं ऐसी भारी हो रही हूँ, तो कुएँ में क्यों नहीं डाल देती!

यह कहते-कहते उसके धैर्य की दीवार टूट गई। वह आवेश और वह वेदना, जो भीतर-ही भीतर अब तक टीस रही थी, निकल पड़ी। वह फूट फूट-कर रोने लगी।

कोकिला ने झुँझलाकर कहा—जब कुछ बातचीत ही नहीं करनी है तो रोज़ आते ही क्यो हैं? कोई ऐसा बड़ा घराना भी तो नहीं है, और न ऐसे धन्ना-सेठ ही हैं।

श्रद्धा ने आँख पोंछकर कहा—अम्माजी, मेरे सामने उन्हे कुछ न कहिए। उनके दिल मे जो कुछ है, वह मैं जानती हूँ। वह मुँह से चाहे कुछ न कहें; मगर दिल से कह चुके। और मैं चाहे कानों से कुछ न सुनूँ; पर दिल से सब कुछ सुन चुकी।

कोकिला ने श्रद्धा से कुछ भी न कहा : लेकिन दूसरे दिन भगतराम से बोली--अब किस सोच-विचार मे हो बेटा !

भगतराम ने सिर खुजलाते हुए कहा--अम्माजी, मैं तो हाजिर हूँ; लेकिन घरवाले किसी तरह राजी नहीं होते। जरा फ़ुरसत मिले, तो घर जाकर उन्हे राजी कर लूँ। मा-बाप को नाराज़ करना भी तो अच्छा नहीं !

कोकिला कुछ जवाब न दे सकी।

(६)

भगतराम के मा-बाप शहर से दूर रहते थे। यही एक उनका लडका था। उनकी सारी उमगे उसी के विवाह पर अवलबित थीं। उन्होंने कई बार उसकी शादी तय की। पर भगतराम बार-बार यहीं कहकर निकल जाता कि जब तक नौकर न हो जाऊँगा, विवाह न करूँगा। अब वह नौकर हो गया था; इसलिए दोनो माघ के एक ठडे प्रातःकाल में लदे-फँदे भगतराम के मकान पर आ पहुँचे। भगतराम ने दौड़कर उनकी पद-धूलि ली और कुशल आदि पूछने के बाद कहा--आप लोगों ने इस जाड़े-पाले मे क्यों तकलीफ़ की। मुझे बुला लिया होता।

चौधरी ने अपनी पत्नी की ओर देखकर कहा--सुनती हो बच्चा की अम्मा ! जब बुलाते हैं, तो कहते हैं कि इम्तिहान है, यह है, वह है। जब आ गये, तो कहता है बुलाया क्यों नहीं। तुम्हारा विवाह ठीक हो गया है। अब एक महीने की छुट्टी लेकर हमारे साथ चलना होगा। इसी लिए हम दोनों आये हैं।

चौधराइन--हमने कहा कि बिना गये काम नहीं चलेगा। तो आज ही दरख़ास दे दो। लड़की बड़ी सुदर; पढ़ी-लिखी, अच्छे कुल की है।

भगतराम ने लजाते हुए कहा--मेरा विवाह तो यहीं एक जगह लगा हुआ है, अगर आप लोग राज़ी हों, तो कर लूँ।

चौधरी--इस शहर में हमारी बिरादरी का कौन है, काहे बच्चा की अम्मा!

चौधराइन--यहाँ हमारी बिरादरी का तो कोई नहीं है।

भगतराम--मा-बेटी हैं। घर में रुपया भी है। लड़की ऐसी है कि तुम लोग देखकर ख़ुश हो जाओगे। मुफ्त में शादी हो जायगी।

चौधरी—क्या लड़की का बाप मर गया है ? उसका क्या नाम था ? कहाँ का रहनेवाला है। कुल-मरजाद कैसा है जब तक यह सारी बातें मालूम न हो जायँ, तब तक ब्याह कैसे हो सकता है।—क्यों बच्चा की अम्माँ

चौधराइन—हाँ, बिना इन बातों का पता लगाये कैसे हो सकता है।

भगतराम ने कोई जवाब नहीं दिया।

चौधरी—यहाँ किस महल्ले में रहती हैं मा-बेटी ! सारा शहर हमारा छाना पड़ा है, हम यहाँ कोई बीस साल रहे होंगे, क्यों बच्चा की अम्मा ?

चौधराइन—बीस साल से ज्यादा ही रहे हैं।

भगतराम—उनका घर नख़ास पर है।

चौधरी—नख़ास से किस तरफ।

भगतराम—नख़ास की सामनेवाली गली में पहला मकान उन्हीं का है। सड़क से दिखाई देता है।

चौधरी—पहला मकान तो कोकिला रंडी का है। गुलाबी रंग से पुता हुआ है न।

भगतराम ने झेंपते हुए कहा—जी हाँ, वही मकान है!

चौधरी—तो उसमें कोकिला रंडी नहीं रहती क्या ?

भगतराम—रहती क्यों नहीं, मा-बेटी, दोनों ही तो रहती हैं।

चौधरी—तो क्या कोकिला रंडी की लड़की से ब्याह करना चाहते हो ? नाक कटवाने पर लगे हो क्या ? बिरादरी में तो कोई पानी पियेगा नहीं।

चौधराइन—लूका लगा दूँगी मुँह में राँड़ के! रूप-रंग देख के लुभा गये क्या ?

भगतराम—मैं तो इसे अपने बड़े भाग्य समझता हूँ कि वह अपनी लड़की की शादी मेरे साथ करने को राज़ी है। अगर वह आज चाहे तो किसी बड़े-से-बड़े रईस के घर में शादी कर सकती है।

चौधरी—रईस उससे ब्याह न करेगा—रख लेगा। तुम्हें भगवान समाई दे, तो एक नहीं चार रखो। मरदों के लिए कौन रोक है। लेकिन जो ब्याह के लिए कहो तो ब्याह वही है, जो बिरादरी में हो।

चौधराइन—बहुत पढ़ने से आदमी बौरा जाता है।

चौधरी—हम तो गँवार आदमी हैं ; पर नहीं समझ में आता तुम्हारी यह नियत कैसे हुई ! रंडी की वेटी चाहे इन्नर की परी हो, तो भी रंडी की बेटी है। हम तुम्हारा विवाह वहाँ न होने देंगे। अगर तुमने विवाह किया, तो हम दोनों तुम्हारे ऊपर जान दे देंगे। इतना अच्छी तरह से समझ लेना—क्यों बच्चा की अम्मा !

चौधराइन—ब्याह कर लेंगे, जैसे हँसी-ठट्ठा है ! झाड़ू मार के भगा दूँगी राँड़ को ! अपनी वेटी अपने घर मे रखे।

भगतराम—अगर आप लोगो की आज्ञा नहीं है, तो मैं विवाह नहीं करूँगा ; मगर मैं किसी दूसरी औरत से भी विवाह न करूँगा।

चौधराइन—हाँ, तुम कुवाँरे रहो, यह हमें मजूर है। पतुरिया के घर मे ब्याह न करेंगे।

भगतराम ने अबकी झुँझलाकर कहा—आप उसे बार-बार पतुरिया क्यों कहती हैं। किसी ज़माने मे यह उसका पेशा रहा होगा। आज दिन वह जितने आचार-विचार से रहती है, शायद ही कोई और रहती हो। ऐसा पवित्र आचरण तो मैंने आज तक देखा ही नहीं।

भगतराम का सारा यत्न विफल हो गया। चौधराइन ने ऐसी ज़िद पकड़ी के जौ भर भी अपनी जगह से न टली।

रात को जब भगतराम अपने प्रेम-मदिर मे पहुँचा, तो उसका चेहरा उतरा हुआ था। एक-एक अग से निराशा टपक रही थी। श्रद्धा रास्ता देखती हुई घबरा रही थी कि आज इतनी रात तक आये क्यो नहीं। उन्हें क्या मालूम कि मेरे दिल की क्या हालत हो रही है। यार दोस्तों से छुट्टी मिलेगी, तो भूलकर इधर भी आ जायँगे।

कोकिला ने कहा—मै तो तुझसे कह चुकी कि उनका अब वह मिज़ाज नही रहा। फिर भी तो तू नही मानती। आख़िर इस टालमटोल की कोई हद भी है।

श्रद्धा ने दुखित होकर कहा—अम्माजी, मै आपसे हज़ार बार विनय कर चुकी हूँ कि चाहे लौकिक-रूप मे कुमारी ही क्यो न रहूँ ; लेकिन हृदय से उनकी ब्याहिता हो चुकी। अगर ऐसा आदमी विश्वास करने के काबिल नहीं है; तो फिर नहीं जानती कि किस पर विश्वास किया जा सकता है।

इसी समय भगतराम निराश की मूर्त्ति बने हुए कमरे के भीतर आये। दोनों स्त्रियों ने उनकी ओर देखा। कोकिला की आँखों में शिकायत थी, और श्रद्धा की आँखो में वेदना। कोकिला की आँखें कह रही थीं, यह क्या तुम्हारे रंग ढंग हैं! श्रद्धा की आँखे कह रही थीं—इतनी निर्दयता!

भगतराम ने धीमे, वेदनापूर्ण स्वर मे कहा—आप लोगों को आज बहुत देर तक मेरी राह देखनी पड़ी, मगर मैं मजबूर था, घर से अम्मा और दादा आये हुए हैं, उन्हीं से बाते कर रहा था।

कोकिला बोली—घर पर तो सब कुशल है न?

भगतराम ने सिर झुकाये हुए कहा—जी हाँ सब कुशल है। मेरे विवाह का मसला पेश था। पुराने खयाल के आदमी हैं, किसी तरह भी राज़ी नहीं होते।

कोकिला का मुख तमतमा उठा, बोली—हाँ, क्यो राज़ी होंगे। हम लोग उनसे भी नीच हैं न, लेकिन जब तुम उनकी इच्छा के दास थे, तो तुम्हे उनसे पूछकर यहाँ आना-जाना चाहिए था। इस तरह हमारा अपमान करके तुम्हें क्या मिला। यदि मुझे मालूम होता कि तुम अपने मा-बाप के इतने गुलाम हो, तो यह नौबत ही काहे को आती।

श्रद्धा ने देखा कि भगतराम की आँखों से आँसू गिर रहे हैं।

विनीत भाव से बोली—अम्माजी, मा बाप की मरजी का गुलाम होना कोई पाप नहीं है। अगर मैं आपकी उपेक्षा करूँ, तो क्या आपको दुःख न होगा? यही हाल उन लोगों का भी तो होगा।

श्रद्धा यह कहती हुई अपने कमरे की ओर चली, और इशारे से भगत राम को भी बुलाया। कमरे में बैठकर दोनों कई मिनट तक पृथ्वी की ओर ताकते रहे। किसी मे भी साहस न था कि उस सन्नाटे को तोड़े।

अत मे भगतराम ने पुरुषोचित वीरता से काम लिया और कहा—श्रद्धा, इस समय मेरे हृदय के भीतर तुमुल युद्ध हो रहा है। मै शब्दो मे अपनी दशा बयान नही कर सकता। जी चाहता है कि विष खाकर जान दे दूँ। तुमसे अलग रहकर जीवित नहीं रह सकता—केवल तड़प सकता हूँ। मैंने न-जाने उनकी कितनी खुशामद की, कितना रोया, कितना गिड़गिडाया;

लेकिन दोनों अपनी बातों पर अड़े रहे। बार-बार यही कहते रहे कि अगर यह ब्याह होगा, तो हम दोनों तुमपर अपनी जान दे देंगे। उन्हें मेरी मौत मंजूर है; लेकिन तुम मेरे हृदय की रानी बनो, यह मंजूर नहीं।

श्रद्धा ने सान्त्वना देते हुए कहा—प्यारे, मुझसे उनका घृणा करना उचित है। पढ़े-लिखे आदमियो में ही ऐसे कितने निकलेंगे। इसमे उनका कोई दोष नही। मैं सबेरे उनके दर्शन करने जाऊँगी, शायद मुझे देखकर उनका दिल पिघल जाय। मैं हर तरह से उनकी सेवा करूँगी, उनकी धोतियाँ धोऊँगी, उनके पैर दाबा करूँगी, मैं वह सब करूँगी, जो उनकी मनचाही बहू करती। इसमें लज्जा की कौन बात। उनके तलवे सहलाऊँगी,—भजन गाकर सुनाऊँगी—मुझे बहुत से दिहाती गीत आते हैं। अम्माजी के सिर के सफेद बाल चुनूँगी। मैं दया नहीं चाहती, मैं तो प्रेम की चेरी हूँ। तुम्हारे लिए मैं सब कुछ करूँगी—सब कुछ।

भगतराम को ऐसा मालूम हुआ, मानो उसकी आँखो की ज्योति बढ़ गई है, अथवा शरीर में कोई दूसरी ज्योतिर्मय आत्मा आ गई है। उसके हृदय का सारा अनुराग, सारा विश्वास, सारी भक्ति आँखों से उमड़ श्रद्धा के पैरो की ओर जाती हुई मालूम हुई, मानो किसी घर से नन्हें-नन्हे लाल, कपोलवाले, रेशमी कपड़ोंवाले, घुँघराले बालोंवाले बच्चे हँसते हुए निकल-कर खेलने जा रहे हों।

(७)

चौधरी और चौधराइन को शहर आये हुए दो सप्ताह बीत गये। वे रोज़ जाने के लिए कमर कसते; लेकिन फिर रह जाते। श्रद्धा उन्हें जाने न देती। सबेरे जब उनकी आँखें खुलती, तो श्रद्धा उनके स्नान के लिए पानी तपाती हुई होती, चौधरी को अपना हुक्का भरा हुआ मिलता। वे लोग ज्यों ही नहाकर उठते, श्रद्धा उनकी धोती छाँटने लगती। दोनों उसकी सेवा और अविरत परिश्रम देखकर दंग रह जाते। ऐसी सुंदर, ऐसी मधुरभाषिणी, ऐसी हँसमुख, और चतुर रमणी, चौधरी ने इसपेक्टर साहब के घर मे भी न देखी थी। चौधरी को वह देवी मालूम होती—और चौधराइन को लक्ष्मी। दोनों श्रद्धा की सेवा, और अटल प्रेम पर आश्चर्य करते थे; किन्तु तो भी

कलंक और बिरादरी का प्रश्न उनके मुँह पर मुहर लगाये हुए था। पन्द्रहवें दिन जब श्रद्धा दस बजे रात को अपने घर चली गई, तो चौधरी ने चौधराइन से कहा--लड़की तो साक्षात् लक्ष्मी है।

चौधराइन--जब मेरी धोती छाँटने लगती है, तो मैं मारे लाज के कट जाती हूँ। हमारी तरह तो इसकी लौंडी होगी।

चौधरी--फिर क्या सलाह देती हो--अपनी बिरादरी में तो ऐसी सुघर लड़की मिलने की नहीं।

चौधराइन--राम का नाम लेकर ब्याह करो। बहुत होगा रोटी पड़ जायगी। पाँच बीसी में तो रोटी होती है, कौन छप्पन टके लगते हैं। पहले हमें सका होती थी कि पतुरिया की लड़की, न-जाने कैसी हो, कैसी न हो; पर अब सारी सका मिट गई।

चौधरी--जब बातें करती है, तो मालूम होता है, मुँह से फूल झडते हैं।

चौधराइन--मैं तो उसकी मा को बखानती हूँ, जिसकी कोख से ऐसी लच्छमी जनमी।

चौधरी--कल चलो कोकिला से मिलकर सब ठीक-ठाक कर आयें।

चौधराइन--मुझे तो उसके घर जाते शरम लगती है। वह रानी बनी बैठी होगी, मैं तो उसकी लौंडी मालूम होऊँगी।

चौधरी--तो फिर पाउडर मँगाकर मुँह मे पोत लो--गोरी हो जाओगी। इसपेक्टर साहब की मेम भी तो रोज पाउडर लगाती थीं। रग तो साँवला था; पर जब पाउडर लगा लेती, तो मुँह चमकने लगता था।

चौधराइन--हँसी करोगे तो गाली दूँगी हाँ। काली कमली पर कोई रंग चढता है, जो पाउडर चढ जायगा? तुम तो सचमुच उसके चौकीदार से लगोगे।

चौधरी--तो कल मुँहअँधेरे चल दें। अगर कहीं श्रद्धा आ गई, तो फिर गला न छोड़ेगी। बच्चा से कह देंगे कि पडित से सायत-मिती सब ठीक कर लो। फिर हँसकर कहा--उन्हें तो आप ही जल्दी होगी।

चौधराइन भी पुराने दिन याद करके मुस्कराने लगी।

(८)

चौधरी और चौधराइन का मत पाकर कोकिला विवाह का आयोजन करने लगी। कपड़े बनवाये जाने लगे। बरतनों की दूकानें छानी जाने लगीं और गहनों के लिए सुनार के पास 'आर्डर' जाने लगे। लेकिन न-मालूम क्यों भगतराम के मुख पर प्रसन्नता का चिह्न तक न था। श्रद्धा के यहाँ नित्य की भाँति जाता; किंतु उदास, कुछ भूला हुआ-सा बैठा रहता। घंटों आत्म-विस्मृति की अवस्था में, शून्य दृष्टि से आकाश अथवा पृथ्वी की ओर देखा करता। श्रद्धा उसे अपने क़ीमती कपड़े और जड़ाऊ गहने दिखलाती। उसके अंग-प्रत्यंग से आशाओं की स्फूर्ति छलकी पड़ती थी। इस नशे में वह भगत-राम की आँखों में छिपे हुए आँसुओं को न देख पाती थी।

इधर चौधरी भी तैयारियाँ कर रहे थे। बार-बार शहर आते और विवाह के सामान मोल ले जाते। भगतराम के स्वतंत्र विचारवाले मित्र उसके भाग्य पर ईर्ष्या करते थे। अप्सरा-जैसी सुंदर स्त्री, कारूँ का ख़जाने-जैसी दौलत, दोनो साथ ही किसे मयस्सर होते हैं? किंतु वह जो मित्रों की ईर्ष्या, कोकिला की प्रसन्नता, श्रद्धा की मनोकामना और चौधरी और चौधराइन के आनंद का कारण था, छिप-छिपकर रोता था, अपने जीवन से दुःखी था। चिराग़ तले अँधेरा छाया हुआ था। इस छिपे हुए तूफ़ान की किसी को भी खबर न थी, जो उसके हृदय में हाहाकार मचा रहा था।

ज्यों-ज्यों विवाह का दिन समीप आता था, भगतराम की बनावटी उमंग भी ठंडी पड़ती थी। जब चार दिन रह गये, तो उसे हलका-सा ज्वर आ गया। वह श्रद्धा के घर भी न जा सका। चौधरी और चौधराइन तथा अन्य बिरादरी के लोग भी आ पहुँचे थे; किंतु सब-के-सब विवाह की धुन में इतने मस्त थे कि किसी का भी ध्यान उसकी ओर न गया।

दूसरे दिन भी वह घर से न निकल सका! श्रद्धा ने समझा कि विवाह की रीतियों से छुट्टी न मिली होगी। तीसरे दिन चौधराइन भगतराम को बुलाने गईं, तो देखा कि वह सहमी हुई विस्फारित आँखों से कमरे के एक कोने की ओर देखता हुआ दोनो हाथ सामने किये, पीछे हट रहा है, मानो अपने को किसी के वार से बचा रहा हो। चौधराइन ने घबराकर पूछा—बच्चा, कैसा जी

है ? पीछे इस तरह क्यों चले जा रहे हो ? यहाँ तो कोई नहीं है।

भगतराम के मुख पर पागलों जैसी अचेतनता थी। आँखों में भय छाया हुआ था। भीत स्वर मे बोला—नहीं अम्माजी देखो, वह श्रद्धा चली आ रही है! देखो, उसके दोनों हाथों मे दो काली नागिनें हैं। वह मुझे उन नागिनो से डसवाना चाहती है! अरे अम्मा! देखो, वह नजदीक आ गई। श्रद्धा! श्रद्धा!! तुम मेरी जान की क्यों बैरिन हो गई हो! क्या मेरे असीम प्रेम का यही परिणाम है ? मैं तो तुम्हारे चरणों पर बलि होने के लिए सदैव तत्पर था। इस जीवन का मूल्य ही क्या है। तुम इन नागिनों को दूर फेंक दो। मैं यहीं तुम्हारे चरणों पर लेटकर यह जान तुम पर न्योछावर कर दूँगा।......हैं, हैं, तुम न मानोगी ?

यह कहकर वह चित गिर पड़ा। चौधराइन ने लपककर चौधरी को बुलाया। दोनों ने भगतराम को उठाकर चारपाई पर लिटा दिया। चौधरी का ध्यान किसी आसेब की ओर गया। वह तुरत ही लौंग और राख लेकर आसेब उतारने का आयोजन करने लगे। स्वयं यंत्र-मंत्र में निपुण थे। भगतराम का सारा शरीर ठंडा था, किंतु सिर तवे की तरह तप रहा था।

रात को भगतराम कई बार चौंककर उठा। चौधरी ने हर बार मंत्र फूँककर अपने ख़याल से आसेब को भगाया।

चौधराइन ने कहा—कोई डाक्टर क्यों नहीं बुलवाते। शायद दवा से कुछ फायदा हो। कल ब्याह और आज यह हाल।

चौधरी ने निःशंक भाव से कहा—डाक्टर आकर क्या करेगा। वही पीपलवाले बाबा तो हैं। दवा-दारू करना उनसे और रार बढ़ाना है। रात जाने दो। सवेरे होते ही एक बकरा और एक बोतल दारू उनकी भेंट की जायगी। बस, और कुछ करने की जरूरत नहीं। डाक्टर बीमारी की दवा करता है कि हवा-बयार की ? बीमारी उन्हें कोई नहीं है, कुल के बाहर ब्याह करने ही से देवता लोग रूठ गये हैं।

सवेरे चौधरी ने एक बकरा मँगवाया। स्त्रियाँ गाती-बजाती हुई देवी के चौतरे की ओर चलीं। जब लोग लौटकर आये, तो देखा कि भगतराम की हालत खराब है। उसकी नाड़ी धीरे-धीरे बंद हो रही थी। मुख पर मृत्यु-

विभीषिका की छाप थी। उसके दोनों नेत्रो से आँसू बहकर गालो पर ढुलक रहे थे, मानों अपूर्ण इच्छा का अतिम सदेश निर्दय ससार को सुना रहे हों। जीवन का कितना वेदना-पूर्ण दृश्य था—आँसू की दो बूँदे !

अब चौधरी घबराये। तुरत ही कोकिला को ख़बर दी। एक आदमी डाक्टर के पास भेजा। डाक्टर के आने मे तो देर थी—वह भगतराम के मित्रों मे से थे; किंतु कोकिला और श्रद्धा आदमी के साथ ही आ पहुँचीं। श्रद्धा भगतराम के सामने आकर खड़ी हो गई। आँखों से आँसू बहने लगे।

थोड़ी देर मे भगतराम ने आँखे खोलीं और श्रद्धा की ओर देखकर बोले—तुम आ गई श्रद्धा, मैं तुम्हारी ही राह देख रहा था। यह अतिम प्यार लो। आज ही सब 'आगा-पीछा' का अत हो जायगा, जो आज से तीन वर्ष पूर्व आरभ हुआ था। इन तीन वर्षों में मुझे जो आत्मिक यत्रणा मिली है, हृदय ही जानता है। तुम वफ़ा की देवी हो; लेकिन मुझे रह रहकर यह भ्रम होता था, क्या तुम ख़ून के असर का नाश कर सकती हो? क्या तुम एक ही बार अपनी परपरा की रीति छोड़ सकोगी? क्या तुम जन्म के प्राकृतिक नियमो को तोड़ सकोगी? इन भ्रम-पूर्ण विचारों के लिए शोक न करना। मैं तुम्हारे योग्य न था—किसी प्रकार भी, और कभी भी तुम्हारे जैसा महान् हृदय न बन सका। हाँ, इस भ्रम के वश मे पड़कर संसार से मैं अपनी इच्छाएँ बिना पूर्ण किये ही जा रहा हूँ। तुम्हारे अगाध, निष्कपट, निर्मल प्रेम की स्मृति सदैव ही मेरे साथ रहेगी। किंतु हाय अफ़सोस...

कहते-कहते भगतराम की आँखें फिर बद हो गईं। श्रद्धा के मुख पर गाढ़ी लालिमा दौड़ गई। उसके आँसू सूख गये। झुकी हुई गरदन तन गई। माथे पर बल पड़ गये। आँखो में आत्म-अभिमान की झलक आ गई। वह क्षण-भर वहाँ खड़ी रही और दूसरे ही क्षण नीचे आकर अपनी गाड़ी में बैठ गई। कोकिला उसके पीछे-पीछे दौड़ी हुई आई और बोली—बेटी, यह क्रोध करने का अवसर नहीं है। लोग अपने दिल में क्या कहेंगे। उनकी दशा बराबर बिगड़ती ही जाती है। तुम्हारे रहने से बुड्ढों को ढाढ़स बँधा रहेगा।

श्रद्धा ने कुछ उत्तर न दिया। कोचवान से कहा—घर चलो। हारकर कोकिला भी गाड़ी में बैठ गई।

असह्य शीत पड रहा था। आकाश मे काले बादल छाये हुए थे। शीतल वायु चल रही थी। माघ के अंतिम दिवस थे। वृक्ष, पेड-पौधे भी शीत से अकडे हुए थे। दिन के आठ बज गये थे, अभी तक लोग रज़ाई के भीतर मुँह लपेटे हुए लेटे थे। लेकिन श्रद्धा का शरीर पसीने से भींगा हुआ था। ऐसा मालूम होता था कि सूर्य की सारी उष्णता उसके शरीर की रगों में घुस गई है। उसके होठ सूख गये थे, प्यास से नहीं, आतरिक धधकती हुई अग्नि की लपटों से। उसका एक-एक अग उस अग्नि की भीषण आँच से जला जा रहा था। उसके मुख से बार-बार जलती हुई गर्म साँस निकल रही थी, मानो किसी चूल्हे की लपट हो। घर पहुँचते-पहुँचते उसका फूल-सा मुख मलीन हो गया, होठ पीले पड़ गये, जैसे किसी काले ने डस लिया हो। कोकिला बार-बार श्रद्धापूर्ण नेत्रों से उसी की ओर ताकती थी; पर क्या कहे और क्या कहकर समझाये।

घर पहुँचकर श्रद्धा अपने ऊपर के कमरे की ओर चली, किंतु उसमे शक्ति न थी कि सीढ़ियाँ चढ सके। रस्सी को मजबूती से पकड़ती हुई किसी तरह अपने कमरे में पहुँची। हाय, आध ही घटे पूर्व यहाँ की एक-एक वस्तु पर प्रसन्नता, आह्लाद, आशाओं की छाप लगी हुई थी, पर अब सबकी सब सिर धुनती हुई मालूम होती थीं। बड़े-बड़े सदूकों में जोड़े सजाये हुए रखे थे, उन्हे देखकर श्रद्धा के हृदय मे हूक उठी और वह गिर पड़ी, जैसे विहार करता हुआ और कुलाँचे भरता हुआ हिरन तीर लग जाने से गिर पड़ता है।

अचानक उसकी दृष्टि उस चित्र पर जा पड़ी जो आज तीन वर्ष से उसके जीवन का आधार हो रही थी। उस चित्र को उसने कितनी बार चूमा था, कितनी बार गले लगाया था, कितनी बार हृदय से चिपका लिया था। वे सारी बातें एक एक करके याद आ रही थीं; लेकिन उनके याद करने का भी अधिकार उसे न था।

हृदय के भीतर एक दर्द उठा, जो पहले से कहीं अधिक प्राणातक री था—जो पहले से भी अधिक तूफान के समान भयकर था। हाय! उस मरने-वाले के दिल को उसने कितनी यत्रणा पहुँचाई! भगतराम के अविश्वास का

यह जवाब, यह प्रत्युत्तर कितना रोमाचकारी और हृदयविदारक था ! हाय ! वह कैसे ऐसी निठुर हो गई ! उसका प्यारा उसकी नज़रों के सामने दम तोड़ रहा था ! उसके लिए—उसकी सान्त्वना के लिए एक शब्द भी मुँह से न निकला ! यही तो ख़ून का असर है—इसके अतिरिक्त और हो ही क्या सकता था। आज पहली बार श्रद्धा को कोकिला की बेटी होने का पछतावा हुआ। वह इतनी स्वार्थरत, इतनी हृदय-हीन है—आज ही उसे मालूम हुआ। वह त्याग, वह सेवा, वह उच्चादर्श जिसपर उसे घमंड था, ढहकर श्रद्धा के सामने गिर पड़ा ; वह अपनी ही दृष्टि में अपने को हेय समझने लगी। उस स्वर्गीय प्रेम का ऐसा नैराश्यपूर्ण उत्तर वेश्या की पुत्री के अतिरिक्त और कौन दे सकता है।

श्रद्धा उसी समय कमरे से बाहर निकलकर, वायु वेग से सीढियाँ उतरती हुई नीचे पहुँची, और भगतराम के मकान की ओर दौड़ी। वह आखिरी बार उससे गले मिलना चाहती थी। अंतिम बार उसके दर्शन करना चाहती थी। वह अनंत प्रेम के कठिन बंधनो को निभायेगी, और अंतिम श्वास तक उसी की ही बनकर रहेगी।

रास्ते में कोई सवारी न मिली। श्रद्धा थकी जा रही थी। सिर से पाँव तक पसीने से नहाई हुई थी ! न मालूम कितनी बार वह ठोकर खाकर गिरी और फिर उठकर दौड़ने लगी। उसके घुटनों से रक्त निकल रहा था, साड़ी कई जगह से फट गई थी, मगर उसे उस वक्त अपने तन-बदन की सुध तक न थी। उसका एक-एक रोआँ सहस्र कंठ हो-होकर ईश्वर से प्रार्थना कर रहा था, कि उस प्रातःकाल के दीपक की लौ थोड़ी देर और बची रहे। उसके मुँह से एक बार 'श्रद्धा' का शब्द सुनने के लिए उसकी अंतरात्मा कितनी व्याकुल हो रही थी। केवल यही एक शब्द सुनकर फिर उसकी कोई भी इच्छा अपूर्ण न रह जायगी, उसकी सारी आशाएँ सफल हो जायेंगी, सारी साध पूर्ण हो जायगी।

श्रद्धा को देखते ही चौधराइन ने दौड़कर उसका हाथ पकड़ लिया और रोती हुई बोली—

बेटी, तुम कहाँ चली गई थीं ? दो बार तुम्हारा नाम लेकर पुकार चुके हैं।

अपनी दशा, काल, स्थान, सब भूल गई। जख्मी सिपाही अपनी जीत का समाचार पाकर अपना दर्द, अपनी पीड़ा भूल जाता है। क्षण-भर के लिए मौत भी हेय हो जाती है। श्रद्धा का भी यही हाल हुआ। वह भी अपना जीवन उस प्रेम की उस निठुर वेदी पर उत्सर्ग करने के लिए तैयार हो गई, जिस पर, लैला और मजनूँ, शीरी और फरहाद—एक नहीं, हज़ारो ने अपनी बलि चढ़ा दी।

उसने चुंबन का उत्तर देते हुए कहा—प्यारे, मैं तुम्हारी हूँ, और सदा तुम्हारी ही रहूँगी।

प्रेम का उदय

भोंदू पसीने मे तर, लकड़ी का एक गट्ठा सिर पर लिये आया और उसे ज़मीन पर पटककर बंटी के सामने खड़ा हो गया, मानो पूछ रहा हो—क्या अभी तेरा मिज़ाज ठीक नहीं हुआ ?

संध्या हो गई थी, फिर भी लू चलती थी और आकाश पर गर्द छाई हुई थी। प्रकृति रक्त-शून्य देह की भाँति शिथिल हो रही थी।

भोंदू प्रातःकाल घर से निकला था। दोपहरी उसने एक पेड की छाँह में काटी थी। समझा था—इस तपस्या से देवीजी का मुँह सीधा हो जायगा; लेकिन आकर देखा, तो वह अब भी कोप-भवन में थी।

भोंदू ने बातचीत छेड़ने के इरादे से कहा—लो एक लोटा पानी दे दे, बड़ी प्यास लगी है। मर गया सारे दिन। बाजार में जाऊँगा, तो तीन आने से बेसी न मिलेगे। दो-चार साँडे मिल जाते, तो मेहनत सुफल हो जाती।

बंटी ने सिरकी के अंदर बैठे बैठे कहा—धरम भी लूटोगे और पैसे भी। मुँह धो रखो।

भोंदू ने भँवें सिकोडकर कहा—क्या धरम-धरम बकती है! धरम करना हँसी खेल नहीं है। धरम वह करता है, जिसे भगवान ने माना हो। हम क्या खाकर धरम करेंगे। भर पेट चबेना तो मिलता नहीं, धरम करेंगे!

बंटी ने अपना वार ओछा पडते देखकर चोट पर चोट की—संसार मे कुछ ऐसे महात्मा भी हैं, जो अपना पेट चाहे न भर सके, पर पडोसियों को नेवता देते फिरते हैं, नहीं सारे दिन बन-बन लकडी न तोडते फिरते। ऐसे धरमात्मा लोगों को मेहरिया रखने की क्यों सूझनी है, यही मेरी समझ में नहीं आता। धरम की गाड़ी क्या अकेले नहीं खींचते बनती?

भोंदू इस चोट से तिलमिला गया। उसकी जिरहदार नसे तन गई। माथे पर बल पड़ गये। इस अबला का मुँह वह एक डपट में बंद कर सकता था, पर डाँट-डपट उसने न सीखी थी। जिसके पराक्रम की सारे

कजड़ों में धूम थी, जो अकेला सौ-पचास जवानों का नशा उतार सकता था, इस अबला के सामने चूँ तक न कर सका। दबी ज़बान से बोला—मेहरिया धरम बेचने के लिए नहीं लाई जाती, धरम पालने के लिए लाई जाती है।

यह कजड़-दपती आज तीन दिन से और कई कजड़-परिवारो के साथ इस बाग़ में उतरा हुआ था। सारे बाग़ में सिरकियाँ ही सिरकियाँ दिखाई देती थीं। उसी तीन हाथ चौड़ी और चार हाथ लंबी सिरकी के अंदर एक-एक पूरा परिवार, जीवन के समस्त व्यापारों के साथ, कल्पवास-सा कर रहा था। एक किनारे चक्की थी, एक किनारे रसोई का स्थान, एक किनारे दो-एक अनाज के मटके। द्वार पर एक छोटी-सी खटोली बालकों के लिये पड़ी थी। हरेक परिवार के साथ दो-दो भैंसे या गधे थे। जब डेरा कूच होता था तो सारी गृहस्थी इन जानवरों पर लाद दी जाती थी। यही इन कंजडों का जीवन था। सारी बस्ती एक साथ चलती थी। आपस ही में शादी-ब्याह लेन-देन, झगड़े-टटे होते रहते थे। इस दुनिया के बाहरवाला अखिल संसार उनके लिए केवल शिकार का मैदान था। उनके किसी इलाके मे पहुँचते ही वहाँ की पुलिस तुरत आकर उन्हें अपनी निगरानी में ले लेती थी। पड़ाव के चारो तरफ चौकीदार का पहरा हो जाता था। स्त्री या पुरुष किसी गाँव मे जाते, तो दो-चार चौकीदार उनके साथ हो लेते थे। रात को भी उनकी हाज़िरी ली जाती थी। फिर भी आस-पास के गाँवों में आतंक छाया हुआ था, क्योंकि कंजड़ लोग बहुधा घरों में घुसकर जो चीज़ चाहते उठा लेते और उनके हाथ में जाकर कोई चीज़ लौट न सकती थी। रात में यह लोग अक्सर चोरी करने निकल जाते थे। चौकीदारो को उनसे मिले रहने मे ही अपनी कुशल दीखती थी। कुछ हाथ भी लगता था, और जान भी बची रहती थी। सख्ती करने मे प्राणों का भय था, कुछ मिलने का तो जिक्र ही क्या; क्योंकि कंजड़ लोग एक सीमा के बाहर किसी का दबाव न मानते थे। बस्ती में अकेला भोंदू अपनी मेहनत की कमाई खाता था; मगर इसलिए नहीं कि वह पुलीसवालों की खुशामद न कर सकता था। उसकी स्वतंत्र आत्मा अपने बाहुबल से प्राप्त

किसी वस्तु में हिस्सा देना स्वीकार न करती थी ; इसलिए वह यह नौबत आने ही न देती थी।

बटी को पति की यह आचार-निष्ठा एक आँख न भाती थी। उसकी और बहनें नई नई साड़ियाँ और नये-नये आभूषण पहनतीं, तो बटी उन्हें देख-देखकर पति की अकर्मण्यता पर कुढ़ती थी। इस विषय पर दोनों मे कितने ही सग्राम हो चुके थे, लेकिन भोंदू अपना परलोक बिगाड़ने पर राजी न होता था। आज भी प्रातःकाल यही समस्या आ खड़ी हुई थी और भोंदू लकड़ी काटने जगलों में निकल गया था। साँडे मिल जाते, तो आँसू पुँछते, पर आज साँडे भी न मिले।

बटी ने कहा—जिनसे कुछ नहीं हो सकता, वही धरमात्मा बन जाते हैं। राँड़ अपने माँड़ ही मे खुश है।

भोंदू ने पूछा—तो मैं निखट्टू हूँ !

बटी ने इस प्रश्न का सीधा-साधा उत्तर न देकर कहा—मै क्या जानूँ तुम क्या हो ? मैं तो यही जानती हूँ कि यहाँ धेले धेले के चीज के लिए तरसना पड़ता है। यहीं सबको पहनते-ओढ़ते, हँसते-खेलते देखती हूँ। क्या मुझे पहनने-ओढने, हँसने खेलने की साध नहीं है ? तुम्हारे पल्ले पड़कर ज़िदगानी नष्ट हो गई।

भोंदू ने एक क्षण विचार-मग्न रहकर कहा—जानती है, पकड़ जाऊँगा, तो तीन साल से कम की सजा न होगी।

बटी विचलित न हुई। बोली—जब और लोग नहीं पकड़ जाते, तो तुम्हीं क्यों पकड़ जाओगे ?

और लोग पुलीस को मिला लेते हैं, थानेदार के पाँव सहलाते हैं, चौकीदार की खुशामद करते हैं। तू चाहती है, मैं भी औरों की तरह सबकी चिरौरी करता फिरूँ !

बटी ने अपनी हठ न छोड़ी—मैं तुम्हारे साथ सती होने नहीं आई। फिर तुम्हारे छूरे-गड़ाँसे को कोई कहाँ तक डरे। जानवर को भी जब घास-भूसा नहीं मिलता, तो पगहा तुड़ाकर किसी के खेत मे पैठ जाता है। मैं तो आदमी हूँ।

भोंदू ने इसका कुछ जवाब न दिया। उसकी स्त्री कोई दूसरा घर कर ले, यह कल्पना उसके लिए अपमान से भरी थी। आज बटी ने पहिली बार यह धमकी दी। अब तक भोंदू इस तरफ से निश्चित था। अब यह नई संभावना उसके सम्मुख उपस्थित हुई। उस दुर्दिन को वह अपना क़ाबू चलते अपने पास न आने देगा।

आज भोंदू की दृष्टि मे वह इज्जत नहीं रही, वह भरोसा नहीं रहा। मजबूत दीवार को टिकौने की जरूरत नहीं! जब दीवार हिलने लगती है, तब हमें उसको सँभालने की चिंता होती है। आज भोदू को अपनी दीवार हिलती हुई मालूम होती थी।

आज तक बटी अपनी थी। वह जितना अपनी ओर से निश्चिन्त था, उतना ही उसकी ओर से भी था। वह जिस तरह खुद रहता था, उसी तरह उसको रखता था। जो खुद खाता था, वही उसको खिलाता था। उसके लिए कोई विशेष फिक्र न थी; पर आज उसे मालूम हुआ कि वह अपनी नहीं है, अब उसका विशेष रूप से सत्कार करना होगा, विशेष रूप से दिल-जोई करनी होगी।

सूर्यास्त हो रहा था। उसने देखा, उसका गधा चरकर चुपचाप सिर झुकाये चला आ रहा है। भोंदू ने कभी उसकी खाने-पीने की चिंता न की थी; क्योंकि गधा कभी किसी और को अपना स्वामी बनाने की धमकी न दे सकता था। भोंदू ने बाहर आकर आज गधे को पुचकारा, उसकी पीठ सहलाई और तुरत उसे पानी पिलाने के लिए डोल और रस्सी लेकर चल दिया।

(२)

इसके दूसरे ही दिन कस्बे मे एक धनी ठाकुर के घर चोरी हो गई। उस रात को भोंदू अपने डेरे पर न था। बटी ने चौकीदार से कहा—वह जगल से नहीं लौटा। प्रातःकाल भोंदू आ पहुँचा। उसकी कमर में रुपयों की एक थैली थी। कुछ सोने के गहने भी थे। बंटी ने तुरंत गहनों को ले जाकर एक वृक्ष की जड़ मे गाड दिया। रुपयो की क्या पहिचान हो सकती थी।

भोंदू ने पूछा—अगर कोई पूछे, इतने सारे रुपये कहाँ मिले, तो क्या कहोगी।

बटी ने आँखें नचाकर कहा—कह दूँगी, क्यों बताऊँ। दुनिया कमाती है, तो किसी को हिसाब देने जाती है ? हमीं क्यों अपना हिसाब दें ?

भोंदू ने संदिग्ध भाव से गर्दन हिलाकर कहा—यह कहने से गला न छूटेगा बटी ! तू कह देना, मैं तीन-चार मास से दो-दो चार-चार रुपये महीने जमा करती आई हूँ। हमारा ख़रच ही कौन बड़ा लंबा है।

दोनों ने मिलकर बहुत-से जवाब सोच निकाले—जड़ी-बूटियाँ बेचते हैं। एक-एक जड़ी के लिए मुट्ठी-मुट्ठी भर रुपये मिल जाते हैं। ख़स, साँडे, जानवरों की खालें, नख और चर्बी, सभी बेचते हैं।

इस ओर से निश्चित होकर दोनों बाजार चले। बटी ने अपने लिए तरह तरह के कपड़े, चूड़ियाँ, टिकुलियाँ, बुंदे, सेंदुर, पान, तमाखू, तेल और मिठाई ली। फिर दोनों जने शराब की दूकान गये। ख़ूब शराब पी। फिर दो बोतल शराब रात के लिए लेकर दोनों घूमते-घामते गाते-बजाते घड़ी रात गये डेरे पर लौटे। बटी के पाँव आज जमीन पर न पड़ते थे। आते ही बन-ठनकर पड़ोसियों को अपनी छवि दिखाने लगी।

जब वह लौटकर अपने घर आई और भोजन पकाने लगी, तो पड़ोसियों ने टिप्पणियाँ करनी शुरू कीं—

'कहीं गहरा हाथ मारा है।'

'बड़ा धरमात्मा बना फिरता था।'

'बगला भगत है।'

'बटी तो आज जैसे हवा में उड़ रही है।'

'आज भोंदुआ की कितनी ख़ातिर हो रही है। नहीं कभी एक लुटिया पानी देने भी न उठती थी।'

रात को भोंदू को देवी की याद आई। आज तक कभी उसने देवी की वेदी पर बकरे का बलिदान न किया था। पुलीस को मिलाने में ज्यादा खर्च था। कुछ आत्म-सम्मान भी खोना पड़ता। देवीजी केवल एक बकरे में राजी हो जाती हैं। हाँ, उससे एक ग़लती जरूर हुई थी। उसकी बिरादरी के और लोग साधारणतया कार्यसिद्धि के पहले ही बलिदान दिया करते थे। भोंदू ने यह ख़तरा न लिया। जब तक माल हाथ न आ जाय, उसके भरोसे पर देवी-

देवताओं को खिलाना उसकी व्यावसायिक बुद्धि को न जँचा। औरों से अपने कृत्य को गुप्त रखना भी चाहता था ; इसलिए किसी को सूचना भी न दी, यहाँ तक कि बटी से भी न कहा—बटी तो भोजन बना रही थी, वह बकरे की तलाश में घर से निकल पडा।

बंटी ने पूछा—अब भोजन करने के जून कहाँ चले ?

'अभी आता हूँ।'

'मत जाओ, मुझे डर लगता है।'

भोंदू स्नेह के नवीन प्रकाश से खिलकर बोला—मुझे देर न लगेगी। तू यह गँड़ासा अपने पास रख ले।

उसने गँड़ासा निकालकर बटी के पास दिया और निकला। बकरे की समस्या बेढब थी। रात को बकरा कहाँ से लाता। इस समस्या को भी उसने एक नये ढग से हल किया। पास की बस्ती में एक गड़ेरिये के पास कई बकरे पले थे। उसने सोचा, वहीं से एक बकरा उठा लाऊँ। देवीजी को अपने बलिदान से मतलब है, या इससे कि बकरा कैसे आया और कहाँ से आया।

मगर बस्ती के समीप पहुँचा ही था कि पुलीस के चार चौकीदारों ने उसे गिरफ्तार कर लिया और मुश्कें बाँधकर थाने ले चले।

(३)

बटी भोजन पकाकर अपना बनाव-सिगार करने लगी। आज उसे अपना जीवन सफल जान पड़ता था। आनंद से खिली जाती थी। आज जीवन मे पहली बार उसके सिर मे सुगंधित तेल पड़ा। आईना उसके पास एक पुराना अंधा-सा पड़ा हुआ था। आज वह नया आईना लाई थी। उसके सामने बैठकर उसने अपने केश सँवारे। मुँह पर उबटन मला। साबुन लाना भूल गई थी। साहब लोग साबुन लगाने ही से तो इतने गोरे हो जाते हैं। साबुन होता तो उसका रग कुछ तो निखर जाता। कल वह अवश्य साबुन की कई बट्टियाँ लायेगी, और रोज़ लगायेगी। केश गूँथकर उसने माथे पर अलसी का लुआब लगाया, जिसमें बाल न बिखरने पाये। फिर पान लगाये, चूना ज्यादा हो गया था। गलफडों में छाले पड गये ; लेकिन उसने समझा, शायद

पान खाने का यही मज़ा है। आख़िर कडवी मिर्च भी तो लोग मजेसे खाते हैं! गुलाबी साडी पहन और फूलो का गजरा गले में डालकर उसने आईने मे अपनी सूरत देखी, तो उसके आबनूसी रग पर लाली दौड़ गई। आप ही आप लज्जा से उसकी आँखे झुक गई। दरिद्रता की आग से नारीत्व भी भस्म हो जाता है, नारीत्व की लज्जा का क्या जिक्र। मैले-कुचैले कपड़े पहन-कर लजाना ऐसा ही है, जैसे कोई चबैने मे सुगन्ध लगाकर खाये।

इस तरह सजकर बंटी भोंदू की राह देखने लगी। जब अब भी वह न आया, तो उसका जी झुँझलाने लगा। रोज तो साँझ ही से द्वार पर पड़ रहते थे, आज न जाने कहाँ जाकर बैठ रहे। शिकारी अपनी बदूक भर लेने के बाद इसके सिवा और क्या चाहता है कि शिकार सामने आये। बटी के सूखे हृदय में आज पानी पडते ही उसका नारीत्व अकुरित होगया। झुँझलाहट के साथ उसे चिन्ता भी होने लगी। उसने बाहर निकलकर कई बार पुकारा। उसके कठ-स्वर में इतना अनुराग कभी न था। उसे कई बार भान हुआ कि भोंदू आ रहा है, वह हर बार सिरकी के अदर दौड़ आई और आईने मे सूरत देखी कि कुछ बिगड़ न गया हो। ऐसी धड़कन, ऐसी उलझन उसकी अनुभूति से बाहर थी।

बटी सारी रात भोंदू के इतजार में उद्विग्न रही। ज्यों-ज्यों रात बीतती थी, उसकी शका तीव्र होती जाती थी। आज ही उसके वास्तविक जीवन का आरभ हुआ था और आज ही यह हाल!

प्रातःकाल वह उठी, तो अभी कुछ अँधेरा ही था। इस रतजगे से उसका चित्त खिन्न और सारी देह अलसाई हुई थी। रह-रहकर भीतर से एक लहर भी उठती थी, आँखे भर-भर आती थीं।

सहसा किसी ने कहा—अरे बटी, भोंदू रात पकड़ गया।

(४)

बटी थाने पहुँची तो पसीने में तर थी और दम फूल रहा था। उसे भोंदू पर दया न थी, क्रोध आ रहा था। सारा ज़माना यही काम करता है और चैन की बसी बजाता है। इन्होंने कहते-कहते हाथ भी लगाया, तो चूक गये।

नहीं सहूर था, तो साफ कह देते, मुझसे यह काम न होगा। मैं यह थोड़े ही कहती थी, कि आग मे फाँद पड़ो।

उसे देखते ही थानेदार ने धौंस जमाई—यही तो है भोदुआ की औरत, इसे भी पकड़ लो।

बंटी ने हेकड़ी जताई—हाँ-हाँ पकड़ लो। यहाँ किसी से नहीं डरते। जब कोई काम ही नहीं करते, तो डरें क्यों।

अफसर और मातहत सभी की अनुरक्त आँखें बंटी की ओर उठने लगीं। भोदू की तरफ से लोगों के दिल कुछ नर्म हो गये। उसे धूप से छाँह मे बैठा दिया गया। उसके दोनों हाथ पीछे बँधे हुए थे और धूल धूसरित काली देह पर भी जूतों और कोड़ो के रक्तमय मार साफ नजर आ रहे थे। उसने एक बार बंटी की ओर देखा, मानो कह रहा था—देखना कहीं इन लोगों के धोखे मे न आ जाना।

थानेदार ने डाँट बताई—जरा इसकी दीदा दिलेरी देखो, जैसे देवी ही तो है; मगर इस फेर में न रहना। यहाँ तुम लोगों की नस-नस पहचानता हूँ। इतने कोड़े लगवाऊँगा कि चमड़ी उड जायगी। नहीं सीधे से क़बूल दो। सारा माल लौटा दो। इसी में ख़ैरियत है। भोदू ने बैठे-बैठे कहा—क्या क़बूल दें। जो देश को लूटते हैं, उनसे तो कोई नहीं बोलता, जो बिचारे अपनी गाढी कमाई की रोटी खाते हैं, उनका गला काटने को पुलीस भी तैयार रहती है। हमारे पास किसी की नज़र-भेंट देने के लिए पैसे नहीं हैं।

थानेदार ने कठोर स्वर से कहा—हाँ-हाँ, जो कुछ कोर कसर रह गई हो, वह पूरी कर दे। किरकिरी न होने पाये। मगर इन बैठकबाजियों से बच नहीं सकते। अगर एकबाल न किया, तो तीन साल को जाओगे। मेरा क्या बिगड़ता है। अरे छोटेसिंह, ज़रा लाल मिर्च की धूनी तो दो इसे। कोठरी बद करके पसेरी भर मिरचे सुलगा दो। अभी माल बरामद हुआ जाता है।

भोंदू ने उसी ढिठाई से कहा—दारोग़ाजी, बोटी-बोटी काट डालो; लेकिन कुछ हाथ न लगेगा। तुमने मुझे रात भर पिटवाया है, मेरी एक-एक हड्डी चूर-चूर हो गई है। कोई दूसरा होता, तो अब तक सिधार गया होता। क्या, तुम समझते हो, आदमी को रुपये, पैसे जान से भी प्यारे होते हैं? जान

ही के लिए तो आदमी सब तरह के कुकरम करता है। धूनी सुलगाकर भी देख लो।

दारोग़ाजी को अब विश्वास आया कि इस फौलाद को झुकाना मुश्किल है। भोंदू की मुखाकृति से शहीदों का-सा आत्म-समर्पण झलक रहा था। यद्यपि उनके हुक्म की तामील होने लगी, दो कांसटेबलों ने भोंदू को एक कोठरी मे बंद कर दिया, दो आदमी मिर्चें लाने दौड़े; लेकिन दारोगा की युद्ध-नीति बदल गई थी। बंटी का हृदय क्षोभ से फटा जाता था। वह जानती थी, चोरी करके एक़बाल कर लेना कंजड़ जाति की नीति में महान् लज्जा की बात है; लेकिन क्या यह सचमुच मिर्च की धूनी सुलगा देंगे? इतना कठोर है इनका हृदय! सालन बघारने मे कभी मिर्च जल जाती है, तो छींकों और खाँसियों के मारे दम निकलने लगता है। जब नाक के पास धूनी सुलगाई जायगी तब तो प्राण ही निकल जायँगे। उसने जान पर खेलकर कहा— दारोग़ाजी तुम समझते होगे कि इन ग़रीबो की पीठ पर कोई नहीं है; लेकिन मैं कहे देती हूँ, हाकिम से रत्ती-रत्ती हाल कह दूँगी। भला चाहते हो, तो उसे छोड दो, नहीं इसका फल बुरा होगा।

थानेदार ने मुस्कराकर कहा—तुझे क्या, वह मर जायगा, किसी और के नीचे बैठ जाना। जो कुछ जमा जथा लाया होगा, वह तो तेरे ही हाथ में होगी। क्यो नहीं एकबाल करके उसे छुड़ा लेती। मैं वादा करता हूँ, मुक-दमा न चलाऊँगा। सब माल लौटा दे। तूने ही उसे मंत्र दिया होगा। गुलाबी साडी और पान और खुशबूदार तेल के लिए तू ही ललच रही होगी। उसकी इतनी साँसत हो रही है और तू खड़ी देख रही है।

शायद बंटी की अंतरात्मा को यह विश्वास न था कि यह लोग इतने अमानुषीय अत्याचार कर सकते हैं, लेकिन जब सचमुच धूनी सुलगा दी गई, मिर्च की तीखी ज़हरीली झार फैली और भोंदू के खाँसने की आवाज़ें कानो मे आईं, तो उसकी आत्मा कातर हो उठी। उसका वह दुस्साहस झूठे रंग की भाँति उड़ गया। उसने दारोगाजी के पाँव पकड़ लिये और दीन भाव से बोली—मालिक, मुझ पर दया करो। मैं सब कुछ दे दूँगी।

धूनी उसी वक्त हटा ली गई।

(५)

भोंदू ने सशंक होकर पूछा—धूनी क्यों हटाते हो ?

एक चौकीदार ने कहा—तेरी औरत ने एक़बाल कर लिया।

भोंदू की नाक, आँख, मुँह से पानी जारी था। सिर चक्कर खा रहा था। गले की आवाज़ बद-सी हो गई थी ; पर वह वाक्य सुनते ही वह सचेत हो गया। उसकी दोनों मुट्ठियाँ बँध गईं। बोला—क्या कहा ?

'कहा क्या, चोरी खुल गई। दारोग़ाजी माल बरामद करने गये हुए हैं। पहले ही एकबाल कर लिया होता, तो क्यों इतनी साँसत होती।'

भोंदू ने गरजकर कहा—वह झूठ बोलती है।

'वहाँ माल बरामद हो गया, तुम अभी अपनी ही गा रहे हो।'

परम्परा की मर्यादा की अपने हाथों भंग होने की लज्जा से भोंदू का मस्तक झुक गया। इस घोर अपमान के बाद अब उसे अपना जीवन दया और घृणा और तिरस्कार इन सभी दशाओं से निखिद जान पड़ता था। वह अपने समाज में पतित हो गया था।

सहसा बटी आकर खड़ी हो गई और कुछ कहना ही चाहती थी कि भोंदू की रौद्रमुद्रा देखकर उसकी ज़बान बंद हो गई। उसे देखते ही भोंदू की आहत मर्यादा किसी आहत सर्प की भाँति तड़प उठी। उसने बटी को अंगारे-सी तपती हुई लाल आँखों से देखा। उन आँखों में हिंसा की आग जल रही थी। बटी सिर से पाँव तक काँप उठी। वह उलटे पाँव वहाँ से भागी। किसी देवता के अग्निवाण के समान वह दोनों अंगारों की सी आँखें उसके हृदय में चुभने लगीं।

थाने से निकलकर बटी ने सोचा, अब कहाँ जाऊँ ; भोंदू उसके साथ होता तो वह पड़ोसियों के तिरस्कार को सह लेती। इस दशा में उसके लिए अपने घर जाना असम्भव था। वह दोनों अंगारे की-सी आँखें उसके हृदय में चुभी जाती थीं ; लेकिन कल की सौभाग्य-विभूतियों का मोह उसे डेरे की ओर खींचने लगा। शराब की बोतल अब भी भरी धरी थी। फुलौड़ियाँ छींके पर हाँड़ी में धरी थीं, वह तीव्र लालसा, जो मृत्यु को सम्मुख देखकर

भी ससार के भोग्य पदार्थों की ओर मन को चलायमान कर देती है, उसे खींचकर डेरे की ओर ले चली।

दोपहर हो गया था। वह पडाव पर पहुँची, तो सन्नाटा छाया हुआ था। अभी कुछ देर पहले जो स्थान जीवन का क्रीड़ा-क्षेत्र बना हुआ था, बिलकुल निर्जन हो गया था। यह बिरादरीवालों के तिरस्कार का सबसे भयकर रूप था। सभी ने उसे त्याज्य समझ लिया। केवल उसकी सिरकी उस निर्जनता मे रोती हुई खड़ी थी। बटी ने उसके अदर पाँव रखे, तो उसके मन की कुछ वही दशा हुई, जो अकेला घर देखकर किसी चोर की होती है। कौन कौन-सी चीज़ समेटे। उस कुटी में उसने रो रोकर पाँच वर्ष काटे थे, पर आज उसे उससे वही ममता हो रही थी, जो किसी माता को अपने दुर्गुणी पुत्र को देखकर होती है, जो बरसो के बाद परदेस से लौटा हो। हवा से कुछ चीज़े इधर की उधर हो गई थीं। उसने तुरन्त उसे सँभालकर रखा। फुलौड़ियों की हाँडी छींके पर कुछ ठढी हो गई थी। शायद उस पर बिल्ली झपटी थी। उसने जल्दी से हाँड़ी उतार कर देखी। फुलौडियाँ अछूती थीं। पानी पर जो गीला कपडा लपेटा था, वह सूख गया था। उसने तुरत कपड़ा तर कर दिया।

किसी पाँव की आहट पाकर उसका कलेजा धक् से हो गया।। भोंदू आ रहा है। उसकी वह दोनो अगारे सी आँखें! उसके रोये खड़े हो गये। भोंदू के क्रोध का उसे दो एक बार अनुभव हो चुका था, लेकिन उसने दिल को मजबूत किया। क्यो मारेगा? कुछ कहेगा, कुछ पूछेगा, कुछ सवाल-जवाब करेगा कि यो ही गँड़ासा चला देगा। उसने उसके साथ कोई बुराई नहीं की। आफत से उसकी जान बचाई। मरजाद जान से प्यारी नहीं होती। भोंदू को होगी, उसे नहीं है। क्या इतनी सी बात के लिए वह उसकी जान ले लेगा।

उसने सिरकी के द्वार से झाँका। भोंदू न था, केवल उसका गधा चला आ रहा था।

बटी आज उस अभागे से गधे को देखकर ऐसी प्रसन्न हुई, मानों अपना भाई नैहर से बतासों की पोटली लिये थका माँदा चला आता हो। उसने

जाकर उसकी गर्दन सहलाई और उसके थूथन को अपने मुँह से लगा लिया। वह उसे फूटी आँखों न भाता था, पर आज उससे उसे कितनी आत्मीयता हो गई थी। वह दोनों अंगारे सी आँखे उसे घूर रहीं थीं। वह सिहर उठी।

उसने फिर सोचा—क्या किसी तरह न छोड़ेगा? वह रोती हुई उसके पैरों पर गिर पड़ेगी। क्या तब भी न छोड़ेगा? इन आँखों की वह कितनी सराहना किया करता था। इनमें आँसू बहते देखकर भी उसे दया न आयेगी!

बटी ने चुक्कड में शराब उँडेलकर पी ली और छींके से फुलौड़ियाँ उतार कर खाईं। जब उसे मरना ही है, तो साध क्यो रह जाय। वह दोनों अँगारे सी आँखें उसके सामने चमक रही थीं। उसने दूसरा चुक्कड़ भरा और पी गई। जहरीला ठर्रा जिसे दोपहर की गर्मी ने और भी घातक बना दिया था, देखते-देखते उसके मस्तिष्क को खौलाने लगा। बोल आधी हो गई थी।

उसने सोचा—भोंदू कहेगा, तूने इतनी दारू क्यों पी तो वह क्या कहेगी। कह देगी—हाँ, पी; क्यों न पीये, इसी के लिए तो यह सब कुछ हुआ। वह एक बूँद भी न छोड़ेगी। जो होना हो, हो। भोंदू उसे मार नहीं सकता। इतना निर्दयी नही है, इतना कायर नहीं है। उसने फिर चुक्कड भरा और पी गई। पाँच वर्ष के वैवाहिक जीवन की अतीत स्मृतियाँ उसकी आँखों के सामने खिच गईं। सैकड़ों ही बार दोनो में गृह-युद्ध हुए थे। आज बटी को हर बार अपनी ही ज्यादती मालूम हो रही थी। बिचारा जो कुछ कमाता है, उसी के हाथों पर रख देता है। अपने लिए कभी एक पैसे की तम्बाकू भी लेता है तो पैसा उसी से माँगता है। भोर से साँझ तक वन वन फिरा ही तो करता है। जो काम उससे नहीं होता वह कैसे करे।

यकायक एक कास्टेबल ने आकर कहा—अरी बटी कहाँ है? चल देख भोदुआ का हाल बे-हाल हो रहा है। अभी तक तो चुपचाप बैठा था। फिर न-जाने क्या जी मे आया कि एक पत्थर पर अपना सिर पटक दिया। मगर लहू बह रहा है। हम लोग दौड़कर पकड़ न ले, तो जान ही दे दी थी।

एक महीना बीत गया था। सन्ध्या का समय था। काली-काली घटायें

छाई थीं और मूसलधार वर्षा हो रही थी। भोंदू की सिरकी अब भी निजन स्थान पर खड़ी थी, भोंदू खटोली पर पड़ा हुआ था। उसका चेहरा पीला पड़ गया था, और देह जैसे सूख गई थी। वह सशंक आँखो से वर्षा की ओर देखता है, चाहता है उठकर बाहर देखूँ, पर उठा नहीं जाता।

बंटी सिर पर घास का एक बोझ लिये पानी मे लथ-पथ आती दिखाई दी। वही गुलाबी साड़ी है, पर तार-तार; पर उसका चेहरा प्रसन्न है। विषाद और ग्लानि के बदले आँखो से अनुराग टपक रहा है। गति में वह चपलता, अगों में वह सजीवता है, जो चित्त की शाति का चिह्न है। भोंदू ने क्षीण स्वर में कहा—तू इतना भीग रही है, कहीं बीमार पड़ गई, तो कोई एक घूँट पानी देनेवाला भी न रहेगा। मैं कहता हूँ, तू क्यों इतना मरती है। दो गट्ठे तो बेच चुकी थी। तीसरा गट्ठा लाने का काम क्या था। यह हाँड़ी में क्या लाई है?

बंटी ने हाँड़ी को छिपाते हुए कहा—कुछ तो नहीं है, कैसी हाँड़ी?

भोंदू जोर लगाकर खटोली से उठा, अचल के नीचे छिपी हुई हाँड़ी खोल दी और उसके भीतर नजर डालकर बोला—अभी लौटा, नहीं मैं हाँड़ी फोड़ दूँगा।

बंटी ने धोती से पानी निचोड़ते हुए कहा—ज़रा आईने में सूरत देखो। घी दूध कुछ न मिलेगा, तो कैसे उठोगे?—कि सदा खाट सेने का ही विचार है।

भोंदू ने खटोली पर लेटते हुए कहा—अपने लिए तो एक साड़ी नहीं लाई, कितना कहके हार गया; मेरे लिए घी और दूध सब चाहिए। मैं घी न खाऊँगा।

बंटी ने मुसकराकर कहा—इस लिए तो घी खिलाती हूँ, कि तुम जल्दी से काम-धधा करने लगो और मेरे लिए साड़ी लाओ।

भोंदू ने भी मुस्कराकर कहा—तो आज जाकर कहीं सेंध मारूँ?

बंटी ने उसके गाल पर एक ठोकर देकर कहा—पहले मेरा गला काट देना, तब जाना।

सती

मुलिया को देखते हुए उसका पति कल्लू कुछ भी नहीं है। फिर क्या कारण है कि मुलिया संतुष्ट और प्रसन्न है और कल्लू चिंतित और सशंकित ?

मुलिया को कौड़ी मिली है, उसे दूसरा कौन पूछेगा ? कल्लू को रत्न मिला है, उसके सैकड़ों ग्राहक हो सकते हैं। खास कर उसे अपने चचेरे भाई राजा से बहुत खटका रहता है। राजा रूपवान है, रसिक है, बातचीत मे कुशल है, स्त्रियों को रिझाना जानता है। इससे कल्लू मुलिया को बाहर नहीं निकलने देता। उसपर किसी की निगाह भी पड़ जाय, यह उसे असह्य है। वह अब रात-दिन मेहनत करता है, जिससे मुलिया को किसी बात का कष्ट न हो। उसे न-जाने किस पूर्व जन्म के संस्कार से ऐसी स्त्री मिल गई है। उसपर प्राणों को न्योछावर कर देना चाहता है। मुलिया का कभी सिर भी दुखता है, तो उसकी जान निकल जाती है। मुलिया का भी यह हाल है कि जब तक वह घर नहीं आता, मछली की भाँति तड़पती रहती है। गाँव में कितने ही युवक हैं, जो मुलिया से छेड़छाड़ करते रहते हैं; पर उस युवती की दृष्टि में कुरूप कलुआ संसार भर के आदमियों से अच्छा है।

एक दिन राजा ने कहा—भाभी, भैया तुम्हारे जोग न थे।

मुलिया बोली—भाग मे तो वह लिखे थे; तुम कैसे मिलते ?

राजा ने मन में समझा, बस अब मार लिया है। बोला—विधि ने यही तो भूल की।

मुलिया मुस्कराकर बोली—अपनी भूल तो वही सुधारेगा। राजा निहाल हो गया।

(२)

तीज के दिन कल्लू मुलिया के लिए लट्ठे की साड़ी लाया। चाहता तो था कोई अच्छी साड़ी ले; पर रुपये न थे और बजाज़ ने उधार न माना।

राजा भी उसी दिन अपने भाग्य की परीक्षा करना चाहता था। एक सुंदर चुंदरी लाकर मुलिया को भेंट की।

मुलिया ने कहा—मेरे लिए तो साड़ी आ गई है।

राजा बोला—मैंने देखी है। तभी तो मैं इसे ,, ,, लायक नहीं है। भैया को किफायत भी सूझती है, तो ऐसी बातो मे।

मुलिया कटाक्ष करके बोली—तुम समझा क्यो नहीं देते!

राजा पर एक कुल्हड़ का नशा चढ गया। बोला—बूढा तोता नहीं पढ़ता है।

मुलिया—मुझे तो लट्ठे की साड़ी ही पसद है।

राजा—ज़रा यह चुँदरी पहनकर देखो, कैसी खिलती है।

मुलिया—जो लट्ठा पहनाकर खुश होता है, वह चुँदरी पहन लेने से खुश न होगा। उसे चुँदरी पसद होती, तो चुदरी ही लाता।

राजा—उन्हें दिखाने का काम नहीं है।

मुलिया विस्मय से बोली—मैं क्या उनसे बिना पूछे ले लूँगी!

राजा—इसमे पूछने की कौन-सी बात है। जब वह काम पर चला जाय, पहन लेना। मैं भी देख लूँगा।

मुलिया ठट्ठा मारकर हँसती हुई बोली—यह न होगा देवरजी। कहीं देख ले, तो मेरी सामत ही आ जाय। इसे तुम लिये जाओ।

राजा ने आग्रह करके कहा—इसे न लोगी भाभी, तो मैं ज़हर खाके सो रहूँगा।

मुलिया ने साड़ी उठाकर आले पर रख दी और बोली—अच्छा लो, अब तो खुश हुए।

राजा ने उँगली पकड़ी—अभी तो भैया नहीं हैं, ज़रा पहन लो।

मुलिया ने अंदर जाकर चुदरी पहन ली और फूल की तरह महकती, दमकती बाहर आई।

राजा ने पहुँचा पकड़ने को हाथ फैलाया। बोला—ऐसी जी चाहता है कि तुम्हें लेकर भाग जाऊँ।

मुलिया उसी विनोद-भाव से बोली—जानते हो, तुम्हारे भैया का क्या हाल होगा!

यह कहते हुए उसने किवाड़ बंद कर लिये। राजा को ऐसा मालूम हुआ थाली परोसकर उसके सामने से उठा ली गई।

(३)

मुलिया का मन बार बार करता था कि चुँदरी कल्लू को दिखा दे ; पर नतीजा सोचकर रह जाती थी। उसने चुँदरी रख क्यों ली ? उसे अपने ऊपर क्रोध आ रहा था ; लेकिन राजा को कितना दुःख होता। क्या हुआ उसकी चुँदरी छन भर पहन लेने से, उसका मन तो रह गया।

लेकिन उसके प्रशात मानसा-सागर में यह एक कीट आकर उसे मथ रहा था। उसने क्यों चुँदरी रख ली ? क्या यह कल्लू के साथ विश्वासघात नहीं है ? उसका चित्त इस विचार से विकल हो गया। उसने मन को समझाया, विश्वासघात क्यों हुआ ? इसमे विश्वासघात की क्या बात है। कौन वह राजा से कुछ बोली ? जरा-सा हँस देने से अगर किसी का दिल खुश हो जाता है, तो इसमें क्या बुराई है।

कल्लू ने पूछा—आज रज्जू क्या करने आया था ?

मुलिया की देह थर-थर काँपने लगी। बहाना कर गई—तमाखू माँगने आये थे।

कल्लू ने भवे सिकोड़कर कहा—उसे अंदर मत आने दिया करो। अच्छा आदमी नहीं है।

मुलिया—मैंने कह दिया तमाखू नहीं है, तो चले गये।

कल्लू ने अबकी तेजस्विता के साथ कहा—क्यों झूठ बोलती है ? वह तमाखू माँगने नहीं आया था।

मुलिया—तो और यहाँ क्या करने आते ?

राजा—चाहे जिस काम से आया हो, तमाखू माँगने नहीं आया। वह जानता था, मेरे घर मे तमाखू नहीं है। मैं तमाखू के लिए उसके घर गया था।

मुलिया की देह मे काटो तो लहू नहीं। चेहरे का रंग उड़ गया।

सिर झुकाकर बोली—मैं किसी के मन का हाल क्या जानूँ।

आज तीजे का रतजगा था। मुलिया पूजा का सामान कर रही थी ; पर इस तरह जैसे मन में जरा भी उत्साह, जरा भी श्रद्धा नहीं है।

उसे ऐसा मालूम हो रहा है, उसके मुख में कालिमा पुत गई है और

अब वह कल्लू की आँखों से गिर गई है। उसे अपना जीवन निराधार-सा जान पड़ता था।

सोचने लगी ; भगवान ने मुझे यह रूप क्यो दिया ? यह रुप न होता, तो राजा क्यों मेरे पीछे पड़ता और क्यों आज मेरी यह गत होती ? मैं काली-कुरूप रहकर इससे कहीं सुखी रहती। तब तो मन इतना चचल न होता। जिन्हें रूप की कमाई खानी हो, वह रूप पर फूले, यहाँ तो इसने मटियामेट कर दिया।

न-जाने कब उसे झपकी आ गई, तो देखती है, कल्लू मर गया है और राजा घर में घुसकर उसे पकड़ना चाहता है। उसी दम एक वृद्धा स्त्री न-जाने किधर से आकर उसे अपनी गोद में ले लेती है। और कहती है—तूने कल्लू को क्यों मार डाला ? मुलिया रोकर कहती है—माता, मैंने उन्हें नहीं मारा। वृद्धा कहती है—हाँ, तूने छूरी कटार से नहीं मारा, उस दिन तेरा तप छीन हो गया और इसी से वह मर गया।

मुलिया ने चौंकसी आँखें खोल दीं। सामने आँगन मे कल्लू सोया हुआ था। वह दौड़ी हुई उसके पास गई और उसकी छाती पर सिर रखकर फूट-फूटकर रोने लगी।

कल्लू ने घबड़ाकर पूछा—कौन है ? मुलिया ! क्यों रोती हो ? क्या डर लग रहा है ? मैं तो जाग ही रहा हूँ।

मुलिया ने सिसकते हुए कहा—मुझसे आज एक अपराध हुआ है। उसे क्षमा कर दो।

कल्लू उठ बैठा—क्या बात है ? कहो तो ! रोती क्यों हो ?

मुलिया—राजा तमाखू माँगने नहीं आया था। मैंने तुमसे झूठ कहा था।

कल्लू हँसकर बोला—वह तो मैं पहले ही समझ गया था।

मुलिया—वह मेरे लिए चुँदरी लाया था।

'तुमने लौटा दी ?'

मुलिया काँपती हुई बोली—मैंने ले ली। कहते थे, मैं जहर-माहुर खा लूँगा।

कल्लू निर्जीव की भाँति खाट पर गिर पड़ा और बोला—तो रूप मेरे बस का नहीं है। दैव ने कुरूप बना दिया, तो सुंदर कैसे बन जाऊँ।

कल्लू ने अगर मुलिया को खौलते हुए तेल में डाल दिया होता, तो भी उसे इतनी पीड़ा न होती।

(४)

कल्लू उस दिन से कुछ खोया-खोया-सा रहने लगा। जीवन में न वह उत्साह रहा, न वह आनंद। हँसना-बोलना भूल-सा गया। मुलिया ने उसके साथ जितना विश्वासघात किया था, उससे कहीं ज्यादा उसने समझ लिया। और यह भ्रम उसके हृदय में केवड़े के समान चिपट गया। वह घर अब उसके लिए केवल लेटने-बैठने का स्थान था और मुलिया केवल भोजन बना देनेवाली मशीन। आनंद के लिए वह कभी-कभी ताड़ीखाने चला जाता, या चरस के दम लगाता।

मुलिया उसकी दशा देख-देख अंदर ही अंदर कुढ़ती थी। वह उस बात को उसके दिल से निकाल देना चाहती थी; इसलिए उसकी सेवा और मन लगाकर करती। उसे प्रसन्न करने के लिए बार-बार प्रयत्न करती; पर वह जितना ही उसको खींचने की चेष्टा करती थी, उतना ही वह उससे बिचलता था, जैसे कोई कटिये में फँसी हुई मछली हो। कुशल यह थी कि राजा जिस अँग्रेज के यहाँ खानसामा था, उसका तबादला हो गया और राजा उसके साथ चला गया था, नहीं दोनों भाइयों में से किसी न किसी का जरूर खून हो जाता। इस तरह साल भर बीत गया।

एक दिन कल्लू रात को घर लौटा, तो उसे ज्वर था। दूसरे दिन उसकी देह में दाने निकल आये। मुलिया ने समझा माता है। मान-मनौतीं करने लगी; मगर चार-पाँच दिन में ही दाने बढ़कर आवले पड़ गये और मालूम हुआ यह माता नहीं है, उपदेश है। कल्लू की कलुषित भोग-लालसा का यह फल था।

रोग इतनी भयंकरता से बढ़ने लगा कि आवलों में मवाद पड़ गया और उनमें से ऐसी दुर्गंध उड़ने लगी कि पास बैठते नाक फटती थी। देहात में जिस प्रकार का उपचार हो सकता था, वह मुलिया करती थी, पर कोई लाभ

न होता था और कल्लू की दशा दिन-दिन बिगड़ती जाती थी। उपचार की कसर वह अबला अपनी स्नेहमय सेवा से पूरी करती थी। उसपर गृहस्थी चलाने के लिये अब मेहनत-मजूरी भी करनी पड़ती थी। कल्लू तो अपने किये का फल भोग रहा था। मुलिया अपने कर्तव्य का पालन करने में मरी जा रही थी। अगर कुछ सन्तोष था, तो यह कल्लू का भ्रम उसकी इस तपस्या से भग होता जाता था। उसे अब विश्वास होने लगा था कि मुलिया अब भी उसी की है। वह अगर किसी तरह अच्छा हो जाता, तो फिर उसे दिल में छिपाकर रखता और उसकी पूजा करता।

प्रातःकाल था। मुलिया ने कल्लू का हाथ मुँह धुलाकर दवा पिलाई और खड़ी पखा डुला रही थी कि कल्लू ने आँसू भरी आँखों से देखकर कहा—मुलिया, मैंने उस जन्म मे कोई भारी तप किया था कि तुम मुझे मिल गई। तुम्हारी जगह अगर मुझे दुनिया का राज मिले तो न लूँ।

मुलिया ने दोनों हाथों से उसका मुँह बंद कर दिया और बोली—इस तरह की बातें करोगे, तो मैं रोने लगूँगी। मेरे धन्य भाग कि तुम जैसा स्वामी मिला।

यह कहते हुए उसने दोनों हाथ पति के गले में डाल दिये और लिपट गई। फिर बोली—भगवान ने मुझे मेरे पापों का दंड दिया है।

कल्लू ने उत्सुकता से पूछा—सच कह दो मूला, राजा मे और तुममें क्या मामला था।

मुलिया ने विस्मित होकर कहा—मेरे और उसके बीच कोई और मामला हुआ हो, तो भगवान मेरी दुर्गत करे। उसने मुझे चुदरी दी थी। वह मैंने ले ली थी। फिर मैंने उसे आग मे जला दिया। तबसे मैं उससे नहीं बोली।

कल्लू ने ठंडी साँस खींचकर कहा—मैंने कुछ और ही समझ रखा था। न जाने मेरी मति कहाँ हर गई थी। तुम्हें पाप लगाकर मैं आप पाप में फँस गया और उसका फल भोग रहा हूँ।

उसने रो-रोकर अपने दुष्कृत्यों का परदा खोलना शुरू किया और मुलिया आँसू की लड़ियाँ बहाकर सुनने लगी। अगर पति की चिंता न होती, तो उसने विष खा लिया होता।

कई महीने के बाद राजा छुट्टी लेकर घर आया और कल्लू की घातक बीमारी का हाल सुना, तो दिल में खुश हुआ; तीमारदारी के बहाने से कल्लू के घर आने-जाने लगा। कल्लू उसे देखकर मुँह फेर लेता, लेकिन वह दिन में दो-चार बार पहुँच ही जाता।

एक दिन मुलिया खाना पका रही थी कि राजा ने रसोई के द्वार पर आकर कहा—भाभी, क्यों अब मुझपर दया न करोगी! कितनी बेरहम हो तुम! कै दिन से तुम्हें खोज रहा हूँ, पर तुम मुझसे भागती फिरती हो। भैया अब अच्छे न होंगे। इन्हें गर्मी हो गई है। इनके साथ क्यों अपनी ज़िंदगी ख़राब कर रही हो। तुम्हारी फूल-सी देह सूख गई है। मेरे साथ चलो, कुछ ज़िंदगी की बहार उड़ायें। यह जवानी बहुत दिन न रहेगी। यह देखो, तुम्हारे लिए एक करनफूल लाया हूँ, जरा पहनकर मुझे दिखा दो।

उसने करनफूल मुलिया की ओर बढा दिया। मुलिया ने उसकी ओर देखा भी नहीं। चूल्हे की ओर ताकती हुई बोली—लाला, तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, मुझे मत छेड़ो। यह सारी विपत्ति तुम्हारी लाई हुई है। तुम्हीं मेरे शत्रु हो। फिर भी तुम्हें लाज नहीं आती। कहते हो, भैया अब किस काम के हैं? मुझे तो अब वह पहले से कहीं ज़्यादा अच्छे लगते हैं। तब मैं न होती, तो वह दूसरी सगाई कर लाते, अपने हाथों ठोक खाते। आज मैं ही उनका आधार हूँ। वह मेरे सहारे जीते हैं। अगर मैं इस संकट मे उनके साथ दग़ा करूँ, तो मुझसे बढ़कर अधम कौन होगा। और जब मैं जानती हूँ कि इस संकट का कारण भी मैं ही हूँ।

राजा ने हँसकर कहा—यह तो वही हुआ, जैसे किसी की दाल गिर गई, तो उसने कहा—मुझे तो सूखी ही अच्छी लगती है।

मुलिया ने सिर उठाकर उसकी ओर सजोत नेत्रों से ताकते हुए कहा—तुम उनकी पैरों की धूल के बराबर नहीं हो लाला, क्या कहते हो तुम! उजले कपड़े और चिकने मुखड़े से कोई आदमी सुदर नहीं होता। मेरी आँखों मे तो उनके बराबर कोई दिखाई नहीं देता।

कल्लू ने पुकारा—मूला, थोड़ा पानी दे। मुलिया पानी लेकर दौड़ी। चलते-चलते करनफूल को ऐसा ठुकराया कि आँगन में जा गिरा।

राजा ने जल्दी से करनफूल उठा लिया और क्रोध में भरा हुआ चल दिया।

(६)

रोग दिन-दिन बढ़ता गया। ठिकाने से दवा-दारू होती, तो शायद अच्छा हो जाता, मगर अकेली मुलिया क्या क्या करती? दरिद्रता में बीमारी कोढ का खाज है।

आखिर एक दिन परवाना आ पहुँचा। मुलिया घर का काम-धधा करके आई, तो देखा कल्लू की साँस चल रही है। घबड़ाकर बोली—कैसा जी है तुम्हारा?

कल्लू ने सजल और दीनता भरी आँखों से देखा और हाथ जोड़कर सर नीचा कर लिया। यही अंतिम विदाई थी।

मुलिया उसके सीने पर सिर रखकर रोने लगी और उन्माद की दशा मे उसके आहत हृदय से रक्त की बूँदों के समान शब्द निकलने लगे—तुमसे इतना भी न देखा गया भगवन्! उसपर न्यायी और दयालु कहलाते हो! इसी लिए तुमने जन्म दिया! यही खेल खेलने के लिए! हाय नाथ! तुम तो इतने निष्ठुर न थे! मुझे अकेली छोड़कर चले जा रहे हो! हाय! अब कौन मूला कहकर पुकारेगा! अब किसके लिए कुएँ से पानी खीचूँगी! किसे बैठाकर खिलाऊँगी, पखा डुलाऊँगी! सब सुख हर लिया, तो मुझे भी क्यों नहीं उठा लेते!

सारा गाँव जमा हो गया। सभी समझा रहे थे। मुलिया को धैर्य न होता था। यह सब मेरे कारण हुआ, यह बात उसे नहीं भूलती। हाय! उसे भगवान ने सामर्थ्य दिया होता, तो आज उसका सिरताज यो उठ जाता?

शव की दाह-क्रिया की तैयारियाँ होने लगीं।

(७)

कल्लू को मरे छः महीने हो गये। मुलिया अपना कमाती है, खाती है और अपने घर में पडी है। दिन-भर काम-धधे से छुट्टी नहीं मिलती। हाँ, रात को एकात में रो लिया करती है।

उधर राजा की स्त्री भी मर गई, मगर दो चार दिन के बाद वह फिर

छैला बना घूमने लगा। और भी छूटा साँड़ हो गया। पहले स्त्री से झगड़ा हो जाने का कुछ डर था। अब वह भी न रहा। अबकी नौकरी पर से लौटा, तो सीधे मुलिया के घर पहुँचा। और इधर-उधर की बाते करने के बाद बोला---भाभी, अब तो मेरी अभिलाषा पूरी करोगी या अभी और कुछ बाकी है। अब तो भैया भी नहीं रहे। इधर मेरी घरवाली भी सिधारी। मैंने तो उसका गम भुला दिया। तुम कब तक भैया के नाम को रोती रहोगी।

मुलिया ने घृणा से उसकी ओर देखकर कहा—भैया नहीं रहे तो क्या हुआ, भैया की याद तो है, उनका प्रेम तो है, उनकी सूरत तो दिल में है, उनकी बाते तो कानों मे हैं। तुम्हारे लिए और दुनियाँ के लिए वह नहीं हैं, मेरे लिए वह अब भी वैसे ही जीते-जागते हैं। मैं अब भी उन्हें वैसे ही बैठे देखती हूँ। पहले तो देह का अतर था। अब तो वह मुझसे और भी नगीच हो गये हैं। और ज्यों-ज्यों दिन बीतेंगे और भी नगीच होते जायँगे। भरे पूरे घर में दाने की कौन कदर करता है। जब घर खाली हो जाता है, तब मालूम होता है कि दाना क्या है। पैसेवाले पैसे की कदर क्या जानें। पैसे की कदर तब होती है, जब हाथ खाली हो जाता है। तब आदमी एक-एक कौड़ी दाँत से पकड़ता है। तुम्हें भगवान ने दिल ही नहीं दिया, तुम क्या जानो सोहबत क्या है। घरवाली को मरे अभी छः महीने भी नहीं हुए और तुम साँड़ बन बैठे। तुम मर गये होते तो इसी तरह वह भी अब तक किसी के पास चली गई होती! मैं जानती हूँ कि मैं मर जाती, तो मेरा सिरताज 'जन्म' भर मेरे नाम को रोया करता। ऐसे ही पुरुषों की स्त्रियाँ उनपर प्राण देती हैं। तुम जैसे सोहदों के भाग मे पत्तल चाटना लिखा है। चाटो; मगर खबरदार, आज से मेरे घर मे पाँव न रखना, नहीं तो जान से हाथ धोओगे। बस। निकल जाओ।

उसके मुख पर ऐसा तेज, स्वर मे इतनी कटुता थी कि राजा को ज़बान खोलने का भी साहस न हुआ। चुपके से निकल भागा।

मृतक भोज

सेठ रामनाथ ने रोग-शय्या पर पड़े-पड़े निराशा-पूर्ण दृष्टि से अपनी स्त्री सुशीला की ओर देखकर कहा—मैं बड़ा अभागा हूँ शीला। मेरे साथ तुम्हें सदैव ही दुख भोगना पड़ा। जब घर में कुछ न था, तो दिन-रात गृहस्थी के धधों और बच्चो के लिए मरती रहती थीं। जब ज़रा कुछ सँभला और तुम्हारे आराम करने के दिन आये, तो यों छोडे चला जा रहा हूँ। आज तक मुझे आशा थी; पर आज वह आशा टूट गई। देखो शीला, रोओ मत, ससार में सभी मरते हैं, कोई दो साल आगे, कोई दो साल पीछे। अब गृहस्थी का भार तुम्हारे ऊपर है। मैंने रुपये नहीं छोडे, लेकिन जो कुछ है उससे तुम्हारा जीवन किसी तरह कट जायगा ..यह राजा क्यों रो रहा है!

सुशीला ने आँसू पोंछकर कहा—जिद्दी हो गया है और क्या। आज सवेरे से रट लगाये हुए है कि मैं मोटर लूंगा। ५) से कम में आयेगी मोटर!

सेठजी को इधर कुछ दिनों से दोनों बालकों में बहुत स्नेह हो गया था। बोले—तो मँगा दो न एक। बेचारा कब से रो रहा है। क्या-क्या अरमान दिल में थे। सब धूल मे मिल गये। रानी के लिए बिलायती गुडियाँ भी मँगा दो। दूसरो के खिलौने देखकर तरसती रहती है। जिस धन को प्राणों से भी प्रिय समझा, वह अत को डाक्टरों ने खाया। बच्चे मुझे क्या याद करेंगे कि बाप था। अभागे बाप ने तो धन को लड़के-लडकी से प्रिय समझा। कभी पैसे की चीज भी लाकर नहीं दी।

अतिम समय जब ससार की असारता कठोर सत्य बनकर आँखों के सामने खड़ी हो जाती है, तो जो कुछ न किया उसका खेद और जो कुछ किया उसपर पश्चात्ताप मन को उदार और निष्कपट बना देता है।

सुशीला ने राजा को बुलाया और उसे छाती से लगाकर रोने लगी। वह मातृस्नेह जो पति की कृपणता से भीतर ही भीतर तड़पकर रह जाता था, इस समय जैसे खौल उठा। लेकिन मोटर के लिए रुपये कहाँ थे।

सेठजी ने पूछा—मोटर लोगे बेटा, अपनी अम्माँ से रुपये लेकर भैया के साथ जले जाओ। खूब अच्छी मोटर लाना।

राजा ने माता के आँसू और पिता का यह स्नेह देखा, तो उसका बाल-हठ जैसे पिघल गया। बोला—अभी नहीं लूँगा।

सेठजी ने पूछा—क्यों?

'जब आप अच्छे हो जायँगे तब लूँगा।'

सेठजी फूट-फूटकर रोने लगे।

(२)

तीसरे दिन सेठ रामनाथ का देहांत हो गया।

धनी के जीने से दुःख बहुतों को होता है, सुख थोड़ों को। उनके मरने से दुःख थोड़ों को होता है, सुख बहुतों को। महाब्राह्मणों की मंडली अलग सुखी है, पंडितजी अलग खुश हैं और शायद बिरादरी के लोग भी प्रसन्न हैं; इसलिए कि एक बराबर का आदमी कम हुआ। दिल से एक काँटा दूर हुआ। और पट्टीदारों का तो पूछना ही क्या। अब वह पुरानी कसर निकालेंगे। हृदय को शीतल करने का ऐसा अवसर बहुत दिनों के बाद मिला है।

आज पाँचवाँ दिन है। वह विशाल भवन सूना पड़ा है। लड़के न रोते हैं, न हँसते हैं। मन मारे मा के पास बैठे हैं और विधवा भविष्य की अपार चिंताओं के भार से दबी हुई निर्जीव-सी पड़ी है। घर में जो रुपये बच रहे थे, वे दाह-क्रिया की भेंट हो गये और अभी सारे संस्कार बाकी पड़े हैं। भगवान! कैसे बेड़ा पार लगेगा।

किसी ने द्वार पर आवाज़ दी। महरा ने आकर सेठ धनीराम के आने की सूचना दी। दोनों बालक बाहर दौड़े। सुशीला का मन भी एक क्षण के लिए हरा हो गया। सेठ धनीराम बिरादरी के सरपंच थे। अबला का क्षुब्ध-हृदय सेठजी की इस कृपा से पुलकित हो उठा। आखिर बिरादरी के मुखिया हैं। यह लोग अनाथों की खोज-खबर न लें तो कौन ले। धन्य हैं यह पुण्यात्मा लोग, जो मुसीबत में दीनों की रक्षा करते हैं।

यह सोचती हुई सुशीला घूँघट निकाले बरोठे में आकर खड़ी हो गई। देखा तो धनीरामजी के अतिरिक्त और भी कई सज्जन खड़े हैं।

धनीराम बोले—बहूजी, भाई रामनाथ की अकाल मृत्यु से हम लोगों को जो दुःख हुआ है, वह हमारा दिल ही जानता है। अभी उनकी उम्र ही क्या थी; लेकिन भगवत की इच्छा। अब ता हमारा यही धर्म है कि ईश्वर पर भरोसा रखे और आगे के लिये कोई राह निकाले। काम ऐसा करना चाहिए कि घर की आबरू बनी रहे और भाईजी की आत्मा सतुष्ट हो।

कुबेरदास ने सुशीला को कनखियों से देखते हुए कहा—मर्यादा बड़ी चीज़ है। उसकी रक्षा करना हमारा धर्म है। लेकिन कमली के बाहर पाँव निकालना भी तो उचित नहीं। कितने रुपये हैं तेरे पास बहू? क्या कहा, कुछ नहीं?

सुशीला—घर में रुपये कहाँ हैं सेठजी। जो थोड़े-बहुत थे, वह बीमारी मे उठ गये।

धनीराम—तो यह नई समस्या खड़ी हुई। ऐसी दशा में हमें क्या करना चाहिए, कुबेरदासजी?

कुबेरदास—जैसे हो, भोज तो करना ही पड़ेगा, हाँ अपनी सामर्थ देखकर काम करना चाहिए। मैं कर्ज लेने को न कहूँगा, हाँ घर में जितने रुपयों का प्रबध हो सके, उसमें हमें कोई कसर न छोड़नी चाहिए। मृत जीव के साथ भी तो हमारा कुछ कर्त्तव्य है। अब तो वह फिर कभी न आयेगा, उससे सदैव के लिए नाता टूट रहा है। इसलिए सब कुछ हैसियत के मुताबिक होना चाहिए। ब्राह्मणों को तो वही पड़ेगा कि मर्यादा का निबाह हो।

धनीराम—तो क्या तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है बहूजी? दो-चार हजार भी नहीं!

सुशीला—मैं आपसे सत्य कहती हूँ, मेरे पास कुछ नहीं है। ऐसे समय झूठ बोलूँगी?

धनीराम ने कुबेरदास की ओर अर्ध-अविश्वास से देखकर कहा—तब तो यह मकान बेचना पड़ेगा।

कुबेरदास—इसके सिवा और क्या हो सकता है। नाक कटाना तो अच्छा नहीं। रामनाथ का कितना नाम था, बिरादरी के स्तभ थे। यही इस समय एक उपाय है। २० हजार मेरे आते हैं। सूद-बट्टा लगाकर कोई

२५ हजार मेरे हो जायेंगे। बाकी भोज मे खर्च हो जायगा। अगर कुछ बच रहा तो बाल-बच्चों के काम आ जायगा।

धनीराम—आपके यहाँ कितने पर घर बधक रखा था ?

कुबेर०—२० हजार पर। रुपये सैकड़े सूद।

धनी०—मैंने तो कुछ कम सुना है।

कुबेर०—उसका तो रेहननामा रखा है। ज़बानी बात-चीत थोड़े ही है। मैं दो-चार हजार के लिए झूठ नहीं बोलूँगा।

धनी०—नहीं नहीं, यह मैं कब कहता हूँ। तो तूने सुन लिया बाई। पंचो की सलाह है कि मकान बेच दिया जाय।

सुशीला का छोटा भाई सतलाल भी इसी समय आ पहुँचा। यह अंतिम वाक्य उसके कान में पड़ गया। बोल उठा—किस लिए मकान बेच दिया जाय? बिरादरी के भोज के लिए? बिरादरी तो खा-पीकर राह लेगी, इन अनाथो की रक्षा कैसे होगी। इनके भविष्य के लिए भी तो कुछ सोचना चाहिए।

धनीराम ने कोप-भरी आँखो से देखकर कहा—आपको इन मामलों मे टाँग अड़ाने का कोई अधिकार नहीं। केवल भविष्य की चिंता करने से काम नहीं चलता। मृतक का पीछा भी किसी तरह सुधारना ही पड़ता है। आपका क्या बिगड़ेगा। हँसी तो हमारी होगी। संसार में मर्यादा से प्रिय कोई वस्तु नहीं। मर्यादा के लिए प्राण तक दे देते हैं। जब मर्यादा ही न रही, तो क्या रहा। अगर हमारी सलाह पूछोगे, तो हम यही कहेंगे। आगे बाई का अख़्तियार है, जैसा चाहे करे; पर हमसे कोई सरोकार न रहेगा। चलिए कुबेरदासजी, चलें।

सुशीला ने भयभीत होकर कहा—भैया की बातों का विचार न कीजिये, इनकी तो यह आदत है। मैंने तो आपकी बात नहीं टाली, आप मेरे बड़े हैं। घर का हाल आपको मालूम है। मैं अपने स्वामी की आत्मा को दुखी करना नहीं चाहती; लेकिन जब उनके बच्चे ठोकरे खायेंगे, तो क्या उनकी आत्मा दुखी न होगी। बेटी का ब्याह करना ही है। लड़के को पढाना-लिखाना है ही। ब्राह्मणों को खिला दीजिए; लेकिन बिरादरी करने की मुझ में सामर्थ नहीं है।

दोनों महानुभावों को जैसे थप्पड़ लगा—इतना बड़ा अधर्म ! भला ऐसी बात भी जबान से निकाली जाती है। पंच लोग अपने मुँह में कालिख न लगने देंगे। दुनिया विधवा को न हँसेगी, हँसी होगी पंचों की। यह जग-हँसाई वे कैसे सह सकते हैं। ऐसे घर के द्वार पर झाँकना भी पाप है।

सुशीला रोकर बोली—मैं अनाथ हूँ, नादान हूँ मुझपर क्रोध न कीजिए। आप लोग ही मुझे छोड़ देंगे, तो मेरा कैसे निर्वाह होगा।

इतने में दो महाशय और आ बिराजे। एक बहुत मोटे और दूसरे बहुत दुबले। नाम भी गुणों के अनुसार ही—भीमचंद और दुर्बलदास। घनीराम ने संक्षेप में यह परिस्थिति उन्हें समझा दी। दुर्बलदास ने सहृदयता से कहा—तो ऐसा क्यों नहीं करते कि हम लोग मिलकर कुछ रुपये दे दें। जब इसका लड़का सयाना हो जायगा, तो रुपये मिल ही जायँगे। अगर न भी मिलें, तो एक मित्र के लिए कुछ बल खा जाना कोई बड़ी बात नहीं।

संतलाल ने प्रसन्न होकर कहा—इतनी दया आप करेंगे, तो क्या पूछना।

कुबेरदास त्योरी चढ़ाकर बोले—तुम तो बे-सिर पैर की बातें करने लगे दुर्बलदासजी। इस वक़्त के बाजार में किसके पास फालतू रुपये रखे हुए हैं।

भीमचंद—सो तो ठीक है, बाज़ार की ऐसी मंदी तो कभी देखी नहीं; पर निबाह तो करना चाहिए।

कुबेरदास अकड़ गये। वह सुशीला के मकान पर दाँत लगाये हुए थे। ऐसी बातों से उनके स्वार्थ में बाधा पड़ती थी। वह अपने रुपये अब वसूल करके छोड़ेंगे। औरतों के झमेले में नहीं पड़ेंगे।

भीमचंद ने उन्हें किसी तरह सचेत किया, लेकिन भोज तो देना ही पड़ेगा। उस कर्तव्य का पालन न करना समाज की नाक काटना है।

सुशीला ने दुर्बलदास में सहृदयता का आभास देखा। उनकी ओर दीन नेत्रों से देखकर बोली—मैं आप लोगों से बाहर थोड़े ही हूँ। आप लोग मालिक हैं, जैसा उचित समझें वैसा करें।

दुर्बलदास—तेरे पास कुछ थोड़े-बहुत गहने तो होंगे बाई।

'हाँ गहने हैं। आधे तो बीमारी में बिक गये, आधे बचे हैं। सुशीला ने

सारे गहने लाकर पंचों के सामने रख दिये ; पर यह तो मुश्किल से तीन हजार में उठेंगे।'

दुर्बलदास ने पोटली को हाथ में तौलकर कहा—तीन हजार को कैसे जायँगे। मैं साढे तीन हजार दिला दूँगा।

भीमचंद ने फिर पोटली को तौलकर कहा—मेरी बोली चार हजार की है।

कुबेरदास को मकान की बिक्री का प्रश्न छेड़ने का अवसर फिर मिला—चार हज़ार ही में क्या हुआ जाता है। बिरादरी का भोज है या दोष मिटाना है। बिरादरी में कम से कम दस हजार का ख़रचा है। मकान तो निकालना ही पड़ेगा।

संतलाल ने ओंठ चबाकर कहा—मैं कहता हूँ आप लोग क्या इतने निर्दयी हैं! आप लोगों को अनाथ बालकों पर भी दया नहीं आती। क्या उन्हें रास्ते का भिखारी बनाकर छोड़ेंगे?

लेकिन संतलाल की फ़रियाद पर किसी ने ध्यान न दिया। मकान की बातचीत अब नहीं टाली जा सकती थी। बाज़ार मंदा है। ३० हजार से बेसी नहीं मिल सकते, २५ हजार तो कुबेरदास के हैं। पाँच हजार बचेंगे। चार हजार गैहनों से आ जायेंगे। इस तरह ९ हजार में बड़ी किफायत से ब्रह्मभोज और बिरादरी दोनों निपटा दिये जायँगे।

सुशीला ने दोनों बालको को सामने करके करबद्ध होकर कहा—पंचो, मेरे बच्चो का मुँह देखिए। मेरे घर में जो कुछ है, वह आप सब ले लीजिए; लेकिन मकान छोड़ दीजिए—मुझे कहीं ठिकाना न मिलेगा। मैं आपके पैरों पड़ती हूँ, मकान इस समय न बेंचे।

इस मूर्खता का क्या जवाब दिया जाय। पंच लोग तो खुद चाहते थे कि मकान न बेचना पड़े। उन्हें अनाथों से कोई दुश्मनी नहीं थी ; किंतु बिरादरी का भोज और किस तरह किया जाय। अगर विधवा कम से कम पाँच हज़ार का जोगाड़ और कर दे, तो मकान बच सकता है ; पर जब वह ऐसा नहीं कर सकती, तो मकान बेचने के सिवाय और तो कोई उपाय नहीं है।

कुबेरदास ने अंत में कहा—देख बाई, बाज़ार की दशा इस समय

ख़राब है। रुपये किसी से उधार नहीं मिल सकते। बाल-बच्चों के भाग मे लिखा होगा, तो भगवान और किसी हीले से देगा। हीले-रोजी, बहाने मौत। बाल बच्चों की चिंता मत कर। भगवान जिसको जन्म देते हैं, उसकी जीविका की जुगत पहले ही से कर देते हैं। हम तुझे समझाकर हार गये। अगर तू अब भी अपनी हठ न छोड़ेगी, तो हम बात भी न पूछेंगे। फिर यहाँ तेरा रहना मुश्किल हो जायगा। शहरवाले तेरे पीछे पड़ जायेंगे।

विधवा सुशीला अब और क्या करती। पचों से लड़कर वह कैसे रह सकती थी। पानी में रहकर मगर से कौन बैर कर सकता है। घर मे जाने के लिए उठी पर वहीं मूर्छित होकर गिर पड़ी। अभी तक आशा सँभाले हुई थी। बच्चों के पालन-पोषण मे वह अपना वैधव्य भूल सकती थी, पर अब तो अधकार था, चारों ओर।

(३)

सेठ रामनाथ के मित्रों का उनके घर पर पूरा अधिकार था। मित्रों का अधिकार न हो तो किसका हो। स्त्री कौन होती है। जब वह इतनी मोटी-सी बात नहीं समझती कि बिरादरी करना और धूम-धाम से दिल खोलकर करना लाजिमी बात है, तो उससे और कुछ कहना व्यर्थ है। गहने कौन खरीदे? भीमचद चार हज़ार दाम लगा चुके थे, लेकिन अब उन्हें मालूम हुआ कि उनसे भूल हुई थी। दुर्बलदास ने तीन हजार लगाये थे। इसलिए सौदा उन्हीं के हाथ हुआ। इस बात पर दुर्बलदास और भीमचद मे तक़रार भी हो गई, लेकिन भीमचद को मुँह की खानी पड़ी। न्याय दुर्बल के पक्ष मे था।

धनीराम ने कटाक्ष किया—देखो दुर्बलदास, माल तो ले जाते हो; पर तीन हज़ार से बेसी की है। मैं नीति का हत्या न होने दूँगा।

कुबेरदास बोले—अजी तो घर मे ही तो है, कहीं बाहर तो नहीं गया। एक दिन मित्रों की दावत हो जायगी।

इस पर चारों महानुभाव हँसे। इस काम से फ़ुरसत पाकर अब मकान का प्रश्न उठा। कुबेरदास ३० हज़ार देने पर तैयार थे, पर क़ानूनी कार्रवाई किये बिना सदेह की गुजाइश थी। यह गुजाइश क्योंकर रखी जाय। एक

दलाल बुलाया गया। नाटा-सा आदमी था, पोपला मुँह, कोई ७० की अवस्था। नाम था चोखेलाल।

कुबेर ने कहा—चोखेलालजी से हमारी तीस साल की दोस्ती है। आदमी क्या रत्न हैं।

भीमचंद—देखो चोखेलाल, हमें यह मकान बेचना है। इसके लिए कोई अच्छा ग्राहक लाओ। तुम्हारी दलाली पक्की।

कुबेरदास—बाज़ार का हाल अच्छा नहीं है; लेकिन फिर भी हमें यह तो देखना पड़ेगा कि रामनाथ के बाल-बच्चों को टोटा न हो। (चोखेलाल के कान में) तीस से आगे न जाना।

भीमचंद—देखिए कुबेरदास, यह अच्छी बात नहीं है।

कुबेरदास—तो मैं क्या कर रहा हूँ। मैं तो यही कह रहा था कि अच्छे ल गवाना।

चोखेलाल—आप लोगों को मुझसे यह कहने की ज़रूरत नहीं। मैं अपना धर्म समझता हूँ। रामनाथजी मेरे भी मित्र थे। मुझे यह भी मालूम है कि इस मकान के बनवाने में एक लाख से कम एक पाई भी नहीं लगे; लेकिन बाज़ार का हाल क्या आप लोगों से छिपा है। इस समय इसके २५ हज़ार से बेशी नहीं मिल सकते। सुभीते से तो कोई ग्राहक से दस-पाँच हज़ार और मिल जायेंगे; लेकिन इस समय तो २५ हज़ार भी मुश्किल से मिलेंगे। लो दही और लाव दही की बात है।

धनीराम—२५ हज़ार तो बहुत कम हैं भाई, और न सही ३० हज़ार तो करा दो।

चोखेलाल—३० क्या मैं तो ४० करा दूँ, पर कोई ग्राहक तो मिले। आप लोग कहते हैं तो मैं ३० हज़ार की बातचीत करूँगा।

धनीराम—जब तीस हज़ार में ही देना है तो कुबेरदासजी ही क्यों न लें। इतना सस्ता माल दूसरों को क्यों दिया जाय।

कुबेरदास—आप सब लोगों की राय हो, तो ऐसा ही कर लिया जाय।

धनीरामजी ने हाँ, हाँ कहकर हामी भरी। भीमचंद मन में ऐंठकर रह गये। यह सौदा भी पक्का हो गया। आज ही वकील ने बैनामा लिखा।

तुरंत रजिस्ट्री भी हो गई। सुशीला के सामने बैनामा लाया गया, तो उसने एक ठंडी साँस ली और सजल नेत्रों से उसपर हस्ताक्षर कर दिये। अब उसे उसके सिवा और कहीं शरण नहीं है। बेवफा मित्र की भाँति यह घर भी सुख के दिनों में साथ देकर दुःख के दिनों में उसका साथ छोड़ रहा है।

पंच लोग सुशीला के आँगन में बैठे बिरादरी के रुक्के लिख रहे हैं और अनाथा विधवा ऊपर झरोखे पर बैठी भाग्य को रो रही है। इधर रुक्का तैयार हुआ उधर विधवा की आँखों से आँसू की बूँदें निकलकर रुक्के पर गिर पड़ीं।

धनीराम ने ऊपर देखकर कहा—पानी का छींटा कहाँ से आया ?

संतलाल—बाई बैठी रो रही है। उसने रुक्के पर अपने रक्त के आँसुओं की मुहर लगा दी है।

धनीराम—(ऊँचे स्वर मे) अरे तो तू रो क्यों रही है बाई ? यह रोने का समय नहीं है, तुझे तो प्रसन्न होना चाहिए कि पंच लोग तेरे घर मे आज यह शुभ-कार्य करने के लिए जमा हैं। जिस पति के साथ तूने इतने दिनों भोग-विलास किया उसी का पीछा सुधारने में तू दुःख मानती है !

बिरादरी में रुक्का फिरा। इधर तीन-चार दिन पंचों ने भोज की तैयारियों मे बिताये। घी धनीरामजी की आढ़त से आया। मैदा, चीनी की आढ़त भी उन्हीं की थी। पाँचवे दिन प्रातःकाल ब्रह्मभोज हुआ। संध्या समय बिरादरी का ज्योनार। सुशीला के द्वार पर बग्घियों और मोटरों की कतारें खड़ी थीं। भीतर मेहमानों की पंगतें थीं। आँगन, बैठक, दालान, बरौठा, ऊपर की छत, नीचे ऊपर मेहमानों से भरा हुआ था। लोग भोजन करते थे और पंचो को सराहते थे।

ख़र्च तो सभी करते हैं, पर इंतज़ाम का सलीका चाहिए। ऐसे स्वादिष्ट पदार्थ बहुत कम खाने में आते हैं।

'सेठ चंपाराम के भोज के बाद ऐसा भोज रामनाथजी का ही हुआ है।'

'अमृतियाँ कैसी कुरकुरी हैं।'

'रसगुल्ले मेवों से भरे हैं।'

'सारा श्रेय पंचों को है।'

धनीराम ने नम्रता से कहा—आप भाइयों की दया है, जो ऐसा कहते

हो। रामनाथ से भाई-चारे का व्यवहार था। हम न करते तो कौन करता। चार दिन से सोना नसीब नहीं हुआ।

'आप धन्य हैं! मित्र हों तो ऐसे हों।'

'क्या बात है! आपने रामनाथजी का नाम रख लिया। बिरादरी यही खाना-खिलाना देखती है। रोकड़ देखने नहीं आती।'

मेहमान लोग बखान कर-कर तर माल उड़ा रहे थे और उधर कोठरी में बैठी हुई सुशीला सोच रही थी—ससार मे ऐसे स्वार्थी लोग हैं! सारा ससार स्वार्थमय हो गया है! सब पेटों पर हाथ फेर-फेर भोजन कर रहे हैं। कोई इतना भी नहीं पूछता कि अनाथो के लिए भी कुछ बचा या नहीं।

(४)

एक महीना गुजर गया। सुशीला को एक-एक पैसे की तंगी हो रही थी। नकद था ही नहीं, गहने निकल ही गये। अब थोड़े से बरतन बच रहे थे। उधर छोटे-छोटे बहुत-से बिल चुकाने थे। कुछ रुपये डाक्टर के, कुछ दरजी के, कुछ बनियों के। सुशीला को यह रकमे घर का बचा-खुचा सामान बेचकर चुकानी पड़ीं। और महीना पूरा होते-होते उसके पास कुछ न बचा। बेचारा संतलाल एक दूकान पर मुनीब था। कभी-कभी वह आकर एकाध रुपया दे देता। इधर खर्च का हाथ फैला हुआ था। लड़के अवस्था को समझते थे। मा को छेड़ते न थे; पर मकान के सामने से कोई खोंचेवाला निकल जाता और वह दूसरे लड़को को फल या मिठाइयाँ खाते देखते, तो उनके मुँह में पानी भरकर आँखों में भर जाता था। ऐसी ललचाई हुई आँखो से ताकते थे कि दया आती थी। वही बच्चे जो थोड़े दिन पहले मेवे-मिठाई की ओर ताकते न थे, अब एक-एक पैसे की चीज़ को तरसते थे। वही, सज्जन जिन्होंने बिरादरी का भोज करवाया था, अब घर के सामने से निकल जाते; पर कोई झाँकता न था।

शाम हो गई थी। सुशीला चूल्हा जलाये रोटियाँ सेक रही थी और दोनों बालक चूल्हे के पास रोटियों को क्षुधित नेत्रों से देख रहे थे। चूल्हे के दूसरे ऐले पर दाल थी। दाल के पकने का इंतज़ार था। लडकी ग्यारह साल की थी, लड़का आठ साल का।

मोहन अधीर होकर बोला—अम्मा, मुझे रूखी रोटियाँ ही दे दो। बड़ी भूख लगी है।

सुशीला—अभी दाल कच्ची है भैया।

रेवती—मेरे पास एक पैसा है। मैं उसका दही लिये आती हूँ।

सुशीला—तूने पैसा कहाँ पाया?

रेवती—मुझे कल अपनी गुडियों की पेटारी में मिल गया था।

सुशीला—लेकिन जल्द आइयो।

रेवती दौड़कर बाहर गई और ज़रा देर में एक पत्ते पर ज़रा-सा दही ले आई। मा ने रोटी सेककर दे दी। मोहन दही से खाने लगा। आम लड़कों की भाँति वह भी स्वार्थी था। बहन से पूछा भी नहीं।

सुशीला ने कडी आँखों से देखकर कहा—बहन को भी दे दे। अकेला ही खा जायेगा।

मोहन लज्जित हो गया। उसकी आँखे डबडबा आईं।

रेवती बोली—नहीं अम्मा, कितना मिला ही है। तुम खाओ मोहन, तुम्हें जल्दी नींद आ जाती है। मैं तो दाल पक जायगी तो खाऊँगी।

उसी वक्त दो आदमियों ने आवाज़ दी। रेवती ने बाहर जाकर पूछा। यह सेठ कुबेरदास के आदमी थे। मकान ख़ाली कराने आये थे। क्रोध से सुशीला की आँखे लाल हो गईं।

बरोठे में आकर कहा—अभी मेरे पति को पीछे हुए एक महीना भी नहीं हुआ, मकान खाली कराने की धुन सवार हो गई। मेरा ५० हज़ार का घर ३० हज़ार मे ले लिया, पाँच हजार सूद के उड़ाये, फिर भी तस्कीन नहीं होती। कह दो मैं अभी खाली नहीं करूँगी।

मुनीम ने नम्रता से कहा—बाईजी, मेरा क्या अख्तयार है। मैं तो केवल सदेसिया हूँ। जब चीज दूसरे की हो गई, तो आपको छोड़ना ही पड़ेगी। झंझट करने से क्या मतलब।

सुशीला भी समझ गई, ठीक ही कहता है। गाय हत्या के बल कै दिन खेत चरेगी। नर्म होकर बोली—सेठजी से कहो मुझे दस-पाँच दिन की मुहलत दें। लेकिन नहीं, कुछ मत कहो। क्यों दस-पाँच दिन के लिए किसी

का एहसान लूँ। मेरे भाग्य में इस घर में रहना लिखा होता, तो निकलता ही क्यों?

मुनीम ने पूछा—तो कल सवेरे तक खाली हो जायेगा?

सुशीला—हाँ, हाँ कहती तो हूँ, लेकिन सवेरे तक क्यों, मैं अभी ख़ाली किये देती हूँ। मेरे पास कौन-सा बड़ा सामान ही है। तुम्हारे सेठजी का रात भर का किराया मारा जायगा। जाकर ताला वाला लाओ या लाये हो?

मुनीम—ऐसी क्या जल्दी है बाई। कल सावधानी से ख़ाली कर दीजिएगा।

सुशीला—कल का झगड़ा क्यों रखूँ मुनीमजी, आप जाइए; ताला लाकर डाल दीजिए। यह कहती हुई सुशीला अंदर गई, बच्चों को भोजन कराया, एक रोटी आप किसी तरह निगली, बरतन धोये, फिर एक एक्का मँगवाकर उसपर अपना मुख्तसर सामान लादा और भारी हृदय से उस घर से हमेशा के लिए विदा हो गई।

जिस वक्त यह घर बनवाया था, मन में कितनी उमगें थीं। इसके प्रवेश में कई हज़ार ब्राह्मणों का भोज हुआ था। सुशीला को इतनी दौड़-धूप करनी पड़ी थी कि वह महीने भर बीमार रही थी। इसी घर में उसके दो लड़के मरे थे। यहीं उसका पति मरा था। मरनेवालों की स्मृतियों ने उसकी एक एक ईंट को पवित्र कर दिया था। एक-एक पत्थर मानों उसके हर्ष से सुखी और उसके शोक से दुखी होता था। वह घर आज उससे छूटा जा रहा है।

उसने रात एक पड़ोसी के घर में काटी और दूसरे दिन १०) महीने पर एक गली में दूसरा मकान ले लिया।

(५)

इस नये कमरे में इन अनाथों ने तीन महीने जिस कष्ट से काटे, वह समझनेवाले समझ सकते हैं। भला हो बेचारे सतलाल का। वह दस-पाँच रुपये से मदद कर दिया करता था। अगर सुशीला दरिद्र घर की होती, तो पिसाई करती; कपड़े सीती, किसी के घर में टहल करती; पर जिन कामों को बिरादरी नीचा समझती है, उनका सहारा कैसे लेती। नहीं तो लोग कहते, यह सेठ रामनाथ की स्त्री है! उस नाम की भी तो लाज रखनी

थीं। समाज के चक्रव्यूह से किसी तरह भी तो छुटकारा नहीं होता। लड़की के दो-एक गहने बच रहे थे। वह भी बिक गये। जब रोटियों ही के लाले थे, तो घर का किराया कहाँ से आता। तीन महीने के बाद घर का मालिक, जो उसी बिरादरी का एक प्रतिष्ठित व्यक्ति था, और जिसने मृतक भोज में ख़ूब बढ़ बढ़कर हाथ मारे थे, अधीर हो उठा। बेचारा कितना धैर्य रखता। ३०) का मामला है, रुपये-आठ आने की बात नहीं है। इतनी बड़ी रकम नहीं छोड़ी जाती।

आख़िर एक दिन सेठजी ने आकर लाल आँखे करके कहा—अगर तू किराया नहीं दे सकती, तो घर खाली कर दे। मैंने बिरादरी के नाते इतनी मुरौवत की। अब किसी तरह काम नहीं चल सकता।

सुशीला बोली—सेठजी, मेरे पास रुपए होते, तो पहले आपका किराया देकर तब पानी पीती। आपने इतनी मुरौवत की, इसके लिए मेरा सिर आपके चरणों पर है, लेकिन अभी मैं बिलकुल ख़ाली हाथ हूँ। यह समझ लीजिए कि एक भाई के बाल-बच्चों की परवरिस कर रहे हैं। और क्या कहूँ।

सेठ—चल-चल, इस तरह की बातें बहुत सुन चुका। बिरादरी का आदमी है, तो उसे चूस लो। कोई मुसलमान होता, तो उसे चुपके से महीने महीने दे देतीं, नहीं तो उसने निकाल बाहर किया होता। मैं बिरादरी का हूँ इसलिए मुझे किराया देने की दरकार नहीं। मुझे माँगना ही नहीं चाहिए। यही तो बिरादरी के साथ करना चाहिए।

इसी समय रेवती भी आकर खड़ी हो गई। सेठजी ने उसे सिर से पाँव तक देखा और तब किसी कारण से बोले—अच्छा, यह लड़की तो सयानी हो गई। कहीं इसकी सगाई की बात-चीत नहीं की?

रेवती तुरत भाग गई। सुशीला ने इन शब्दों मे आत्मीयता की झलक पाकर पुलकित कंठ से कहा— अभी तो कहीं बात-चीत नहीं हुई सेठजी। घर का किराया तक तो अदा नहीं कर सकती [illegible] छोटी भी तो है।

सेठजी ने तुरत शास्त्रों का आधार दिया। कन्याओं के विवाह की यही अवस्था है। धर्म को कभी नहीं छोड़ना चाहिए। किराये की कोई बात नहीं

है। हमें क्या मालूम था कि सेठ रामनाथ के परिवार की यह दशा है।

सुशीला—तो आपकी निगाह में कोई अच्छा बर है! यह तो आप जानते ही हैं, मेरे पास लेने-देने को कुछ नहीं है।

झाबरमल—(इन सेठजी का यही नाम था)—लेने-देने का कोई झगड़ा नहीं होगा बाईजी। ऐसा घर है कि लड़की आजीवन सुखी रहेगी। लड़का भी उसके साथ रह सकता है। कुल का सच्चा, हर तरह से सम्पन्न परिवार है। हाँ, वर दोहाजू (दुजवर) है।

सुशीला—उम्र अच्छी होनी चाहिए, दोहाजू होने से क्या होता है।

झाबरमल—उम्र भी कुछ ज्यादा नहीं, अभी चालीसवाँ ही साल है उसका; पर देखने में अच्छा हृष्ट-पुष्ट है। मर्द की उम्र उसका भोजन है। बस यह समझ लो कि परिवार का उद्धार हो जायगा।

सुशीला ने अनिच्छा के भाव से कहा—अच्छा, मैं सोचकर जवाब दूँगी। एक बार मुझे दिखा देना।

झाबरमल—दिखाने को कहीं नहीं जाना है बाई। वह तो तेरे सामने ही खड़ा है।

सुशीला ने घृणापूर्ण नेत्रों से उसकी ओर देखा। इस पचास साल के बुड्ढे की यह हवस! छाती का मास लटककर नाभी तक आ पहुँचा है, फिर भी विवाह की धुन सवार है। यह दुष्ट समझता है कि प्रलोभनों में पड़कर मैं अपनी लड़की उसके गले बाँध दूँगी। वह अपनी बेटी को आजीवन क्वारी रखेगी; पर ऐसे मृतक से विवाह करके उसका जीवन नष्ट न करेगी; पर उसने अपने क्रोध को शात किया। समय का फेर है, नहीं ऐसों को उससे ऐसा प्रस्ताव करने का साहस ही क्यों होता। बोली—आपकी इस कृपा के लिए आपको धन्यवाद देती हूँ सेठजी; पर मैं कन्या का विवाह आपसे नही कर सकती।

झाबरमल—तो और क्या तू समझती है कि तेरी कन्या के लिए बिरादरी में कोई कुमार मिल जायगा।

सुशीला—मेरी लड़की क्वारी रहेगी।

झाबरमल—और रामनाथजी के नाम को कलंकित करेगी।

सुशीला—तुम्हें मुझसे ऐसी बाते करते लाज नहीं आती। नाम के लिए घर खोया, सपत्ति खोई ; पर कन्या कुएँ मे नहीं डुबा सकती।

झाबरमल—तो मेरा केराया दे दे।

सुशीला—अभी मेरे पास रुपये नहीं है।

झाबरमल ने भीतर घुसकर गृहस्थी की एक-एक वस्तु निकालकर गली मे फेंक दी। घड़ा फूट गया, मटके टूट गये। सदूक के कपड़े बिखर गये। सुशीला तटस्थ खड़ी अपने अदिन की यह क्रूर क्रीड़ा देखती रही।

घर का यों विध्वस करके झाबरमल ने घर में ताला डाल दिया और अदालत से रुपये वसूल करने की धमकी देकर चले गये।

(६)

बड़ो के पास धन होता है, छोटों के पास हृदय होता है। धन से बड़े-बड़े व्यापार होते हैं, बड़े बड़े महल बनते हैं, नौकर-चाकर होते हैं, सवारी-शिकारी होती है , हृदय से समवेदना होती है, आँसू निकलते हैं।

उसी मकान से मिली हुई एक साग-भाजी बेचनेवाली खटकिन की दूकान थी। वृद्धा, विधवा, निपूती स्त्री थी, बाहर से आग, भीतर से पानी। झाबरमल को सैकड़ों सुनाई और सुशीला की एक-एक चीज़ उठाकर अपने घर में ले गई। मेरे घर में रहो बहू। मुरौवत मे आ गई, नहीं तो उसकी मूछे उखाड लेती। मौत सिर पर नाच रही है, आगे नाथ न पीछे पगहा! और धन के पीछे मरा जाता है। जाने छाती पर लादकर ले जायगा। तुम चलो मेरे घर मे रहो। मेरे यहाँ किसी बात का खटका नहीं। बस मैं अकेली हूँ। एक टुकड़ा मुझे भी दे देना।

सुशीला ने डरते डरते कहा—माता, मेरे पास सेर भर आटे के सिवा और कुछ नहीं है। मैं तुम्हें केराया कहाँ से दूँगी।

बुढ़िया ने कहा—मैं झाबरमल नहीं हूँ बहू, न कुबेरदास हूँ। मैं तो समझती हूँ, ज़िदगी में सुख भी है, दुःख भी है। सुख में इतराओ मत, दुःख में घबड़ाओ मत। तुम्हीं से चार पैसे कमाकर अपना पेट पालती हूँ। तुम्हें उस दिन भी देखा था, जब तुम महल में रहती थीं, और आज भी देख रही हूँ, जब तुम अनाथ हो। जो मिज़ाज तब था, वही अब है। मेरे धन्य भाग कि

तुम मेरे घर में आओ। मेरी आँखें फूटी हैं, जो तुमसे केराया माँगने जाऊँगी ?

इन सांत्वना से भरे हुए सरल शब्दो ने सुशीला के हृदय का बोझ हल्का कर दिया। उसने देखा, सच्ची सज्जनता भी दरिद्रों और नीचों ही के पास रहती है। बड़ों की दया भी बड़ी होती है, अहंकार का दूसरा रूप।

इस खटकिन के साथ रहते हुए सुशीला को छः महीने हो गये थे। सुशीला का उससे दिन-दिन स्नेह बढ़ता जाता था। वह जो कुछ पाती, लाकर सुशीला के हाथ में रख देती। दोनों बालक उसकी दो आँखे थीं। मजाल न थी कि पड़ोस का कोई आदमी उन्हें कड़ी आँखों से देख ले। बुढ़िया दुनिया सिर पर उठा लेती। संतलाल हर महीने कुछ-न-कुछ दे दिया करता था। इससे रोटी-दाल चली जाती थी।

कातिक का महीना था—ज्वर का प्रकोप हो रहा था। मोहन एक दिन खेलता-कूदता बीमार पड़ गया और तीन दिन तक अचेत पड़ा रहा। ज्वर इतने जोर का था कि पास खड़े रहने से लपट-सी निकलती थी। बुढ़िया ओझे सयानो के पास दौड़ती फिरती थी; पर ज्वर उतरने का नाम न लेता था। सुशीला को भय हो रहा था, यह टाइफाइड है। इससे उसके प्राण सूख रहे थे।

चौथे दिन उसने रेवती से कहा—बेटी, तूने बड़े पचजी का घर तो देखा है। जाकर उनसे कह—भैया बीमार हैं, कोई डाक्टर भेज दें।

रेवती को कहने भर की देर थी। दौड़ती हुई सेठ कुबेरदास के पास गई।

कुबेरदास बोले—डाक्टर की फीस १६) है। तेरी मा दे देगी ?

रेवती ने निराश होकर कहा—अम्मा के पास रुपये कहाँ हैं।

कुबेर०—तो फिर किस मुँह से मेरे डाक्टर को बुलाती है। तेरा मामा कहाँ हैं ? उनसे जाकर कह, सेवा-समिति से कोई डाक्टर बुला ले जाय, नहीं तो खैराती अस्पताल में क्यों नहीं लड़के को ले जाती ? या अभी वही पुरानी बू समाई हुई है। कैसी मूर्ख स्त्री है, घर में टका नहीं और डाक्टर का हुकुम लगा दिया। समझती होगी, फीस पचजी दे देंगे। पचजी क्यो फीस दे ? बिरादरी का धन धर्म-कार्य के लिए है, यो उड़ाने के लिए नहीं है।

रेवती मा के पास लौटी, पर जो कुछ सुना था, वह उससे न कह सकी।

घाव पर नमक क्यों छिड़के। बहाना कर दिया, बड़े पंचजी कहीं गये हैं।

सुशीला—तो मुनीम से क्यों नहीं कहा? यहाँ क्या कोई मिठाई खाये जाता था जो दौड़ी चली आई?

इसी वक्त सतलाल एक वैद्यजी को लेकर आ पहुँचा।

(७)

वैद्यजी भी एक दिन आकर दूसरे दिन न लौटे। सेवा-समिति के डाक्टर भी दो दिन बड़ी मिन्नतों से आये। फिर उन्हें भी अवकाश न रहा और मोहन की दशा दिन-दिन बिगड़ती जाती थी। महीना बीत गया; पर ज्वर ऐसा चढ़ा कि एक क्षण के लिए भी न उतरा। उसका चेहरा इतना सूख गया था कि देखकर दया आती थी। न कुछ बोलता, न कहता, यहाँ तक कि करवट भी न बदल सकता था। पड़े-पड़े देह की खाल फट गई, सिर के बाल गिर गये। हाथ-पाँव लकड़ी हो गये। सतलाल काम से छुट्टी पाता तो आ जाता, पर इससे क्या होता, तीमारदारी दवा तो नहीं है।

एक दिन सध्या समय उसके हाथ ठंडे हो गये। माता के प्राण पहले ही से सूखे हुए थे। यह हाल देखकर रोने-पीटने लगी। मन्नते तो बहुतेरी हो चुकी थीं, रोती हुई मोहन की खाट के सात फेरे करके हाथ बाँधकर बोली—भगवन्! यही मेरे जन्म की कमाई है। अपना सर्वस्व खोकर भी मैं बालक को छाती से लगाये हुए सतुष्ट थी; लेकिन यह चोट न सही जायगी। तुम इसे अच्छा कर दो। इसके बदले मुझे उठा लो। बस, मैं यही दया चाहती हूँ, दयामय!

ससार के रहस्य कौन समझ सकता है? क्या हममे से बहुतों का यह अनुभव नहीं कि जिस दिन हमने बेईमानी करके कुछ रकम उड़ाई, उसी दिन उस रकम का दुगना नुकसान हो गया। सुशीला को उसी दिन रात को ज्वर आ गया और उसी दिन मोहन का ज्वर उतर गया। बच्चे की सेवा-सुश्रूषा में आधी तो यों ही रह गई थी, इस बीमारी ने ऐसा पकड़ा कि फिर न छोड़ा। मालूम नहीं, देवता बैठे सुन रहे थे या क्या, उसकी याचना अक्षरशः पूरी हुई। पन्द्रहवें दिन मोहन चारपाई से उठकर मा के पास आया और उसकी छाती पर सिर रखकर रोने लगा। माता ने उसके गले

में बाहें डालकर उसे छाती से लगा लिया और बोली—क्यों रोते हो बेटा! मै अच्छी हो जाऊँगी। अब मुझे क्या चिंता। भगवान पालनेवाले हैं। वही तुम्हारे रक्षक हैं। वही तुम्हारे पिता हैं। अब मैं सब तरफ से निश्चित हूँ। जल्द अच्छी हो जाऊँगी।

मोहन बोला—जिया तो कहती है, अम्मा अब न अच्छी होंगी।

सुशीला ने बालक का चुंबन लेकर कहा—जिया पगली है, उसे कहने दो। मैं तुम्हें छोडकर कहीं न जाऊँगी। मै सदा तुम्हारे साथ रहूँगी। हाँ, जिस दिन तुम कोई अनबाध करोगे, किसी की कोई चीज़ उठा लोगे, उसी दिन मैं मर जाऊँगी!

मोहन ने प्रसन्न होकर कहा—तो तुम मेरे पास से कभी नहीं जाओगी मा!

सुशीला ने कहा—कभी नहीं बेटा, कभी नहीं।

उसी रात को दुःख और विपत्ति की मारी हुई यह अनाथ विधवा-दोनों अनाथ बालकों को भगवान पर छोड़कर परलोक सिधार गईं।

(८)

इस घटना को तीन साल हो गये हैं मोहन और रेवती दोनों उसी वृद्धा के पास रहते हैं। बुढिया मा तो नहीं है; लेकिन माँ से बढ़कर है। रोज मोहन को रात की रखी रोटियाँ खिलाकर गुरुजी की पाठशाला में पहुँचा आती है। छुट्टी के समय जाकर लिवा आती है। रेवती का अब चौदहवाँ साल है। वह घर का सारा काम—पिसना, कूटना, चौका-बरतन, झाड़ू-बहारू—करती है। बुढ़िया सौदा बेचने चली जाती है, तो वह दूकान पर भी आ बैठती है।

एक दिन बड़े पच सेठ कुबेरदास ने उसे बुला भेजा और बोले—तुझे दुकान पर बैठते शर्म नहीं आती, सारी बिरादरी की नाक कटा रही है। खबरदार जो कल से दूकान पर बैठी। मैंने तेरे पाणिग्रहण के लिए झाबर-मलजी को पक्का कर लिया है।

सेठानी ने समर्थन किया— तू अब सयानी हुई बेटी, अब तेरा इस तरह बैठना अच्छा नहीं। लोग तरह-तरह की बातें करने लगते हैं। सेठ झाबरमल तो राजी ही न होते थे, हमने बहुत कह-सुनकर राजी किया है। बस समझ

ले कि रानी हो जायगी। लाखों की संपत्ति है, लाखों की। तेरे धन्य भाग कि ऐसा वर मिला। तेरा छोटा भाई है, उसको भी कोई दुकान करा दी जायगी।

सेठ—बिरादरी की कितनी बदनामी है!

सेठानी—है ही।

रेवती ने लज्जित होकर कहा—मैं क्या जानूँ, आप मामा से कहें।

सेठ (बिगड़कर)—वह कौन होता है! टके पर मुनीमी करता है। उससे मैं क्या पूछूँ। मैं बिरादरी का पंच हूँ। मुझे अधिकार है, जिस काम से बिरादरी का कल्याण देखूँ वह करूँ। मैंने और पंचों से राय ले ली है। सब मुझसे सहमत हैं। अगर तू यों नहीं मानेगी, तो हम अदालती कार्रवाई करेंगे। तुझे खरच-बरच का काम होगा, यह लेती जा।

यह कहते हुए उन्होंने २०) के नोट रेवती की तरफ फेंक दिये।

रेवती ने नोट उठाकर वहीं पुरजे-पुरजे कर डाले और तमतमाये मुख से बोली—बिरादरी ने तब हम लोगों की बात न पूछी, जब हम रोटियों को मुहताज थे। मेरी माता मर गई, कोई झाँकने तक न गया। मेरा भाई बीमार हुआ, किसी ने खबर तक न ली। ऐसी बिरादरी की मुझे परवाह नहीं है।

रेवती चली गई, तो झाबरमल कोठरी से निकल आये। चेहरा उदास था।

सेठानी ने कहा—लड़की बड़ी घमंडिन है। आँख का पानी मर गया है।

झाबरमल—बीस रुपये खराब हो गये। ऐसा फाड़ा है कि जुड़ भी नहीं सकते।

कुबेरदास—तुम घबड़ाओ नहीं; मैं इसे अदालत से ठीक करूँगा। जाती कहाँ है।

झाबरमल—अब तो आपका ही भरोसा है।

बिरादरी के बड़े पंच की बात कहीं मिथ्या हो सकती है? रेवती नाबालिग थी। माता-पिता नहीं थे। ऐसी दशा में पंचों का उसपर पूरा अधिकार था। वह बिरादरी के दबाव में नहीं रहना चाहती है, न चाहे। क़ानून बिरादरी के अधिकार की उपेक्षा नहीं कर सकता।

संतलाल ने यह माजरा सुना, तो दाँत पीसकर बोले—न जाने इस बिरादरी का भगवान कब अंत करेंगे।

रेवती—क्या बिरादरी मुझे जबरदस्ती अपने अधिकार में ले सकती है!

संतलाल—हाँ बेटी, धनिकों के हाथ में तो क़ानून भी है।

रेवती—मैं कह दूँगी कि मैं उनके पास नहीं रहना चाहती।

संतलाल—तेरे कहने से क्या होगा। तेरे भाग्य मे यही लिखा था, तो किसका बस है। मैं जाता हूँ बड़े पंच के पास।

रेवती—नहीं मामाजी, तुम कहीं न जाव। जब भाग्य ही का भरोसा है तो जो कुछ भाग्य मे लिखा होगा वह होगा।

रात तो रेवती ने घर मे काटी। बार-बार निद्रा-मग्न भाई को गले लगाती। यह अनाथ अकेला कैसे रहेगा, यह सोचकर उसका मन कायर हो जाता; पर झाबरमल की सूरत याद करके उसका संकल्प दृढ़ हो जाता।

प्रातःकाल रेवती गंगा स्नान करने गई। यह इधर कई महीनों से उसका नित्य का नियम था। आज ज़रा अँधेरा था; पर यह कोई संदेह की बात न थी। संदेह तब हुआ जब आठ बज गये और वह लौटकर न आई। तीसरे पहर सारी बिरादरी मे खबर फैल गई—सेठ रामनाथ की कन्या गंगा मे डूब गई। उसकी लाश पाई गई।

कुबेरदास ने कहा—चलो अच्छा हुआ, बिरादरी की बदनामी तो न होगी।

झाबरमल ने दुखी मन से कहा—मेरे लिए अब कोई और उपाय कीजिए।

उधर मोहन सिर पीट-पीटकर रो रहा था और बुढ़िया उसे गोद में लिये समझा रही थी—बेटा, उस देवी के लिए क्यों रोते हो। ज़िंदगी में उसके दुख ही दुख था। अब वह अपनी माँ की गोद में आराम कर रही है।

—

भूत

मुरादाबाद के पंडित सीतानाथ चौबे गत ३० वर्षों से वहाँ के वकीलों के नेता हैं। उनके पिता उन्हें बाल्यावस्था में ही छोड़कर परलोक सिधारे थे। घर मे कोई संपत्ति न थी। माता ने बड़े बड़े कष्ट झेलकर उन्हें पाला और पढ़ाया। सबसे पहले वह कचहरी में १५) मासिक पर नौकर हुए। फिर वकालत की परीक्षा दी। पास हो गये। प्रतिभा थी, दो ही चार वर्षों में वकालत चमक उठी। जब माता का स्वर्गवास हुआ, तब पुत्र का शुमार ज़िले के गण्य मान्य व्यक्तियों मे हो गया था। उनकी आमदनी एक हज़ार रुपये महीने से कम न थी। एक विशाल भवन बनवा लिया था; कुछ जमीदारी ले ली थी, कुछ रुपये बैंक में रख दिये थे, और कुछ लेन-देन में लगा दिये थे। इस समृद्धि पर चार पुत्रों का होना उनके भाग्य को आदर्श बनाये हुए था। चारों लड़के भिन्न-भिन्न दर्जों में पढते थे। मगर यह कहना कि यह सारी विभूति चौबेजी के अनवरत परिश्रम का फल थी, उनकी पत्नी मंगला देवी के साथ अन्याय करना है। मंगला बड़ी सरल, गृह-कार्य में कुशल और पैसे का काम धेले में चलानेवाली स्त्री थी। जब तक अपना घर न बन गया, उसने ३) महीने से अधिक का मकान किराये पर नहीं लिया; और रसोई के लिए मिसराइन तो उसने अब तक न रखी थी। उसे अगर कोई व्यसन था, तो गहनों का; और चौबेजी को भी अगर कोई व्यसन था, तो स्त्री को गहने पहनाने का। वह सच्चे पत्नी-परायण मनुष्य थे। साधारणतः महफिलों में वेश्याओं से हँसी-मजाक कर लेना उतना बुरा नहीं समझा जाता; पर पंडितजी अपने जीवन में कभी किसी नाच-गाने की महफिल में गये ही नहीं। पाँच बजे तड़के से लेकर बारह बजे रात तक उनका व्यसन, मनोरंजन, पढ़ना लिखना, अनुशीलन, जो कुछ था क़ानून था। न उन्हें राजनीति से प्रेम था, न जाति-सेवा से। ये सभी काम उन्हें व्यर्थ-से जान पड़ते थे। उनके

विचार में अगर कोई काम करने लायक था, तो बस, कचहरी जाना, बहस करना, रुपये जमा करना और भोजन करके सो रहना। जैसे वेदांती को ब्रह्म के अतिरिक्त जगत् मिथ्या जान पड़ता है, वैसे ही चौबेजी को क़ानून के सिवा सारा संसार मिथ्या प्रतीत होता था। सब माया थी, एक क़ानून ही सत्य था।

(२)

चौबेजी के मुख-चंद्र में केवल एक कला की कमी थी। उनके कोई कन्या न थी। पहलौठी कन्या के बाद फिर कन्या हुई ही नहीं, और न अब होने की आशा ही थी। स्त्री और पुरुष, दोनों उस कन्या को याद करके रोया करते थे। लड़कियाँ बचपन में लड़कों से ज्यादा चोंचले करती हैं। उन चोंचलों के लिए दोनों प्राणी विकल रहते। मा सोचती, लड़की होती, तो उसके लिए गहने बनवाती, उसके बाल गूँथती। लड़की पैजनियाँ पहने ठुमक-ठुमक आँगन में चलती, तो कितना आनंद आता! चौबे सोचते, कन्यादान के बिना मोक्ष कैसे होगा! कन्यादान महादान है। जिसने यह दान न दिया, उसका जन्म ही वृथा गया!

आख़िर यह लालसा इतनी प्रबल हुई कि मगला ने अपनी छोटी बहन को बुलाकर कन्या की भाँति पालने का निश्चय किया। उसके मा-बाप निर्धन थे। राजी हो गये। यह बालिका मगला की सौतेली मा की कन्या थी। बड़ी सुंदर और बड़ी चंचल थी। नाम था बिन्नी। चौबेजी का घर उसके आने से खिल उठा। दो-चार ही दिनों में लड़की अपने मा बाप को भूल गई। उसकी उम्र तो केवल चार वर्ष की थी; पर उसे खेलने की अपेक्षा कुछ काम करना अच्छा लगता था। मंगला रसोई बनाने जाती तो बिन्नी भी उसके पीछे-पीछे जाती, उससे आटा गूँधने के लिए झगड़ा करती। तरकारी काटने में उसे बड़ा मज़ा आता था। जब तक वकील साहब घर पर रहते, तब तक वह उनके साथ दीवानख़ाने में बैठी रहती। कभी किताबे उलटती, कभी दावात-कलम से खेलती। चौबेजी मुस्कराकर कहते— बेटी, मार खाओगी? बिन्नी कहती—तुम मार खाओगे; मैं तुम्हारे कान काट लूँगी, जूजू को बुलाकर पकड़ा दूँगी। इस पर दीवानख़ाने में खूब क़हक़हे उड़ते। वकील

साहब कभी इतने बालवत्सल न थे। अब बाहर से आते, तो कुछ न कुछ सौगात बिन्नी के वास्ते ज़रूर लाते, और घर में क़दम रखते ही पुकारते—बिन्नी बेटी, चलो। बिन्नी दौड़ती हुई आकर उनकी गोद में बैठ जाती।

मंगला एक दिन बिन्नी को लिये बैठी थी। इतने में पंडितजी आ गये। बिन्नी दौड़कर उनकी गोद में जा बैठी। पंडितजी ने पूछा—तू किसकी बेटी है?

बिन्नी—न बताऊँगी?

मंगला—कह दे बेटा, जीजी की बेटी हूँ।

पंडित—तू मेरी बेटी है बिन्नी कि इनकी?

बिन्नी—न बताऊँगी।

पंडित—अच्छा, हम लोग आँखें बंद किये बैठे हैं, बिन्नी जिसकी बेटी होगी, उसकी गोद में बैठ जायगी।

बिन्नी उठी और फिर चौबेजी के गोद में बैठ गई।

पंडित—मेरी बेटी है, मेरी बेटी है, (स्त्री से) अब न कहना कि मेरी बेटी है।

मंगला—अच्छा, जाओ बिन्नी, अब तुम्हें मिठाई न दूँगी, गुड़ियाँ भी न मँगा दूँगी!

बिन्नी—भैयाजी मँगवा देंगे, तुम्हें न दूँगी।

वकील साहब ने हँसकर बिन्नी को छाती से लगा लिया, और गोद में लिये हुए बाहर चले गये। वह अपने इष्ट-मित्रों को भी इस बालक्रीड़ा का रसास्वादन कराना चाहते थे।

आज से जो कोई बिन्नी से पूछता कि तू किसकी बेटी है, तो बिन्नी चट कह देती—भैया की।

एक बार बिन्नी का बाप आकर उसे अपने साथ ले गया। बिन्नी ने रो-रोकर दुनिया सिर पर उठा ली। इधर चौबेजी को भी दिन काटना कठिन हो गया। एक महीना भी न गुज़रने पाया था कि वह फिर ससुराल गये और बिन्नी को लिवा लाये। बिन्नी अपनी माता और पिता को भूल गई।

वह चौबेजी को अपना बाप और मंगला को अपनी मा समझने लगी। जिन्होंने उसे जन्म दिया था, वे अब ग़ैर हो गये।

(३)

कई साल गुज़र गये। वकील साहब के बेटों के विवाह हुए। उनमें से दो अपने बाल-बच्चों को लेकर अन्य ज़िलों में वकालत करने चले गये। दो कालेज मे पढ़ते थे। बिन्नी भी कली से फूल हुई। ऐसे रूप-गुण-शीलवाली बालिका बिरादरी मे और न थी—पढ़ने-लिखने मे चतुर, घर के काम-धंधो में कुशल, बूटे-कसीदे और सीने-पोरोने में दक्ष, पाककला मे निपुण, मधुर-भाषिणी, लज्जाशीला, अनुपम रूप की राशि। अँधेरे घर में उसके सौंदर्य की दिव्य ज्योति से उजाला होता था। उषा की लालिमा में, ज्योत्स्ना की मनोहर छटा मे, खिले हुए गुलाब के ऊपर सूर्य की किरणो से चमकते हुए तुषार-बिंदु में भी वह प्राण-प्रद सुषमा और वह शोभा न थी, श्वेत हेम-मुकुटधारी पर्वत में भी वह शीतलता न थी, जो बिन्नी अर्थात् विंध्येश्वरी के विशाल नेत्रो में थी।

चौबेजी ने बिन्नी के लिए सुयोग्य वर खोजना शुरू किया। लड़कों की शादियो में दिल का अरमान निकाल चुके थे। अब कन्या के विवाह में हौसले पूरे करना चाहते थे। धन लुटाकर कीर्ति पा चुके थे, अब दान दहेज में नाम कमाने की लालसा थी। बेटे का विवाह कर लेना आसान है, पर कन्या के विवाह में आबरू निबाह ले जाना कठिन है, नौका पर सभी यात्रा करते हैं; जो तैरकर नदी पार करे, वही प्रशंसा का अधिकारी है।

धन की कमी न थी। अच्छा घर और सुयोग्य वर मिल गया। जन्मपत्र मिल गये, बनावत बन गया। फलदान और तिलक की रस्मे भी अदा कर दी गईं। पर हाय रे दुर्दैव! कहाँ तो विवाह की तैयारी हो रही थी, द्वार पर दरज़ी, सुनार, हलवाई, सब अपना-अपना काम कर रहे थे, कहाँ निर्दय विधाता ने और ही लीला रच दी! विवाह के एक सप्ताह पहले मंगला अनायास बीमार पड़ी, तीन ही दिन में अपने सारे अरमान लिये हुए परलोक सिधार गई।

संध्या हो गई थी। मंगला चारपाई पर पड़ी हुई थी। बेटे, बहुएँ, पोते, पोतियाँ सब चारपाई के चारों ओर खड़े थे। बिन्नी पैंताने बैठी मंगला के पैर दबा रही थी। मृत्यु के समय की भयंकर निस्तब्धता छाई हुई थी। कोई किसी से न बोलता था, दिल में सब समझ रहे थे, क्या होनेवाला है। केवल चौबेजी वहाँ न थे।

सहसा मंगला ने इधर-उधर इच्छा-पूर्ण दृष्टि से देखकर कहा—ज़रा उन्हें बुला दो; कहाँ हैं?

पंडितजी अपने कमरे में बैठे रो रहे थे। संदेश पाते ही आँसू पोंछते हुए घर में आये, और बड़े धैर्य के साथ मंगला के सामने खड़े हो गये। डर रहे थे कि मेरी आँखों से आँसू की एक बूँद भी निकली, तो घर में हाहाकार मच जायगा।

मंगला ने कहा—एक बात पूछती हूँ—बुरा न मानना—बिन्नी तुम्हारी कौन है?

पंडित—बिन्नी कौन है? मेरी बेटी है, और कौन!

मंगला—हाँ, मैं तुम्हारे मुँह से यही सुनना चाहती थी। उसे सदा अपनी बेटी समझते रहना। उसके विवाह के लिए मैंने जो-जो तैयारियाँ की थीं, उनमें कुछ काट-छाँट मत करना।

पंडित—इसकी कुछ चिंता न करो। ईश्वर ने चाहा, तो उससे कुछ ज़्यादा धूम-धाम के साथ विवाह होगा।

मंगला—उसे हमेशा बुलाते रहना, तीज-त्योहार में कभी मत भूलना।

पंडित—इन बातों की मुझे याद दिलाने की जरूरत नहीं।

मंगला ने कुछ सोचकर फिर कहा—इसी साल विवाह कर देना।

पंडित—इस साल कैसे होगा?

मंगला—यह फागुन का महीना है। जेठ तक लगन है।

पंडित—हो सकेगा तो इसी साल कर दूँगा।

मंगला—हो सकने की बात नहीं, जरूर कर देना।

पंडित—कर दूँगा।

इसके बाद गोदान की तैयारी होने लगी।

(४)

बूढापे में पत्नी का मरना बरसात में घर का गिरना है। फिर उसके बनने की आशा नहीं होती।

मगला की मृत्यु से पडितजी का जीवन अनियमित और विशृखल-सा हो गया। लोगों से मिलना जुलना छूट गया। कई-कई दिन कचहरी ही न जाते। जाते भी, तो बड़े आग्रह से! भोजन से अरुचि हो गई। विन्ध्येश्वरी उनकी दशा देख-देखकर दिल में कुढती और यथासाध्य उनका दिल बहलाने की चेष्टा किया करती थी। वह उन्हें पुराणों की कथाएँ पढकर सुनाती, उनके लिए तरह-तरह की भोजन-सामग्री पकाती और उन्हें आग्रह अनुरोध के साथ खिलाती थी। जब तक वह न खा लेते, आप कुछ न खाती थी। गरमी के दिन थे ही। रात को बड़ी देर तक उनके पैताने बैठी पखा झला करती, और जब तक वह न सो जाते, तब तक आप भी सोने न जाती। वह ज़रा भी सिर दर्द की शिकायत करते, तो तुरत उनके सिर में तेल डालती। यहाँ तक कि रात को जब उन्हें प्यास लगती, तब खुद दौडकर आती, और उन्हें पानी पिलाती। धीरे धीरे चौबेजी के हृदय में मगला केवल एक सुख की स्मृति रह गई।

एक दिन चौबेजी ने बिन्नी को मगला के सब गहने दे दिये। मगला का यह अतिम आदेश था। बिन्नी फूली न समाई। उसने उस दिन खूब बनाव सिंगार किया, जब संध्या के समय पडितजी कचहरी से आये, तो वह गहनों से लदी हुई उनके सामने कुछ लजाती और मुसकराती हुई आकर खड़ी हो गई।

पडितजी ने सतृष्ण नेत्रों से देखा! विंध्येश्वरी के प्रति अब उनके मन मे एक नया भाव अकुरित हो रहा था। मंगला जब तक जीवित थी, वह उनके पिता-पुत्रीभाव को सजग और पुष्ट करती रहती थी। अब मगला न थी। अतएव वह भाव दिन-दिन शिथिल होता जाता था। मंगला के सामने बिन्नी एक बालिका थी। मगला की अनुपस्थिति में वह एक रूपवती युवती थी। लेकिन सरल-हृदय बिन्नी को इसकी रत्ती भर भी खबर न थी कि भैया के भावों में क्या परिवर्तन हो रहा है। उसके लिए वह वही पिता के तुल्य

भैया थे। वह पुरुषों के स्वभाव से अनभिज्ञ थी। नारी-चरित्र में अवस्था के साथ मातृत्व का भाव दृढ होता जाता है। यहाँ तक कि एक समय ऐसा आता है, जब नारी की दृष्टि में युवकमात्र पुत्र तुल्य हो जाते हैं। उसके मन में विषय-वासना का लेश भी नहीं रह जाता। किंतु पुरुषों में यह अवस्था कभी नहीं आती। उनकी कामेंद्रियाँ क्रिया-हीन भले ही हो जायँ, पर विषय-वासना संभवतः और भी बलवती हो जाती है। पुरुष वासनाओं से कभी मुक्त नहीं हो पाता, बल्कि ज्यों ज्यों अवस्था ढलती है, त्यों-त्यों, ग्रीष्म-ऋतु के अंतिम काल की भाँति, उसकी वासना की गरमी प्रचंड होती जाती है। वह तृप्ति के लिए नीच साधनों का सहारा लेने को भी प्रस्तुत हो जाता है। जवानी में मनुष्य इतना नहीं गिरता। उसके चरित्र में गर्व की मात्रा अधिक रहती है, जो नीच साधनों से घृणा करती है। वह किसी के घर मे घुसने के लिए ज़बरदस्ती कर सकता है, किंतु परनाले के रास्ते नहीं जा सकता।

पंडितजी ने बिन्नी को सतृष्ण नेत्रों से देखा, और फिर अपनी इस उच्छृंखलता पर लज्जित होकर आँखे नीची कर लीं। बिन्नी इसका कुछ मतलब न समझ सकी।

पंडितजी बोले—तुम्हें देखकर मुझे मंगला की उस समय की याद आ रही है—जब वह विवाह के समय यहाँ आई थी। बिलकुल ऐसी ही सूरत थी—यही गोरा रंग, यही प्रसन्न मुख, यही कोमल गात, ये ही लजीली आँखें। वह चित्र अभी तक मेरे हृदय-पट पर खिंचा हुआ है, कभी नहीं मिट सकता। ईश्वर ने तुम्हारे रूप में मेरी मंगला मुझे फिर दे दी।

बिन्नी—आपके लिए क्या जलपान लाऊँ?

पंडित—ले आना, अभी बैठो, मैं बहुत दुखी हूँ। तुमने मेरे शोक को भुला दिया है। वास्तव में तुमने मुझे जिला लिया, नहीं तो मुझे आशा न थी कि मंगला के पीछे मैं जीवित रहूँगा। तुमने मुझे प्राणदान दिया। नहीं जानता, तुम्हारे चले जाने पर मेरी क्या दशा होगी।

बिन्नी—कहाँ चले जाने के बाद? मैं तो कहीं नहीं जा रही हूँ।

पंडित—क्यों तुम्हारे विवाह की तिथि आ रही है। चली ही जाओगी।

बिन्नी (सकुचाती हुई)—ऐसी जल्दी क्या है ?

पंडित—जल्दी क्यों नहीं है। ज़माना हँसेगा।

बिन्नी—हँसने दीजिए। मैं यहीं आपकी सेवा करती रहूँगी।

पंडित—नहीं बिन्नी, मेरे लिए तुम क्यों हलकान होगी। मैं अभागा हूँ, जब तक ज़िंदगी है, जिऊँगा; चाहे रोकर जिऊँ, चाहे हँसकर। हँसी मेरे भाग्य से उठ गई। तुमने इतने दिनों सँभाल लिया, यही क्या कम एहसान किया ? मैं यह जानता हूँ कि तुम्हारे जाने के बाद कोई मेरी खबर लेनेवाला नहीं रहेगा, यह घर तहस-नहस हो जायगा, और मुझे घर छोड़कर भागना पड़ेगा। पर क्या किया जाय, लाचारी है। तुम्हारे बिना अब मैं यहाँ क्षण-भर भी नहीं रह सकता। मंगला की खाली जगह तो तुमने पूरी की, अब तुम्हारा स्थान कौन पूरा करेगा ?

बिन्नी—क्या इस साल रुक नहीं सकता ? मैं इस दशा में आपको छोड़कर न जाऊँगी।

पंडित—अपने बस की बात तो नहीं ? वे लोग आग्रह करेंगे, तो मजबूर होकर करना ही पड़ेगा।

बिन्नी—बहुत जल्दी मचायें तो आप कह दीजिएगा, अब नहीं करेंगे। उन लोगों के जी में जो आये, करें। क्या यहाँ कोई उनका दबैल बैठा हुआ है ?

पंडित—वे लोग तो अभी से आग्रह कर रहे हैं।

बिन्नी—आप फटकार क्यों नहीं देते ?

पंडित—करना तो है ही, फिर विलंब क्यों करूँ ? यह दुःख और वियोग तो एक दिन होना ही है। अपनी विपत्ति का भार तुम्हारे सिर क्यों रखूँ।

बिन्नी—दुःख सुख में काम न आऊँगी, तो और किस दिन काम आऊँगी ?

(५)

पंडितजी के मन में कई दिनों तक घोर संग्राम होता रहा। वह अब बिन्नी को पिता की दृष्टि से न देख सकते थे। बिन्नी अब मंगला की बहन और उनकी साली थी। ज़माना हँसेगा, तो हँसे; ज़िंदगी तो आनंद से गुज़रेगी।

उनकी भावनाएँ कभी इतनी उल्लासमयी न थीं। उन्हें अपने अंगो मे फिर जवानी की स्फूर्ति का अनुभव हो रहा था।

वह सोचते, बिन्नी को मैं अपनी पुत्री समझता था; पर वह मेरी पुत्री है तो नहीं। इस तरह समझने से क्या होता है? कौन जाने, ईश्वर को यही मजूर हो; नहीं तो बिन्नी यहाँ आती ही क्यों? उसने इसी बहाने से यह संयोग निश्चित कर दिया होगा। उसकी लीला तो अपरंपार है!

पडितजी ने वर के पिता को सूचना दे दी कि कुछ विशेष कारणों से इस साल विवाह नहीं हो सकता।

विंध्येश्वरी को अभी तक कुछ खबर न थी कि मेरे लिए क्या क्या षड्यन्त्र रचे जा रहे हैं। वह खुश थी कि मैं भैयाजी की सेवा कर रही हूँ, और भैयाजी मुझसे प्रसन्न हैं। बहन का इन्हें बडा दुःख है। मैं न रहूँगी, तो यह कहीं चले जायँगे—कौन जाने, साधु-सन्यासी हो जायँ। घर मे कैसे मन लगेगा।

वह पडितजी का मन बहलाने का निरतर प्रयत्न करती रहती थी। उन्हें कभी मनमारे न बैठने देती। पडितजी का मन अब कचहरी में न लगता था। घंटे दो घटे बैठकर चले आते थे। युवकों के प्रेम मे विकलता होती है, और वृद्धो के प्रेम में श्रद्धा। वे अपनी यौवन की कमी को खुशामद से, मीठी बातों से और हाज़िरबाशी से पूर्ण करना चाहते हैं।

मगला को मरे अभी तीन ही महीने गुजरे थे कि चौबेजी ससुराल पहुँचे। सास ने मुँह-माँगी मुराद पाई। उसके दो पुत्र थे। घर में कुछ पूँजी न थी। उनके पालन और शिक्षा के लिए कोई ठिकाना नजर न आता था। मंगला मर ही चुकी थी। लड़की का ज्यों ही विवाह हो जायगा, वह अपने घर की हो रहेगी। फिर चौबे से नाता ही टूट जायगा। वह इसी चिंता मे पड़ी हुई थी कि चौबेजी पहुँचे, मानों देवता स्वय वरदान देने आये हों।

जब चौबेजी भोजन करके लेटे, तो सास ने कहा—भैया, अभी कहीं बातचीत हुई कि नहीं?

पंडित—अम्मा, अब मेरे विवाह की बातचीत क्या होगी?

सास—क्यों भैया, अभी तुम्हारी उम्र ही क्या है?

पंडित—करना भी चाहूँ तो बदनामी के डर से नहीं कर सकता। फिर मुझे पूछता ही कौन है?

सास—पूछने को हज़ारों हैं। दूर क्यों जाओ, अपने घर ही में लड़की बैठी हुई है। सुना है, तुमने मंगला के सब गहने बिन्नी को दे दिये हैं। कहीं और विवाह हुआ, तो ये कई हज़ार की चीज़ें तुम्हारे हाथों से निकल जायँगी। तुमसे अच्छा वर मैं कहाँ पाऊँगी। तुम उसे अंगीकार कर लो, तो मैं तर जाऊँ।

अंधा क्या माँगे, दो आँखें! चौबेजी ने मानों विवश होकर सास की प्रार्थना स्वीकार कर ली।

( )

बिन्नी अपने गाँव के कच्चे मकान में अपनी मा के पास बैठी हुई है। अबकी चौबेजी ने उसकी सेवा के लिए एक लौंड़ी भी साथ कर दी है। विंध्येश्वरी के दोनों छोटे भाई विस्मित हो-होकर उसके आभूषणों को देख रहे हैं। गाँव की और कई स्त्रियाँ उसे देखने आई हुई हैं, और उसके रूप-लावण्य का विकास देखकर चकित हो रही हैं। यह वही बिन्नी है, जो यहाँ मोटी फरिया पहिने खेला करती थी! रंग रूप कैसा निखर आया है! सुख की देह है न!

जब भीड़ कम हुई, एकांत हुआ, तो माता ने पूछा—तेरे भैयाजी तो अच्छी तरह हैं न बेटी? यहाँ आये थे, तो बहुत दुखी थे। मंगला का शोक उन्हें खाये जाता है। संसार में ऐसे मर्द भी होते हैं, जो स्त्री के लिए प्राण दे देते हैं। नहीं तो यहाँ स्त्री मरी, और चट दूसरा ब्याह रचाया गया। मानों मनाते रहते हैं कि यह मरे, तो नई-नवेली बहू घर लायें!

विंध्ये०—उन्हें याद करके रोया करते हैं। चली आई हूँ, न-जाने कैसे होंगे!

माता—मुझे तो डर लगता है कि तेरा ब्याह हो जाने पर कहीं घबराकर साधू फकीर न हो जायें।

विंध्ये०—मुझे भी तो यही डर लगता है। इसी से तो मैंने कह दिया कि अभी जल्दी क्या है।

माता—जितने ही दिन उनकी सेवा करोगी, उतना ही उनका स्नेह बढ़ेगा ; और तुम्हारे जाने से उन्हें उतना ही दुःख भी अधिक होगा। बेटी, सच तो यह है कि वह तुम्हीं को देखकर जीते हैं। इधर तुम्हारी डोली उठी और उधर उनका घर सत्यनाश हुआ। मैं तुम्हारी जगह होती, तो उन्हीं से ब्याह कर लेती।

विंध्ये०—ऐ हटो अम्मा, गाली देती हो! उन्होंने मुझे बेटी करके पाला है। मैं भी उन्हें अपना पिता…

माता—चुप रह पगली, कहने से क्या होता है!

विंध्ये०—अरे सोच तो अम्मा, कितनी बेढगी बात है!

माता—मुझे तो इसमे कोई बेढगापन नहीं देख पड़ता।

विंध्ये०—क्या कहती हो अम्मा, उनसे मेरा मैं तो लाज के मारे मर जाऊँ, उनके सामने ताक न सकूँ। वह भी कभी न मानेंगे। मानने की बात भी हो कोई!

माता—उनका ज़िम्मा मैं लेती हूँ। मैं उन्हें राजी कर लूँगी। तू राजी हो जा। याद रख, यह कोई हँसी-खुशी का ब्याह नहीं है, उसकी प्राणरक्षा की बात है, जिसके सिवा ससार में हमारा और कोई नहीं है। फिर अभी उनकी कुछ ऐसी उम्र भी तो नहीं है। पचास से दो ही चार साल ऊपर होंगे। उन्होंने एक ज्योतिषी से पूछा भी था। उसने उनकी कुडली देखकर बताया है कि आपकी जिंदगी कम-से-कम ७० वर्ष की है। देखने-सुनने में भी वह सौ दो सौ मे एक आदमी हैं।

बातचीत से चतुर माता ने कुछ ऐसा शब्द व्यूह रचा कि सरला बालिका उसमे से निकल न सकी। माता जानती थी कि प्रलोभन का जादू इसपर न चलेगा। धन का, आभूषणों का, कुल-सम्मान का, सुखमय जीवन का उसने ज़िक्र तक न किया। उसने केवल चौबेजी की दयनीय दशा पर ज़ोर दिया। अत को विंध्येश्वरी ने कहा—अम्मा, मैं जानती हूँ कि मेरे न रहने से उनको बड़ा दुःख होगा ; यह भी जानती हूँ कि मेरे जीवन में सुख नहीं लिखा है। अच्छा, उनके हित के लिए मैं अपना जीवन बलिदान कर दूँगी। ईश्वर की यही इच्छा है, तो यही सही।

(७)

चौबेजी के घर में मंगल-गान हो रहा था। विंध्येश्वरी आज वधू बनकर इस घर में आई है। कई वर्ष पहले वह चौबेजी की पुत्री बनकर आई थी। उसने कभी स्वप्न में भी न सोचा था कि मैं एक दिन इस घर की स्वामिनी बनूँगी।

चौबेजी की सज-धज आज देखने योग्य है। तनजेब का रंगीन कुरता, कतरी और सँवारी हुई मूँछें, खिजाब से चमकते हुए बाल, हँसता हुआ चेहरा, चढ़ी हुई आँखें—यौवन का पूरा स्वाँग था!

रात बीत चुकी थी। विंध्येश्वरी आभूषणों से लदी हुई, भारी जोड़े पहने, फर्श पर सिर झुकाये बैठी थी। उसे कोई उत्कंठा न थी, भय न था; केवल यह संकोच था कि मैं उनके सामने कैसे मुँह खोलूँगी? उनकी गोद में खेली हूँ; उनके कंधों पर बैठी हूँ; उनकी पीठ पर सवार हुई हूँ, कैसे उन्हें मुँह दिखाऊँगी।—मगर वे पिछली बातें क्यों सोचूँ। ईश्वर उन्हें प्रसन्न रक्खे। जिसके लिए मैंने पुत्री से पत्नी बनना स्वीकार किया, वह पूर्ण हो। उनका जीवन आनंद से व्यतीत हो।

इतने में चौबेजी आये। विंध्येश्वरी उठ खड़ी हुई। उसे इतनी लज्जा आई कि जी चाहा कहीं भाग जाय, खिड़की से नीचे कूद पड़े।

चौबेजी ने उसका हाथ पकड़ लिया और बोले—बिन्नी, मुझसे डरती हो?

बिन्नी कुछ न बोली। मूर्ति की तरह वहीं खड़ी रही। एक क्षण में चौबेजी ने उसे बिठा दिया; वह बैठ गई। उसका गला भर-भर आता था। भाग्य की यह निर्दय लीला, यह क्रूर क्रीड़ा, उसके लिए असह्य हो रही थी।

पंडितजी ने पूछा—बिन्नी, बोलती क्यों नहीं? क्या मुझसे नाराज़ हो?

विंध्येश्वरी ने अपने कान बंद कर लिये। यही परिचित आवाज़ वह कितने दिनों से सुनती चली आती थी। आज वह व्यंग्य से भी तीव्र और उपहास से भी कटु प्रतीत होती थी।

सहसा पंडितजी चौंक पड़े; आँखें फैल गईं, और दोनों हाथ मेढक के पैरों की भाँति सिकुड़ गये। वह दो क़दम पीछे हट गये। खिड़की से मंगला

अंदर झाँक रही थी! छाया नहीं, मंगला थी—मंगला थी—सदेह, साकार, सजीव! उसकी आँखों में क्रोध और तिरस्कार भरा हुआ था।

चौबेजी काँपती हुई टूटी-फूटी आवाज़ मे बोले—बिन्नी, देखो, वह क्या है!

बिन्नी ने भी घबराकर खिड़की की ओर देखा। कुछ न था। बोली—क्या है? मुझे तो कुछ नहीं दिखाई देता।

चौबेजी—अब ग़ायब हो गई; लेकिन ईश्वर जानता है, मंगला थी।

बिन्नी—बहन?

चौबे—हाँ, हाँ वही। खिड़की से अंदर झाँक रही थी। मेरे तो रोएँ खड़े हो गये।

विंध्येश्वरी काँपती हुई बोली—मैं यहाँ नहीं रहूँगी।

चौबे—नहीं, नहीं, बिन्नी, कोई डर नही है, मुझे धोखा हुआ होगा। बात यह है कि वह इस घर मे रहती थी, यहीं सोती थी, इसी से कदाचित् मेरी भावना ने उसकी मूर्त्ति लाकर खडी कर दी। कोई बात नहीं है। आज का दिन कितना मंगलमय है कि मेरी बिन्नी यथार्थ मे मेरी हो गई

यह कहते-कहते चौबेजी फिर चौंके। फिर वही मूर्ति खिड़की से झाँक रही थी—मूर्ति नहीं, सदेह, सजीव, साकार मंगला! अबकी उसकी आँखों में क्रोध न था, तिरस्कार न था, उनमें हास्य भरा हुआ था, मानों वह इस दृश्य पर हँस रही है—मानों उसके सामने कोई अभिनय हो रहा है।

चौबेजी ने काँपते हुए कहा—बिन्नी, फिर वही बात हुई! वह देखो, मंगला खड़ी है!

विंध्येश्वरी चीखकर उनके गले से चिमट गई।

चौबेजी ने महावीरजी का नाम जपते हुए कहा—मैं किवाड़े बंद किये देता हूँ।

बिन्नी—मैं इस घर में नहीं रहूँगी। (रोकर) भैयाजी, तुमने बहन के अंतिम आदेश को नहीं माना, इसी से उनकी आत्मा दुखी हो रही है। मुझे तो किसी अमंगल की आशंका हो रही है।

चौबेजी ने उठकर खिड़की के द्वार बंद कर दिये और कहा—मै कल

से दुर्गापाठ कराऊँगा। आज तक कभी ऐसी शका न हुई थी। तुमसे क्या कहूँ, मालूम होता है...होगा, उस बात को जाने दो। यहाँ बड़ी गरमी पड रही है। अभी पानी गिरने को दो महीने से कम नहीं हैं। हम लोग मसूरी क्यों न चलें।

विंध्ये०—मेरा तो कहीं जाने को जी नहीं चाहता। कल से दुर्गापाठ जरूर कराना। मुझे अब इस कमरे में नींद न आयेगी।

पडित—ग्रथों में तो यही देखा है कि मरने के बाद केवल सूक्ष्म शरीर रह जाता है। फिर समझ में नहीं आता, यह स्वरूप क्योंकर दिखाई दे रहा है। कुछ नहीं, यह मेरी कल्पना का दोष है। कभी-कभी ऐसे भ्रम हो जाते हैं। मैं सच कहता हूँ बिन्नी, अगर तुमने मुझपर यह दया न की होती, तो मैं कहीं का न रहता। शायद इस वक्त मैं बदरीनाथ के पहाड़ों पर सिर टकराता होता; या कौन जाने विष खाकर प्राणांत कर चुका होता!

विंध्ये०—मसूरी मे किसी होटल में ठहरना पड़ेगा?

पडित—नहीं, मकान भी मिलते हैं। मै अपने एक मित्र को लिखे देता हूँ, वह कोई मकान ठीक कर रखेंगे। वहाँ...

बात पूरी न होने पाई थी कि न-जाने कहाँ से—जैसे आकाशवाणी हो—आवाज़—आई—बिन्नी तुम्हारी पुत्री है!

चौबेजी ने दोनो कान बद कर लिये। भय से थरथर काँपते हुए बोले—बिन्नी, यहाँ से चलो। न-जाने कहाँ से आवाज़ें आ रही हैं।

"बिन्नी तुम्हारी पुत्री है!"—यह ध्वनि सहस्रों कानो से पडितजी को सुनाई पड़ने लगी, मानो उस कमरे की एक एक वस्तु से यही सदा आ रही है।

बिन्नी ने रोकर पूछा—कैसी आवाज़ थी?

पडित—क्या बताऊँ, कहते लज्जा आती है।

बिन्नी—ज़रूर बहनजी की आत्मा है। बहन, मुझपर दया करो, मैं सर्वथा निर्दोष हूँ।

पडित—फिर वही आवाज़ आ रही है। हाय ईश्वर! कहाँ जाऊँ? मेरे तो रोम-रोम मे वे ही शब्द गूँज रहे हैं। बिन्नी, मैंने बुरा किया। मगला

सती थी, उसके आदेश की उपेक्षा करके मैंने अपने हक़ मे ज़हर बोया। कहाँ जाऊँ, क्या करूँ !

यह कहकर पडितजी ने कमरे के किवाड़े खोल दिये, और बेतहाशा भागे। अपने मरदाने कमरे में पहुँचकर वह गिर पड़े। मूर्छा आ गई। विंध्येश्वरी भी दौड़ी, पर चौखट से बाहर निकलते ही गिर पड़ी !

———

सवा सेर गेहूँ

किसी गाँव मे शकर नाम का एक कुरमी किसान रहता था। सीधा-सादा ग़रीब आदमी था, अपने काम से काम, न किसी के लेने में, न देने में। छक्का-पंजा न जानता था, छल प्रपच की उसे छूत भी न लगी थी, ठगे जाने की चिंता न थी, ठगविद्या न जानता था, भोजन मिला खा लिया, न मिला, चबेने पर काट दी, चबेना भी न मिला, तो पानी पी लिया और राम का नाम लेकर सो रहा। किंतु जब कोई अतिथि द्वार पर आ जाता था, तो उसे इस निवृत्तिमार्ग का त्याग करना पड़ता था। विशेष कर जब साधु महात्मा पदार्पण करते थे, तो उसे अनिवार्यतः सासारिकता की शरण लेनी पड़ती थी। खुद भूखा सो सकता था, पर साधु को कैसे भूखा सुलाता, भगवान् के भक्त ठहरे!

एक दिन सध्या समय एक महात्मा ने आकर उसके द्वार पर डेरा जमाया। तेजस्वी मूर्ति थी, पीताम्बर गले में, जटा सिर पर, पीतल का कमंडल हाथ में, खड़ाऊँ पैर मे, ऐनक आँखो पर, सपूर्ण वेष उन महात्माओं का-सा था जो रईसों के प्रासादो में तपस्या, हवा गाड़ियों पर देवस्थानो की परिक्रमा, और योग-सिद्धि प्राप्त करने के लिए रुचिकर भोजन करते हैं। घर मे जौ का आटा था, वह उन्हें कैसे खिलाता। प्राचीन काल मे जौ का चाहे जो कुछ महत्त्व रहा हो, पर वर्तमान युग में जौ का भोजन सिद्ध पुरुषों के लिए दुष्पाच्य होता है। बड़ी चिंता हुई, महात्माजी को क्या खिलाऊँ। आखिर निश्चय किया कि कहीं से गेहूँ का आटा उधार लाऊँ, पर गाँव भर में गेहूँ का आटा न मिला। गाँव मे सब मनुष्य ही मनुष्य थे, देवता एक भी न था, अतएव देवताओं का खाद्य पदार्थ कैसे मिलता। सौभाग्य से गाँव के विप्र महाराज के यहाँ से थोड़े से मिल गये। उनसे सवा सेर गेहूँ उधार लिया और स्त्री से कहा कि पीस दे। महात्मा ने भोजन किया, लंबी तानकर सोये, प्रातःकाल आशीर्वाद देकर अपनी राह ली।

विप्र महाराज साल में दो बार खलिहानी लिया करते थे। शकर ने दिल मे कहा, सवा सेर गेहूँ इन्हें क्या लौटाऊँ, पसेरी के बदले कुछ ज्यादा खलिहानी दे दूँगा, यह भी समझ जायेंगे, मैं भी समझ जाऊँगा। चैत में जब विप्रजी पहुँचे तो उन्हें डेढ़ पसेरी के लगभग गेहूँ दे दिया और अपने को उऋण समझकर उसकी कोई चरचा न की। विप्रजी ने फिर कभी न माँगा। सरल शकर को क्या मालूम था कि यह सवा सेर गेहूँ चुकाने के लिए मुझे दूसरा जन्म लेना पड़ेगा।

सात साल गुजर गये। विप्रजी विप्र से महाजन हुए, शकर किसान से मजूर हो गया। उसका छोटा भाई मगल उससे अलग हो गया था। एक साथ रहकर दोनो किसान थे, अलग होकर मजूर हो गये थे। शकर ने चाहा कि द्वेष की आग भड़कने न पाये, किन्तु परिस्थिति ने उसे विवश कर दिया। जिस दिन अलग-अलग चूल्हे जले, वह फूट-फूटकर रोया। आज से भाई भाई शत्रु हो जायँगे, एक रोयेगा तो दूसरा हँसेगा, एक के घर मातम होगा तो दूसरे के घर गुलगुले पकेंगे, प्रेम का बधन, खून का बधन, दूध का बंधन आज टूटा जाता है। उसने भगीरथ-परिश्रम से कुल-मर्यादा का वृक्ष लगाया था, उसने अपने रक्त से सींचा था, उसका जड़ से उखड़ना देखकर उसके हृदय के टुकड़े हुए जाते थे। सात दिनों तक उसने दाने की सूरत तक न देखी। दिन भर जेठ की धूप मे काम करता और रात को मुँह लपेटकर सो रहता। इस भीषण वेदना और दुस्सह कष्ट ने रक्त को जला दिया, मास और मज्जा को घुला दिया। बीमार पड़ा तो महीनों खाट से न उठा। अब गुजर-बसर कैसे हो? पाँच बीघे के आधे खेत रह गये, एक बैल रह गया, खेती क्या खाक होती! अत को यहाँ तक नौबत पहुँची कि खेती केवल मर्याद-रक्षा का साधन-मात्र रह गई, जीविका का भार मजूरी पर आ पड़ा।

सात वर्ष बीत गये, एक दिन शकर मजूरी करके लौटा, तो राह में विप्र-जी ने टोककर कहा—शकर, काल आके अपने बीज-बेंग का हिसाब कर ले। तेरे यहाँ साढ़े पाँच मन गेहूँ कबसे बाकी पड़े हुए हैं, और तू देने का नाम नहीं लेता, क्या हजम करने का मन है क्या?

शकर ने चकित होकर कहा—मैंने तुमसे कब गेहूँ लिये थे जो साढ़े पाँच

मन हो गये ? तुम भूलते हो, मेरे यहाँ किसी का छटाँक भर अनाज है न एक पैसा उधार।

विप्र—इसी नीयत का तो यह फल भोग रहे हो कि खाने को नहीं जुड़ता।

यह कहकर विप्रजी ने उस सवा सेर गेहूँ का जिक्र किया जो आज के ७ वर्ष पहले शंकर को दिये थे। शंकर सुनकर अवाक् रह गया। ईश्वर! मैंने इन्हें कितनी बार खलिहानी दी, इन्होंने मेरा कौनसा काम किया ? जब पोथी-पत्रा देखने, साइत-सगुन विचारने द्वार पर आते थे, कुछ न कुछ 'दच्छिना' ले ही जाते थे। इतना स्वार्थ ! सवा सेर अनाज को अंडे की भाँति सेकर आज यह पिशाच खड़ा कर दिया जो मुझे निगल ही जायगा। इतने दिनों में एक बार भी कह देते तो मैं गेहूँ तौलकर दे देता, क्या इसी नियत से चुप साधे बैठे रहे ! बोला—महाराज, नाम लेकर तो मैंने उतना अनाज नहीं दिया, पर कई बार खलिहानी मे सेर-सेर, दो-दो सेर दिया है। अब आप आज साढ़े पाँच मन माँगते हैं, मैं कहाँ से दूँगा ?

विप्र—लेखा जौ जौ, बखसीस सौ सौ, तुमने जो कुछ दिया होगा, उसका कोई हिसाब नहीं, चाहे एक की जगह चार पंसेरी दे दो। तुम्हारे नाम बही मे साढ़े पाँच मन लिखा हुआ है, जिससे चाहे हिसाब लगवा लो। दे दो तो तुम्हारा नाम छेक दूँ, नहीं तो और भी बढ़ता रहेगा।

शंकर—पाँड़े, क्यों एक गरीब को सताते हो, मेरे खाने का ठिकाना नहीं, इतना गेहूँ किसके घर से लाऊँगा ?

विप्र—जिसके घर से चाहे लाओ, मैं छटाँक भर भी न छोड़ूँगा, यहाँ न दोगे, भगवान् के घर तो दोगे ?

शंकर काँप उठा। हम पढ़े-लिखे आदमी होते तो कह देते, अच्छी बात है, ईश्वर के घर ही देंगे, वहाँ की तौल यहाँ से कुछ बड़ी तो न होगी। कम से कम इसका कोई प्रमाण हमारे पास नहीं, फिर उसकी क्या चिंता। किंतु शंकर इतना तार्किक, इतना व्यवहार-चतुर न था। एक तो ऋण—वह भी ब्राह्मण का—बही में नाम रह गया तो सीधे नरक मे जाऊँगा, इस ख्याल ही से उसे रोमाच हो गया। बोला—महाराज, तुम्हारा जितना होगा यहीं दूँगा, ईश्वर के यहाँ क्यों दूँ, इस जनम में तो ठोकर खा ही रहा हूँ, उस जनम के

लिए क्यों काँटे बोऊँ ! मगर यह कोई नियाव नहीं है । तुमने राई का पर्वत बना दिया, ब्राह्मण होके तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था । उसी घडी तगादा करके ले लिया होता, तो आज मेरे सिर पर इतना बडा बोझ क्यों पडता । मैं तो दे दूँगा, लेकिन तुम्हें भगवान् के यहाँ जवाब देना पड़ेगा ।

विप्र—वहाँ का डर तुम्हें होगा, मुझे क्यो होने लगा । वहाँ तो सब अपने ही भाई-बधु हैं । ऋषि मुनि, सब तो ब्राह्मण ही हैं, देवता ब्राह्मण हैं, जो कुछ बने बिगड़ेगी सँभाल लेगे । तो कब देते हो ?

शकर—मेरे पास रक्खा तो है नहीं, किसी से माँग-जाँचकर लाऊँगा तभी न दूँगा !

विप्र—मै यह न मानूँगा । सात साल हो गये, अब एक दिन का भी मुलाहिजा न करूँगा । गेहूँ नहीं दे सकते, तो दस्तावेज लिख दो ।

शकर—मुझे तो देना है, चाहे गेहूँ लो चाहे दस्तावेज लिखाओ, किस हिसाब से दाम रक्खोगे ?

विप्र—बाजार-भाव पाँच सेर का है, तुम्हे सवा पाँच सेर का काट दूँगा ।

शकर—जब दे ही रहा हूँ तो बाज़ार-भाव काटूँगा, पाव भर छुडाकर क्यो दोषी बनूँ ।

हिसाब लगाया गया तो गेहूँ के दाम ६०) हुए । ६०) का दस्तावेज लिखा गया, ३) सैकड़े सूद । साल भर मे न देने पर सूद का दर ३॥) सैकडे । ॥) का स्टाम्प, १) दस्तावेज की तहरीर शकर को ऊपर से देनी पडा ।

गाँव भर ने विप्रजी की निंदा की, लेकिन मुँह पर नहीं । महाजन से सभी का काम पडता है, उसके मुँह कौन आये ।

(२)

शकर ने सालभर तक कठिन तपस्या की । मियाद के पहले रुपये अदा करने का उसने व्रत-सा कर लिया । दोपहर को पहले भी चूल्हा न जलता था, चबेने पर बसर होती थी, अब वह भी बद हुआ, केवल लड़के के लिए रात को रोटियाँ रख दी जातीं । पैसे रोज का तबाकू पी जाता था, यही एक व्यसन था जिसका वह कभी न त्याग कर सका था । अब वह व्यसन भी इस कठिन व्रत की भेंट हो गया । उसने चिलम पटक दी, हुक्का तोड़ दिया और

तमाखू की हाँड़ी चूर-चूर कर डाली। कपड़े पहले भी त्याग की चरम सीमा तक पहुँच चुके थे, अब वह प्रकृति की न्यूनतम रेखाओं में आबद्ध हो गये। शिशिर की अस्थि-वेधक शीत को उसने आग तापकर काट दिया। इस ध्रुव-संकल्प का फल आशा से बढ़कर निकला। साल के अंत में उसके पास ६०) जमा हो गये। उसने समझा, पंडितजी को इतने रुपये दे दूँगा और कहूँगा महाराज, बाकी रुपये भी जल्द ही आपके सामने हाज़िर करूँगा। १५) की तो और बात है, क्या पंडितजी इतना भी न मानेंगे। उसने रुपये लिये और ले जाकर पंडितजी के चरण-कमलों पर अर्पण कर दिये। पंडितजी ने विस्मित होकर पूछा—किसी से उधार लिये क्या?

शंकर—नहीं महाराज, आपके असीस से अबकी मजूरी अच्छी मिली।

विप्र—लेकिन यह तो ६०) ही हैं।

शंकर—हाँ महाराज, इतने अभी ले लीजिए, बाकी मैं दो-तीन महीने में दे दूँगा, मुझे उरिन कर दीजिए।

विप्र—उरिन तो जभी होगे जब मेरी कौड़ी-कौड़ी चुका दोगे। जाकर मेरे १५) और लाओ।

शंकर—महाराज, इतनी दया करो, अब साँझ की रोटियों का भी ठिकाना नहीं है, गाँव में हूँ तो कभी न कभी दे ही दूँगा।

विप्र—मैं यह रोग नहीं पालता, न बहुत बातें करनी जानता हूँ। अगर मेरे पूरे रुपये न मिलेंगे तो आज से ३।।) सैकड़े का ब्याज लगेगा। अपने रुपये चाहे अपने घर में रक्खो, चाहे मेरे यहाँ छोड़ जाओ।

शंकर—अच्छा, जितना लाया हूँ उतना रख लीजिए। मैं जाता हूँ, कहीं से १५) और लाने की फिक्र करता हूँ।

शंकर ने सारा गाँव छान मारा, मगर किसी ने रुपये न दिये, इसलिए नहीं कि उसका विश्वास न था, या किसी के पास रुपये न थे, बल्कि इसलिए कि पंडितजी के शिकार को छेड़ने की किसी की हिम्मत न थी।

(४)

क्रिया के पश्चात् प्रतिक्रिया नैसर्गिक नियम है। शंकर सालभर तक तपस्या करने पर भी जब ऋण से मुक्त होने में सफल न हो सका तो उसका संयम

निराशा के रूप में परिणत हो गया। उसने समझ लिया कि जब इतना कष्ट सहने पर भी सालभर मे ६०। से अधिक न जमा कर सका, तो अब और कौन सा उपाय है जिसके द्वारा इसके दूने रुपये जमा हों। जब सिर पर ऋण का बोझ ही लदना है तो क्या मन भर का और क्या सवा मन का। उसका उत्साह क्षीण हो गया, मिहनत से घृणा हो गई। आशा उत्साह की जननी है, आशा में तेज है, बल है, जीवन है। आशा ही संसार की संचालक शक्ति है। शंकर आशाहीन होकर उदासीन हो गया। वह जरूरतें,-जिनको उसने साल भर तक टाल रखा था, अब द्वार खड़ी होनेवाली भिखारिणी न थी, बल्कि छाती पर सवार होनेवाली पिशाचनियाँ थीं जो अपनी भेंट लिये बिना जान नहीं छोडतीं। कपड़ों मे चकत्तियों के लगने की भी एक सीमा होती है। अब शकर को चिट्ठा मिलता तो वह रुपये जमा न करता, कभी कपडे लाता, कभो खाने की कोई वस्तु। जहाँ पहले तमाखू ही पिया करता था वहाँ अब गाँजे और चरस का चस्का भी लगा। उसे अब रुपये अदा करने की कोई चिंता न थी मानों उसके ऊपर किसी का एक पैसा भी नहीं आता। पहले जूडी चढी होती थी पर वह काम करने अवश्य जाता था, अब काम पर न जाने के लिए बहाना खोजा करता।

इस भाँति तीन वर्ष निकल गये। विप्रजी महाराज ने एक बार भी तकाजा न किया। वह चतुर शिकारी की भाँति अचूक निशाना लगाना चाहते थे। पहले से शिकार को चौकाना उनकी नीति के विरुद्ध था।

एक दिन पडितजी ने कर को बुलाकर हिसाब दिखाया। ६०) जो जमा थे वह मिनहा करने पर अब भी शकर के जिम्मे १२०) निकले।

शकर—इतने रुपये तो उसी जन्म मे दूँगा, इस जन्म में नहीं हो सकते।

विप्र—मैं इसी जन्म में लूँगा। मूल न सही, सूद तो देना ही पडेगा।

शंकर— एक बैल है वह ले लीजिए, एक झोपड़ी है वह ले लीजिए, और मेरे पास रक्खा क्या है।

विप्र —मुझे बैल-बधिया लेकर क्या करना है। मुझे देने को तुम्हारे पास बहुत कुछ है।

शंकर—और क्या है महाराज!

विप्र—कुछ नहीं है तुम तो हो। आख़िर तुम भी कहीं मजूरी करने जाते ही हो, मुझे भी खेती के लिए मजूर रखना ही पडता है। सूद में तुम हमारे यहाँ काम किया करो, जब सुभीता हो मूल भी दे देना। सच तो यों है कि अब तुम किसी दूसरी जगह काम करने नहीं जा सकते जब तक मेरे रुपये नहीं चुका दो। तुम्हारे पास कोई जायदाद नहीं है, इतनी बड़ी गठरी मैं किस एतबार पर छोड दूँ। कौन इसका ज़िम्मा लेगा कि तुम मुझे महीने-महीने सूद देते जाओगे। और कहीं कमाकर जब तुम मुझे सूद भी नहीं दे सकते, तो मूल की कौन कहे!

शकर—महाराज, सूद मे तो काम करूँगा और खाऊँगा क्या?

विप्र—तुम्हारी घरवाली है; लडके हैं, क्या वह हाथ-पाँव कटाके बैठेंगे। रहा मैं, तुम्हे आध सेर जौ रोज़ कलेवा के लिए दे दिया करूँगा। ओढने को साल में एक कबल पा जाओगे, एक मिरजई भी बनवा दिया करूँगा, और क्या चाहिए। यह सच है कि और लोग तुम्हें ।=) रोज़ देते हैं लेकिन मुझे ऐसी ग़रज़ नहीं है, मैं तो तुम्हें अपने रुपये भराने के लिए रखता हूँ।

शकर ने कुछ देर तक गहरी चिंता मे पडे रहने के बाद कहा—महाराज, यह तो जन्म-भर की गुलामी हुई!

विप्र—गुलामी समझो, चाहे मजदूरी समझो। मैं अपने रुपये भराये बिना तुम को कभी न छोड़ूँगा। तुम भागोगे तो तुम्हारा लड़का भरेगा। हाँ, जब कोई न रहेगा तब की बात दूसरी है।

इस निर्णय की कहीं अपील न थी। मजूरी जमानत कौन करता, कहीं शरण न थी, भागकर कहाँ जाता; दूसरे दिन से उसने विप्रजी के यहाँ काम करना शुरू कर दिया। सवा सेर गेहूँ की बदौलत उम्र-भर के लिए गुला- की बेड़ी पैरो में डालनी पड़ी। उस अभागे को अब अगर किसी विचार सतोष होता था तो वह यह था कि यह मेरे पूर्व-जन्म का सस्कार है। को वह काम करने पड़ते थे, जो उसने कभी न किये थे, बच्चे दानों तरसते थे, लेकिन शंकर चुपचाप देखने के सिवा और कुछ न कर सकता था वह गेहूँ के दाने किसी देवता के शाप की भाँति यावज्जीवन उसके सिर न उतरे।

(५)

शंकर ने विप्रजी के यहाँ २० वर्ष तक गुलामी करने के बाद इस दुस्सार संसार से प्रस्थान किया। १२०) अभी तक उसके सिर पर सवार थे। पंडितजी ने उस ग़रीब को ईश्वर के दरबार में कष्ट देना उचित न समझा, इतने अन्यायी, इतने निर्दय न थे। उसके जवान बेटे की गरदन पकड़ी। आज तक वह विप्रजी के यहाँ काम करता है। उसका उद्धार कब होगा, होगा भी या नहीं, ईश्वर ही जाने।

पाठक! इस वृत्तांत को कपोल-कल्पित न समझिए। यह सत्य घटना है। ऐसे शंकरों और ऐसे विप्रों से दुनिया खाली नहीं है।

———

सभ्यता का रहस्य

यों तो मेरी समझ में दुनिया की एक हज़ार एक बातें नहीं आतीं—जैसे लोग प्रातःकाल उठते ही बालो पर छुरा क्यो चलाते हैं? क्या अब पुरुषो में भी इतनी नज़ाकत आ गई है कि बालों का बोझ उनसे नहीं सँभलता? एक साथ ही सभी पढ़े-लिखे आदमियों की आँखें क्यों इतनी कमज़ोर हो गई हैं? दिमाग़ की कमज़ोरी ही इसका कारण है या और कुछ? लोग ख़िताबों के पीछे क्यों इतने हैरान होते हैं? इत्यादि—लेकिन इस समय मुझे इन बातों से मतलब नहीं। मेरे मन मे एक नया प्रश्न उठ रहा है और उसका जवाब मुझे कोई नहीं देता। प्रश्न यह है कि सभ्य कौन है, और असभ्य कौन? सभ्यता के लक्षण क्या हैं? सरसरी नज़र से देखिए, तो इससे ज़्यादा आसान और कोई सवाल ही न होगा। बच्चा-बच्चा इसका समाधान कर सकता है। लेकिन ज़रा ग़ौर से देखिए, तो प्रश्न इतना आसान नहीं जान पड़ता। अगर कोट पतलून पहनना, टाई-हैट-कालर लगाना, मेज़ पर बैठकर खाना खाना दिन में तेरह बार कोको या चाय पीना और सिगार पीते हुए चलना सभ्यता है, तो उन गोरों को भी सभ्य कहना पड़ेगा, जो सड़क पर शाम को कभी-कभी टहलते नज़र आते हैं; शराब के नशे से आँखे सुर्ख़, पैर लड़खड़ाते हुए, रास्ता चलनेवालों को अनायास छेड़ने की धुन! क्या उन गोरों को सभ्य कहा जा सकता है? कभी नहीं। तो यह सिद्ध हुआ कि सभ्यता कोई और ही चीज़ है, उसका देह से इतना संबंध नहीं है, जितना मन से।

(२)

मेरे इने-गिने मित्रों में एक राय रतनकिशोर भी हैं। आप बहुत ही सहृदय, बहुत ही उदार, बहुत अधिक शिक्षित और एक बड़े ओहदेदार हैं। बहुत अच्छा वेतन पाने पर भी उनको आमदनी ख़र्च के लिए काफ़ी नहीं होती। एक चौथाई वेतन तो बँगले ही की भेंट हो जाता है। इसलिए आप

बहुधा चिंतित रहते हैं। रिशवत तो नहीं लेते—कम से कम मैं नहीं जानता, हालाँकि कहनेवाले कहते हैं—लेकिन इतना जानता हूँ कि वह भत्ता बढाने के लिए दौरे पर बहुत रहते हैं, यहाँ तक कि इसके लिए हर साल बजट की किसी दूसरी मद से रुपये निकालने पड़ते हैं। उनके अफसर कहते हैं, इतने दौरे क्यों करते हो, तो जवाब देते हैं, इस जिले का काम ही ऐसा है कि जब तक खूब दौरे न किये जाँय, रिआया शात नहीं रह सकती। लेकिन मजा तो यह है कि राय साहब उतने दौरे वास्तव में नहीं करते, जितने कि अपने रोजनामचे में लिखते हैं। उनके पडाव शहर से ५० मील पर होते हैं। खेमे वहाँ गडे रहते हैं, कैंप के अमले वहाँ पड़े रहते हैं, और राय साहब घर मित्रों के साथ गप-शप करते रहते हैं, पर किसी का मजाल है कि राय साहब की नेकनीयती पर संदेह कर सके! उनके सभ्य पुरुष होने में किसी को शका नहीं हो सकती।

एक दिन मै उनसे मिलने गया। उस समय वह अपने घसियारे दमड़ी को डाँट रहे थे। दमडी रात-दिन का नौकर था, लेकिन घर रोटी खाने जाया करता था। उसका घर थोड़ी ही दूर पर एक गाँव में था। कल रात को किसी कारण से यहाँ न आ सका था। इसीलिए डाँट पड रही थी।

राय साहब—जब हम तुम्हें रात-दिन के लिए रखे हुए हैं, तो तुम घर पर क्यों रहे? कल के पैसे कट जायँगे।

दमडी—हजूर, एक मेहमान आ गये थे, इसी से न आ सका।

राय साहब—तो कल के पैसे उसी मेहमान से लो।

दमडी—सरकार, अब कभी ऐसी खता न होगी।

राय साहब—बक बक मत करो।

दमडी—हजूर ·· ····

राय साहब—दो रुपये जुरमाना।

दमडी रोता हुआ चला गया। रोजा बख्शाने आया था, नमाज गले पड़ गई। २) जुरमाना ठुक गया। ख़ता यही थी कि बेचारा कसूर माफ कराना चाहता था।

यह एक रात को गैरहाज़िर होने की सजा थी! बेचारा दिन भर का

काम कर चुका था, रात को यहाँ सोया न था, उसका दंड ! और घर बैठे भत्ते उड़ानेवालों को कोई नहीं पूछता ! कोई दंड नहीं देता ! दंड तो मिले, और ऐसा मिले कि ज़िंदगी भर याद रहे; पर पकड़ना तो मुश्किल है। दमड़ी भी अगर होशियार होता, तो ज़रा रात रहे आकर कोठरी में सो जाता। फिर किसे खबर होती कि वह रात को कहाँ रहा। पर ग़रीब इतना चंट न था।

(३)

दमड़ी के पास कुल छः बिस्वे जमीन थी ! पर इतने ही प्राणियों का ख़र्च भी था। उसके दो लड़के, दो लड़कियाँ और स्त्री, सब खेती मे लगे रहते थे, फिर भी पेट की रोटियाँ नहीं मयस्सर होती थीं। इतनी ज़मीन क्या सोना उगल देती ! अगर सबके सब घर से निकलकर मज़दूरी करने लगते तो आराम से रह सकते थे; लेकिन मौरूसी किसान मज़दूर कहलाने का अपमान न सह सकता था। इस बदनामी से बचने के लिए दो बैल बाँध रखे थे ! उसके वेतन का बड़ा भाग बैलो के दाने-चारे ही में उड़ जाता था। ये सारी तकलीफे मजूर थीं, पर खेती छोड़कर मजदूर बन जाना मजूर न था। किसान की जो प्रतिष्ठा है, वह कहीं मजदूर की हो सकती है; चाहे वह रुपया रोज़ ही क्यों न कमाये ! किसानी के साथ मज़दूरी करना इतने अपमान की बात नहीं, द्वार पर बँधे हुए बैल उसकी मान रक्षा किया करते हैं, पर बैलों को बेचकर फिर कहाँ मुँह दिखलाने की जगह रह सकती है !

एक दिन राय साहब उसे सरदी से काँपते देखकर बोले—कपड़े क्यों नहीं बनवाता, काँप क्यों रहा है ?

दमड़ी—सरकार, पेट की रोटी तो पूरी ही नहीं पड़ती; कपड़े कहाँ से बनवाऊँ ?

राय साहब—बैलों को बेच क्यों नहीं डालता; सैकड़ों बार समझा चुका, लेकिन न जाने क्यों इतनी मोटी-सी बात तेरी समझ में नहीं आती।

दमड़ी—सरकार, बिरादरी में कहीं मुँह दिखाने लायक न रहूँगा। लड़की की सगाई न हो पायेगी; टाट-बाहर कर दिया जाऊँगा।

राय साहब—इन्हीं हिमाकतों से तुम लोगों की यह दुर्गति हो रही है।

ऐसे आदमियों पर दया करना भी पाप है। (मेरी तरफ फिरकर) क्यों मुंशीजी, इस पागलपन का भी कोई इलाज है? जाड़ों मर रहे हैं, पर दरवाज़े पर बैल ज़रूर बाँधेंगे।

मैंने कहा—जनाब, यह तो अपनी-अपनी समझ है।

राय साहब—ऐसी समझ को दूर से सलाम कीजिए। मेरे यहाँ कई पुश्तों से जन्माष्टमी का उत्सव मनाया जाता था। कई हज़ार रुपयों पर पानी फिर जाता था। गाना होता था, दावतें होती थीं, रिश्तेदारों को न्योते दिये जाते थे, ग़रीबों को कपड़े बाँटे जाते थे। वालिद साहेब के बाद पहले ही साल मैंने उत्सव बंद कर दिया। फ़ायदा क्या! मुफ़्त में चार-पाँच हज़ार की चपत पड़ती थी। सारे कसबे में वावेला मचा, आवाज़े कसी गईं; किसी ने नास्तिक कहा, किसी ने ईसाई बनाया; लेकिन यहाँ इन बातों की क्या परवा! आख़िर थोड़े दिनों में सारा कोलाहल शांत हो गया। अजी बड़ी दिल्लगी थी। कसबे में किसी के यहाँ शादी हो, लकड़ी मुझसे ले! पुश्तों से यह रस्म चली आती थी। वालिद तो दूसरों से दरख्त मोल लेकर इस रस्म को निभाते थे। थी हिमाकत या नहीं? मैंने फौरन लकड़ी देना बंद कर दिया। इसपर भी लोग बहुत रोये-धोये, लेकिन दूसरों का रोना-धोना सुनूँ या अपना फ़ायदा देखूँ! लकड़ी से ही कम-से कम ५००) सालाना की बचत हो गई। अब कोई भूलकर भी इन चीज़ों के लिए मुझे दिक करने नहीं आता।

मेरे दिल में फिर सवाल पैदा हुआ, दोनों में कौन सभ्य है, कुल-प्रतिष्ठा पर प्राण देनेवाला मूर्ख दमड़ी, या धन पर कुल-मर्यादा को बलि देनेवाले राय रतनकिशोर?

(४)

राय साहब के इजलास में एक बड़े मार्के का मुकदमा पेश था। शहर का एक रईस खून के मामले में फँस गया था। उसकी ज़मानत लेने के लिए राय साहब की खुशामदें होने लगीं। इज्जत की बात थी। रईस साहब का हुक्म था कि चाहे रियासत बिक जाय, पर इस मुकदमे से बेदाग़ निकल जाऊँ। डालियाँ लगाई गईं, सिफारिशें पहुँचाई गईं, पर राय साहब पर कोई असर

न हुआ। रईस के आदमियों को प्रत्यक्ष रूप से रिशवत की चरचा करने की हिम्मत न पड़ती थी। आखिर जब कोई बस न चला, तो रईस की स्त्री ने राय साहब की स्त्री से मिलकर सौदा पटाने की ठानी।

रात के १० बजे थे। दोनों महिलाओं में बातें होने लगीं। २० हज़ार की बातचीत थी! राय साहब की पत्नी तो इतनी खुश हुईं कि उसी वक्त राय साहब के पास दौड़ी हुई आईं, और कहने लगीं—ले लो! ले लो! तुम न लोगे, तो मैं ले लूँगी।

राय साहब ने कहा—इतनी बेसब्र न हो। वह तुम्हें अपने दिल में क्या समझेगी? कुछ अपनी इज्जत का ख़याल भी है या नहीं? माना कि रक़म बड़ी है, और इससे मैं एकबारगी तुम्हारे आये-दिन की फरमायशों से मुक्त हो जाऊँगा; लेकिन एक सिविलियन की इज्ज़त भी तो कोई मामूली चीज नहीं है। तुम्हें पहले बिगड़कर कहना चाहिए था कि मुझसे ऐसी बेहूदा बातचीत करनी हो, तो यहाँ से चले जाओ। मैं अपने कानों से नहीं सुनना चाहती।

स्त्री—यह तो मैंने पहले ही किया, बिगड़कर खूब खरी खोटी सुनाई। क्या इतना भी नहीं जानती! बेचारी मेरे पैरों पर सर रखकर रोने लगी।

राय साहब—यह कहा था कि राय साहब से कहूँगी, तो मुझे कच्चा ही चबा जायँगे?

यह कहते हुए राय साहब ने गद्‌गद होकर पत्नी को गले लगा लिया।

स्त्री—अजी, मैं न-जाने ऐसी कितनी ही बातें कह चुकी, लेकिन किसी तरह टाले नहीं टलती। रो-रोकर जान दे रही है।

राय साहब—उससे वादा तो नहीं कर लिया?

स्त्री—वादा? मैं तो रुपये लेकर संदूक में रख आई। नोट थे!

राय साहब—कितनी ज़बरदस्त अहमक़ हो, न मालूम ईश्वर तुम्हें कभी समझ भी देगा या नहीं।

स्त्री—अब क्या देगा, देना होता, तो दे न दी होती।

राय साहब—हाँ, मालूम तो ऐसा ही होता है। मुझसे कहा तक नहीं

और रुपये लेकर संदूक में दाखिल कर लिये ! अगर किसी तरह बात खुल जाय तो कहीं का न रहूँ ।

स्त्री—तो भई सोच लो । अगर कुछ गड़बड़ हो तो मैं जाकर रुपये लौटा दूँ ।

राय साहब—फिर वही हिमाक़त ! अरे, अब तो जो कुछ होना था, हो चुका । ईश्वर पर भरोसा करके ज़मानत लेनी पड़ेगी । लेकिन तुम्हारी हिमाक़त में शक नहीं । जानती हो, यह साँप के मुँह में उँगली डालना है, यह भी जानती हो कि मुझे ऐसी बातों से कितनी नफरत है, फिर भी बेसब्र हो जाती हो । अबकी बार तुम्हारी हिमाकत से मेरा व्रत टूट रहा है । मैंने दिल से ठान लिया था कि अब इस मामले मे हाथ न डालूँगा, लेकिन तुम्हारी हिमाकत के मारे जब मेरी कुछ चलने पाये !

स्त्री—मै जाकर लौटाये देती हूँ ।

राय साहब—और मैं जाकर ज़हर खाये लेता हूँ ।

इधर तो स्त्री-पुरुष मे यह अभिनय हो रहा था, उधर दमडी उसी वक्त अपने गाँव के मुखिया के खेत मे जुआर काट रहा था । आज वह रात-भर की छुट्टी लेकर घर गया था । बैलो के लिए चारे का एक तिनका भी नहीं है । अभी वेतन मिलने में कई दिन की देर थी, मोल ले न सकता था । घरवालों ने दिन को कुछ घास छीलकर खिलाई तो थी, लेकिन ऊँट के मुँह में जीरा, उतनी घास से क्या हो सकता था । दोनों बैल भूखे खड़े थे । दमडी को देखते ही दोनों पूँछें खडी करके हुँकरने लगे । जब वह पास गया, तो दोनों उसकी हथेलियाँ चाटने लगे । बेचारा दमडी मन मसोसकर रह गया । सोचा, इस वक्त तो कुछ हो नहीं सकता, सवेरे किसी से कुछ उधार लेकर चारा लाऊँगा ।

लेकिन जब ११ बजे रात को उसकी आँख खुली, तो देखा, दोनों बैल अभी तक नाँद पर खड़े हैं । चाँदनी रात थी, दमडी को जान पडा कि दोनों उसकी ओर अपेक्षा और याचना की दृष्टि से देख रहे हैं । उनकी क्षुधा वेदना देखकर उसकी आँखे सजल हो आईं । किसान को अपने बैल अपने लड़कों की तरह प्यारे होते हैं । वह उन्हें पशु नहीं, अपना मित्र और सहायक

समझता है। बैलों को भूखे खड़े देख नींद आँखों से भाग गई। कुछ सोचता हुआ उठा। हँसिया निकाली, और चारे की फिक्र में चला। गाँव के बाहर बाजरे और जुआर के खेत खड़े थे। दमड़ी के हाथ काँपने लगे। लेकिन बैलों की याद ने उसे उत्तेजित कर दिया। चाहता, तो कई बोझ काट सकता था; लेकिन वह चोरी करते हुए भी चोर न था। उसने केवल उतना चारा काटा, जितना बैलो को रातभर के लिए काफी हो। सोचा, अगर किसी ने देख भी लिया, तो उससे कह दूँगा, बैल भूखे थे, इसलिए काट लिया। उसे विश्वास था कि थोड़े से चारे के लिए कोई मुझे पकड़ नहीं सकता। मैं कुछ वेचने के लिए तो काट नहीं रहा हूँ, फिर ऐसा निर्दयी कौन है, जो मुझे पकड़ ले। बहुत करेगा अपने दाम ले लेगा! उसने बहुत सोचा। चारे का थोड़ा होना ही उसे चोरी के अपराध से बचाने को काफी था। चोर उतना काटता, जितना उससे उठ सकता, उसे किसी के फायदे नुकसान से क्या मतलब? गाँव के लोग दमड़ी को चारा लिये जाते देखकर बिगड़ते ज़रूर, पर कोई चोरी के इलज़ाम मे न फँसाता, लेकिन सयोग से हल्के के थाने का सिपाही उधर जा निकला। वह पड़ोस के एक बनिये के यहाँ जुआ होने की खबर पाकर कुछ ऐंठने की टोह में आया था। दमड़ी को चारा सिर पर उठाते देखा, तो सदेह हुआ। इतनी रात गये कौन चारा काटता है? हो न हो, कोई चोरी से काट रहा है। डाँटकर बोला—कौन चारा लिये जाता है, खड़ा रह!

दमड़ी ने चौंककर पीछे देखा, तो पुलिस का सिपाही! हाथ पाँव फूल गये, काँपते हुए बोला—हजूर, थोड़ा ही सा काटा है, देख लीजिए।

सिपाही—थोड़ा काटा हो या बहुत, है तो चोरी। खेत किसका है?

दमड़ी—बलदेव महतों का।

सिपाही ने समझा था, शिकार फँसा, इससे कुछ ऐंठूँगा; लेकिन वहाँ क्या रखा था। पकड़कर गाँव मे लाया, और जब वहाँ भी कुछ हत्थे चढ़ता न दिखाई दिया तो थाने ले गया। थानेदार ने चालान कर दिया। मुक़दमा राय साहब ही के इजलास में पेश किया।

राय साहब ने दमड़ी को फँसे हुए देखा तो हमदर्दी के बदले कठोरता

से काम लिया। बोले—यह मेरी बदनामी की बात है। तेरा क्या बिगड़ा, साल-छः महीने की सज़ा हो जायगी, शर्मिंदा तो मुझे होना पड़ रहा है। लोग यही तो कहते होंगे कि राय साहब के आदमी ऐसे बदमाश और चोर हैं। तू मेरा नौकर न होता, तो मै हलकी सज़ा देता ; लेकिन तू मेरा नौकर है, इसलिए कड़ी से कड़ी सजा दूँगा। मैं यह नहीं सुन सकता कि राय साहब ने अपने नौकर के साथ रियायत की।

यह कहकर राय साहब ने दमड़ी को छः महीने की सख्त कैद का हुक्म सुना दिया।

उसी दिन उन्होंने खून के मुकदमे मे ज़मानत ले ली। मैंने दोनो वृत्तात सुने, और मेरे दिल में यह ख्याल और भी पक्का हो गया कि सभ्यता केवल हुनर के साथ ऐब करने का नाम है। आप बुरे से बुरा काम करे, लेकिन अगर आप उसपर परदा डाल सकते हैं, तो आप सभ्य हैं, सज्जन हैं, जेंटिल-मैन हैं। अगर आप में यह सिफत नहीं, तो आप असभ्य हैं, गॅवार हैं, बद-माश हैं। यही सभ्यता का रहस्य है।

समस्या

मेरे दफ्तर मे चार चपरासी हैं। उनमें एक का नाम ग़रीब है। वह बहुत ही सीधा, बड़ा आज्ञाकारी, अपने काम में चौकस रहनेवाला, घुड़कियाँ खाकर चुप रह जानेवाला, यथानाम तथा गुणः मनुष्य है। मुझे इस दफ्तर में साल भर होते हैं, मगर मैंने उसे एक दिन के लिए भी गैरहाजिर नहीं पाया। मै उसे ६ बजे दफ्तर में अपनी फटी दरी पर बैठे हुए देखने का ऐसा आदी हो गया हूँ कि मानों वह भी उसी इमारत का कोई अग है। इतना सरल है कि किसी की बात टालना नहीं जानता। एक मुसलमान है। उससे सारा दफ्तर डरता है, मालूम नहीं क्यो ? मुझे तो इसका कारण सिवाय उसकी बड़ी-बड़ी बातों के कुछ नहीं मालूम होता। उसके कथनानुसार उसके चचेरे भाई रामपूर रियासत मे काज़ी हैं, फूफा टोंक की रियासत मे कोतवाल हैं। उसे सर्वसम्मति ने 'काज़ी-साहेब' की उपाधि दे रखी है। शेष दो महाशय जाति के ब्राह्मण हैं। उनके आशीर्वादो का मूल्य उनके काम से कहीं अधिक है। यह तीनो कामचोर, गुस्ताख़ और आलसी हैं। कोई छोटा-सा काम करने को भी कहिए तो बिना नाक-भौं सिकोडे नहीं करते। क्लर्कों को तो कुछ समझते ही नहीं। केवल बड़े बाबू से कुछ दबते हैं, यद्यपि कभी-कभी उनसे भी झगड़ बैठते हैं। मगर इन सब दुर्गुणों के होते हुए भी दफ्तर में किसी की मिट्टी इतनी ख़राब नहीं है जितनी बेचारे ग़रीब की। तरक्की का अवसर आता है तो यह तीनों मार ले जाते हैं, ग़रीब का कोई पूछता भी नहीं। और सब दस-दस पाते हैं, वह अभी छः ही में पड़ा हुआ है। सुबह से शाम तक उसके पैर एक क्षण के लिए भी नहीं टिकते, यहाँ तक कि तीनों चपरासी उसपर हुकूमत जताते हैं और ऊपर की आमदनी में तो उस बेचारे का कोई भाग ही नहीं। तिसपर भी दफ्तर के सब कर्मचारी-दफ्तरी से लेकर बड़े बाबू तक सब उससे चिढ़ते हैं, उसकी कितनी ही बार शिकायतें हो चुकी हैं, कितनी ही बार जुर्माना हो चुका है और डाँट डपट तो

नित्य ही हुआ करती है। इसका रहस्य कुछ मेरी समझ में न आता था। हाँ, मुझे उसपर दया अवश्य आती थी और अपने व्यवहार से मैं यह दिखाना चाहता था कि मेरी दृष्टि में उसका आदर अन्य चपरासियों से कम नहीं। यहाँ तक कि कई बार मैं उसके पीछे अन्य कर्मचारियों से लड़ भी चुका हूँ।

[२]

एक दिन बड़े बाबू ने ग़रीब से अपनी मेज सफा करने को कहा। वह तुरत मेज साफ करने लगा। दैवयोग से झाडन का झटका लगा तो दावात उलट गई और रोशनाई मेज पर फैल गई। बड़े बाबू यह देखते ही जामे से बाहर हो गये। उसके दोनो कान पकड़कर खूब ऐंठे और भारतवर्ष की सभी प्रचलित भाषाओं से दुर्वचन चुन-चुनकर उसे सुनाने लगे। बेचारा ग़रीब आँखो में आँसू भरे चुपचाप मूर्तिवत् खडा सुनता था, मानों उसने कोई हत्या कर डाली हो। मुझे बड़े बाबू का ज़रा-सी बात पर इतना भयकर रौद्र रूप धारण करना बुरा मालूम हुआ। यदि किसी दूसरे चपरासी ने इससे भी बडा कोई अपराध किया होता तो, भी उसपर इतना वज्र-प्रहार न होता। मैंने अंग्रेजी में कहा—बाबू साहेब, आप यह अन्याय कर रहे हैं। उसने जान-बूझकर तो रोशनाई गिराई नहीं, इसका इतना कडा दड अनौचित्य की पराकाष्ठा है।

बाबूजी ने नम्रता से कहा—आप इसे जानते नहीं, बड़ा दुष्ट है।

'मै तो उसकी कोई दुष्टता नहीं देखता।'

'आप अभी उसे जानते नहीं, एक ही पाजी है। इसके घर दो हलों की खेती होती है, हजारों का लेन देन करता है, कई भैंसे लगती हैं। इन्हीं बातों का इसे घमड है।'

'घर की ऐसी दशा होती, तो आपके यहाँ चपरासगिरी क्यों करता?'

'विश्वास मानिए, बड़ा पोढ़ा आदमी है और बला का मक्खीचूस।'

'यदि ऐसा ही हो, तो भी कोई अपराध नहीं है।'

'अजी अभी आप इन बातो को नहीं जानते। कुछ दिन और रहिए तो आपको स्वय मालूम हो जायगा कि यह कितना कमीना आदमी है।'

एक दूसरे महाशय बोल उठे—भाई साहब, इसके घर मनों दूध-दही

होता है, मनों मटर, जुवार, चने होते हैं, लेकिन इसकी कभी इतनी हिम्मत न हुई कि कभी थोड़ा-सा दफ़्तरवालों को भी दे दे। यहाँ इन चीज़ों को तरस के रह जाते हैं। तो फिर क्यों न जी जले? और यह सब कुछ इसी नौकरी की बदौलत हुआ है। नहीं तो पहले इसके घर में भूनी भाँग भी न थी।

बड़े बाबू कुछ सकुचाकर बोले—यह कोई बात नहीं, उसकी चीज़ है, किसी को दे या न दे, लेकिन यह बिल्कुल पशु है।

मैं कुछ-कुछ मर्म समझ गया। बोला—यदि ऐसे तुच्छ हृदय का आदमी है, तो वास्तव में पशु ही है। मैं यह न जानता था।

अब बड़े बाबू भी खुले। संकोच दूर हुआ। बोले—इन सौगातों से किसी का उबार तो होता नहीं, केवल देनेवाले की सहृदयता प्रकट होती है। और आशा भी उसी से की जाती है जो इस योग्य है। जिसमें सामर्थ्य ही नहीं उससे कोई आशा नहीं करता। नंगे से कोई क्या लेगा।

रहस्य खुल गया। बड़े बाबू ने सरल भाव से सारी अवस्था दरसा दी थी। समृद्धि के शत्रु सब होते हैं, छोटे ही नहीं, बड़े भी। हमारी ससुराल या ननिहाल दरिद्र हो तो हम उससे आशा नहीं रखते। कदाचित् वह हमे विस्मृत हो जाती है। किंतु वे सामर्थ्यवान् होकर हमें न पूछें, हमारे यहाँ तीज और चौथ न भेजे तो हमारे कलेजे पर साँप लोटने लगता है। हम अपने निर्धन मित्र के पास जायँ, तो उसके एक बीड़े पान से ही संतुष्ट हो जाते हैं, पर ऐसा कौन मनुष्य है जो अपने किसी धनी मित्र के घर से बिना जलपान के लौटकर उसे मन में कोसने न लगे और सदा के लिए उसका तिरस्कार न करने लगे। सुदामा कृष्ण के घर से यदि निराश लौटते, तो कदाचित् वह उनके शिशुपाल और जरासंध से भी बड़े शत्रु होते। यह मानव-स्वभाव है।

[३]

कई दिन पीछे मैंने ग़रीब से पूछा—क्योंजी, तुम्हारे घर कुछ खेती-बारी होती है?

ग़रीब ने दीन-भाव से कहा—हाँ, सरकार होती है। आपके दो ग़ुलाम हैं, वही करते हैं।

'गायें भैंसे भी लगती हैं ?'

'हाँ, हजूर, दो भैंसें लगती हैं, मुदा गायें अभी गाभिन नहीं हैं। हजूर ही लोगों के दया धरम से पेट की रोटियाँ चली जाती हैं।'

'दफ्तर के बाबू लोगो की भी कभी कुछ खातिर करते हो ?'

ग़रीब ने अत्यत दीनता से कहा—हजूर, मैं सरकार लोगों की क्या खातिर कर सकता हूँ। खेती में जौ, चना, मक्का, जुवार के सिवाय और क्या होता है। आप लोग राजा है, यह मोटी-झोटी चीज़ें किस मुँह से आपकी भेंट करूँ। जी डरता है, कही कोई डाँट न बैठे कि इस टके के आदमी की इतनी मजाल। इसी मारे बाबूजी, हियाव नहीं पडता। नहीं दूध दही की कौन बिसात थी। मुँह लायक बीड़ा तो होना चाहिए।

'भला एक दिन कुछ लाके दो तो, देखो लोग क्या कहते हैं। शहर में यह चीजें कहाँ मयस्सर होती हैं। इन लोगो का जी कभी-कभी मोटी-झोटी चीजों पर चला करता है।'

'जो सरकार कोई कुछ कहे तो ? कहीं साहब से शिकायत कर दे तो मैं कहीं का न रहूँ '

'इसका मेरा ज़िम्मा है, तुम्हें कोई कुछ न कहेगा। कोई कुछ कहेगा तो मैं समझा दूँगा।'

'तो हजूर आज-कल तो मटर की फसिल है। चने के साग भी हो गये हैं और कोल्हू भी खडा हो गया है। इसके सिवाय तो और कुछ नहीं है।'

'बस तो यही चीज़ें लाओ।'

'कुछ उल्टी-सीधी पडे तो हजूर ही सँभालेंगे ।'

'हाँ जी, कह तो दिया कि मै देख लूँगा।'

दूसरे दिन ग़रीब आया तो उसके साथ तीन हृष्ट-पुष्ट युवक भी थे। दो के सिरों पर दो टोकरियाँ थीं, उनमे मटर की फलियाँ भरी हुई थीं। एक के सिर पर मटका था, उसमे ऊख का रस था। तीनों ऊख का एक-एक गट्टर काँख मे दबाये हुए थे। ग़रीब आकर चुपके से बरामदे के सामने पेड के नीचे खड़ा हो गया। दफ्तर मे आने का उसे साहस नहीं होता था, मानो कोई अपराधी है। वृक्ष के नीचे खड़ा था कि इतने में दफ़्तर के चपरासियों

और अन्य कर्मचारियों ने उसे घेर लिया। कोई ऊख लेकर चूसने लगा, कई आदमी टोकरों पर टूट पड़े। लूट मच गई। इतने में बड़े बाबू भी दफ़्तर मे आ पहुँचे। यह कौतुक देखा तो उच्च स्वर में बोले—यह क्या भीड़ लगा रखी है, अपना-अपना काम देखो।

मैंने जाकर उनके कान में कहा—ग़रीब अपने घर से यह सौगात लाया है। कुछ आप ले लीजिए, कुछ इन लोगों को बाँट दीजिए।

बड़े बाबू ने कृत्रिम क्रोध धारण करके कहा—क्यों ग़रीब, तुम यह चीज़ यहाँ क्यों लाये! अभी लौटा ले जाओ, नहीं तो मैं साहब से रपट कर दूँगा। कोई हम लोगों को मलूका समझ लिया है!

ग़रीब का रंग उड़ गया! थर-थर काँपने लगा। मुँह से एक शब्द भी न निकला। मेरी ओर अपराधी नेत्रों से ताकने लगा।

मैंने उसकी ओर से क्षमा-प्रार्थना की। बहुत कहने-सुनने पर बाबू साहब राज़ी हुए। सब चीज़ो में से आधी-आधी अपने घर भिजवाईं। आधी मे अन्य लोगों के हिस्से लगाये गये। इस प्रकार यह अभिनय समाप्त हुआ।

[४]

अब दफ़्तर में ग़रीब का मान होने लगा। उसे नित्य घुड़कियाँ न मिलतीं, दिन-भर दौड़ना न पड़ता, कर्मचारियों के व्यंग्य और अपने सहवर्गियों के कटुवाक्य न सुनने पड़ते। चपरासी लोग स्वयं उसका काम कर देते। उसके नाम में भी थोड़ा-सा परिवर्तन हुआ। वह ग़रीब से ग़रीबदास बना। स्वभाव में भी कुछ तबदीली पैदा हुई। दीनता की जगह आत्मगौरव का उद्भव हुआ। तत्परता की जगह आलस्य ने ली। वह अब कभी देर करके दफ़्तर आता, कभी-कभी बीमारी का बहाना करके घर बैठा रहता। उसके सभी अपराध अब क्षम्य थे। उसे अपनी प्रतिष्ठा का गुर हाथ लग गया था। वह अब दसवें-पाँचवें दूध, दही आदि लाकर बड़े बाबू की भेंट किया करते। देवता को संतुष्ट करना सीख गया। सरलता के बदले अब उसमें काँइयाँपन आ गया।

एक रोज़ बड़े बाबू ने उसे सरकारी फ़ार्मों का पार्सल छुड़ाने के लिए स्टेशन भेजा। कई बड़े बड़े पुलिंदे थे। ठेले पर आये। ग़रीब ने ठेलेवालों

से ।||) मजदूरी तै की थी। जब कागज़ दफ़्तर में गये तो उसने बड़े बाबू से ।||) पैसे ठेलेवालों को देने के लिए वसूल किये। लेकिन दफ़्तर से कुछ दूर जाकर उसकी नीयत बदली। अपनी दस्तूरी माँगने लगा। ठेलेवाले राज़ी न हुए। इस पर ग़रीब ने बिगड़कर सब पैसे जेब मे रख लिये और धमकाकर बोला—अब एक फूटी कौड़ी भी न दूँगा। जाओ, जहाँ चाहे फरियाद करो, देखें क्या बना लेते हो। ठेलेवालो ने जब देखा कि भेंट न देने से जमा ही ग़ायब हुई जाती है, तो रो-धोकर चार आने पैसे देने पर राजी हुए। ग़रीब ने अठन्नी उनके हवाले की, ।||) की रसीद लिखवाकर उनके अँगूठे के निशान लगवाये और रसीद दफ्तर मे दाखिल हो गई।

यह कुतूहल देखकर मैं दग रह गया। यह वही ग़रीब है जो कई महीने पहले सरलता और दीनता की मूर्ति था, जिसे कभी चपरासियों से भी अपने हिस्से की रक़म माँगने का साहस न होता था, जो दूसरों को खिलाना भी न जानता था, खाने का तो ज़िक्र ही क्या। यह स्वभावातर देखकर अत्यत खेद हुआ। इसका उत्तरदायित्व किसके सिर था! मेरे सिर जिसने उसे चघड़पन, धूर्त्तता का पहला पाठ पढ़ाया था। मेरे चित्त में प्रश्न उठा—इस काँइयाँपन से जो दूसरों का गला दबाता है, वह भोलापन क्या बुरा था जो दूसरों का अन्याय सह लेता था। वह अशुभ मुहूर्त था जब मैंने उसे प्रतिष्ठा-प्राप्ति का मार्ग दिखाया, क्योंकि वास्तव में वह उसके पतन का भयकर मार्ग था। मैंने बाह्य प्रतिष्ठा पर उसकी आत्म प्रतिष्ठा का बलिदान कर दिया।

दो सखियाँ

(१)

लखनऊ

१-७-२५

प्यारी बहन, जबसे यहाँ आई हूँ, तुम्हारी याद सताती रहती है। काश तुम कुछ दिनों के लिए यहाँ चली आतीं, तो कितनी बहार रहती। मैं तुम्हें अपने विनोद से मिलाती। क्या यह संभव नहीं है? तुम्हारे माता-पिता क्या तुम्हें इतनी आज़ादी भी न देंगे। मुझे तो आश्चर्य यही है कि बेड़ियाँ पहनकर तुम कैसे रह सकती हो। मैं तो इस तरह घंटे-भर भी न रह सकती। ईश्वर को धन्यवाद देती हूँ कि मेरे पिताजी पुरानी लकीर पीटनेवालों में नहीं। वह उन नवीन आदर्शों के भक्त हैं, जिन्होंने नारी-जीवन को स्वर्ग बना दिया है। नहीं तो मैं कहीं की न रहती।

विनोद हाल ही में इंगलैंड से डी० फिल० होकर लौटे हैं और जीवन-यात्रा आरंभ करने के पहिले एक बार संसार-यात्रा करना चाहते हैं। योरोप का अधिकांश भाग तो वह देख चुके हैं, पर अमेरिका, आस्ट्रेलिया और एशिया की सैर किये बिना उन्हें चैन नहीं। मध्य एशिया और चीन का तो यह विशेष रूप से अध्ययन करना चाहते हैं। योरपियन यात्री जिन बातों की मीमांसा न कर सके, उन्हीं पर प्रकाश डालना इनका ध्येय है। सच कहती हूँ चंदा, ऐसा साहसी, ऐसा निर्भीक, ऐसा आदर्शवादी पुरुष मैंने कभी नहीं देखा था। मैं तो उनकी बातें सुनकर चकित हो जाती हूँ ऐसा कोई विषय नहीं है, जिसका उन्हें पूरा ज्ञान न हो, जिसकी वह आलोचना न कर सकते हों; और यह केवल किताबी आलोचना नहीं होती, उसमें मौलिकता और नवीनता होती है। स्वतंत्रता के तो वह अनन्य उपासक हैं। ऐसे पुरुष की पत्नी बनकर ऐसी कौन सी स्त्री है, जो अपने सौभाग्य पर गर्व न करे। बहन, तुमसे क्या कहूँ कि प्रातःकाल उन्हें अपने बँगले की ओर आते देखकर मेरे चित्त की

क्या दशा हो जाती है। यह उनपर न्योछावर होने के लिए विकल हो जाती है। वह मेरी आत्मा में बस गये हैं। अपने पुरुष की मैंने मन में जो कल्पना की थी, उसमें और इनमें बाल बराबर भी अतर नहीं। मुझे रात-दिन यही भय लगा रहता है कि कहीं मुझमे उन्हें कोई त्रुटि न मिल जाय। जिन विषयों से उन्हें रुचि है, उनका अध्ययन आधी रात तक बैठी किया करती हूँ। ऐसा परिश्रम मैने कभी न किया था। आइने-कंघी से मुझे कभी इतना प्रेम न था, सुभाषितों को मैंने कभी इतने चाव से कठ न किया था। अगर इतना सब कुछ करने पर भी मैं उनका हृदय न पा सकी, तो बहन, मेरा जीवन नष्ट हो जायगा, मेरा हृदय फट जायगा और ससार मेरे लिए सूना हो जायगा।

कदाचित् प्रेम के साथ ही मन मे ईर्ष्या का भाव भी उदय हो जाता है। उन्हें मेरे बॅगले की ओर आते हुए देख जब मेरी पड़ोसिन कुसुम अपने बरामदे मे आकर खड़ी हो जाती है, तो मेरा ऐसा जी चाहता है कि उसकी आँखें ज्योति-हीन हो जायँ। कल तो अनर्थ ही हो गया। विनोद ने उसे देखते ही हैट उतार ली और मुसकिराये। वह कुलटा भी खीसे निकालने लगी। ईश्वर सारी विपत्तियाँ दे, पर मिथ्याभिमान न दे। चुड़ैलों की-सी तो आपकी सूरत है, पर अपने को अप्सरा समझती हैं। आप कविता करती हैं और कई पत्रिकाओं में उनकी कविताएँ छप भी गई हैं। बस, आप ज़मीन पर पाँव नहीं रखतीं। सच कहती हूँ, थोडी देर के लिए विनोद पर से मेरी श्रद्धा उठ गई। ऐसा आवेश होता था कि चलकर कुसुम का मुँह नोच लूँ। खैरियत हुई कि दोनों में बातचीत न हुई, पर विनोद आकर बैठे, तो आध घटे तक मैं उनसे न बोल सकी, जैसे उनके शब्दो मे वह जादू ही न था, वाणी मे वह रस ही न था। तबसे अब तक मेरे चित्त की व्यग्रता शात नहीं हुई। रात-भर मुझे नींद नहीं आई, वह दृश्य आँखो के सामने बार-बार आता था। कुसुम को लज्जित करने के लिए कितने मसूबे बाँध चुकी हूँ। चदा, मुझे आज तक यह नहीं मालूम था कि मेरा मन इतना दुर्बल है। अगर यह भय न होता कि विनोद मुझे ओछी और हलकी समझेंगे, तो मैं उनसे अपने मनोभावो को स्पष्ट कह देती। मैं सपूर्णतः उनकी होकर उन्हें सपूर्णतः अपना बनाना चाहती हूँ। मुझे विश्वास है कि संसार का सबसे

रूपवान युवक मेरे सामने आ जाय, तो मैं उसे आँख उठाकर न देखूँगी। विनोद के मन मे मेरे प्रति यह भाव क्यों नहीं है ?

चंदा, प्यारी बहन, एक सप्ताह के लिए आ जा। तुझसे मिलने के लिए मन अधीर हो रहा है। मुझे इस समय तेरी सलाह और सहानुभूति की बड़ी ज़रूरत है। यह मेरे जीवन का सबसे नाज़ुक समय है। इन्हीं दस-पाँच दिनों में या तो पारस हो जाऊँगी, या मिट्टी। लो ७ बज गये और अभी बाल तक नहीं बनाये। विनोद के आने का समय है। अब बिदा होती हूँ। कहीं आज फिर अभागिनी कुसुम अपने बरामदे में न आ खड़ी हो। अभी से दिल काँप रहा है। कल तो यह सोचकर मन को समझाया था कि यों ही सरल भाव से वह हँसी पड़ी होगी। आज भी अगर वही दृश्य सामने आया, तो उतनी आसानी से मन को न समझा सकूँगी।

तुम्हारी
पद्मा

(२)

गोरखपुर
५-७-२५

प्रिय पद्मा,

भला एक युग के बाद तुम्हें मेरी सुधि आई। मैंने तो समझा था, शायद तुमने परलोक-यात्रा कर ली। यह उस निष्ठुरता का दड ही है, जो कुसुम तुम्हें दे रही है। १५ एप्रिल को कॉलेज बंद हुआ और एक जुलाई को आप ख़त लिखती हैं, पूरे ढाई महीने बाद, वह भी कुसुम की कृपा से। जिस कुसुम को तुम कोस रही हो, उसे मैं आशीर्वाद दे रही हूँ। वह दारुण दुःख की भाँति तुम्हारे रास्ते में न आ खड़ी होती, तो तुम्हें क्यो मेरी याद आती। ख़ैर, विनोद की तुमने जो तसवीर खींची, वह बहुत ही आकर्षक है, और मैं ईश्वर से मना रही हूँ, वह दिन जल्द आये कि मैं उनसे बहनोई के नाते मिल सकूँ। मगर देखना, कहीं सिविल मैरेज न कर बैठना। विवाह हिंदू-पद्धति के अनुसार ही हो। हाँ, तुम्हें अख़्तियार है, जो सैकड़ो बेहूदा और व्यर्थ के पचड़े हैं, उन्हें निकाल डालो। एक सच्चे, विद्वान पंडित को

अवश्य बुलाना, इसलिए नहीं कि वह तुमसे बात-बात पर टके निकलवाये, बल्कि इसलिए कि वह देखता रहे कि सब कुछ शास्त्र विधि से हो रहा है, या नहीं।

अच्छा, अब मुझसे पूछो कि इतने दिनों क्यों चुप्पी साधे बैठी रही। मेरे ही ख़ानदान में, इन ढाई महीनों में, पाँच शादियाँ हुईं। बारातों का ताँता लगा रहा। ऐसा शायद ही कोई दिन गया हो कि १०० मेहमानों से कम रहे हो, और जब बारात आ जाती थी, तब तो उनकी सख्या पाँच पाँच सौ तक पहुँच जाती थी। ये पाँचो लड़कियाँ मुझसे छोटी हैं; और मेरा बस चलता तो अभी तीन चार साल तक न बोलती, लेकिन मेरी सुनता कौन है और विचार करने पर मुझे भी ऐसा मालूम होता है कि माता-पिता का लडकियों के विवाह के लिए जल्दी करना कुछ अनुचित नहीं है। जिंदगी का कोई ठिकाना नहीं। अगर माता-पिता अकाल ही मर जायँ, तो लड़की का विवाह कौन करे। भाइयो का क्या भरोसा। अगर पिता ने काफी दौलत छोड़ी है, तो कोई बात नहीं; लेकिन जैसा साधारणतः होता है, पिता ऋण का भार छोड़ गये, तो बहन भाइयों पर भार हो जाती है। यह भी अन्य कितने ही हिंदू-रस्मों की भाँति आर्थिक समस्या है, और जब तक हमारी आर्थिक दशा न सुधरेगी, यह रस्म भी न मिटेगी।

अब मेरे बलिदान की बारी है। आज के पंद्रहवें दिन यह घर मेरे लिए विदेश हो जायगा। दो-चार महीने के लिए आऊँगी, तो मेहमान की तरह। मेरे विनोद बनारसी हैं, अभी क़ानून पढ रहे हैं। उनके पिता नामी वकील हैं। सुनती हूँ कई गाँव हैं, कई मकान हैं, अच्छी मर्यादा है। मैंने अभी तक वर को नहीं देखा। पिताजी ने मुझसे पुछवाया था कि इच्छा हो, तो वर को बुला दूँ। पर मैंने कह दिया, कोई ज़रूरत नहीं। कौन घर में बहू बने। है तक़दीर ही का सौदा। न पिताजी ही किसी के मन मे पैठ सकते हैं, न मैं ही। अगर दो-एक बार देख ही लेती, नहीं मुलाकात ही कर लेती, तो क्या हम दोनों एक दूसरे को परख लेते। यह किसी तरह संभव नहीं। ज़्यादा-से-ज़्यादा हम एक दूसरे का रग-रूप देख सकते हैं। इस विषय में मुझे विश्वास है कि पिताजी मुझसे कम सयत नहीं हैं। मेरे दोनों बड़े बहनोई

सौंदर्य के पुतले न हों, पर कोई रमणी उनसे घृणा नहीं कर सकती। मेरी बहनें उनके साथ आनंद से जीवन बिता रही हैं। फिर पिताजी मेरे ही साथ क्यों अन्याय करेंगे। यह मैं मानती हूँ कि हमारे समाज में कुछ लोगों का वैवाहिक जीवन सुखकर नहीं है, लेकिन संसार में ऐसा कौन समाज है, जिसमें दुखी परिवार न हों। और फिर हमेशा पुरुषों ही का दोष तो नहीं होता, बहुधा स्त्रियाँ ही विष की गाँठ होती हैं। मै तो विवाह को सेवा और त्याग का व्रत समझती हूँ और इसी भाव से उसका अभिवादन करती हूँ। हाँ, मैं तुम्हें विनोद से छीनना तो नहीं चाहती, लेकिन अगर २० जुलाई तक तुम दो दिन के लिए आ सको, तो मुझे जिला लो। ज्यों-ज्यों इस व्रत का दिन निकट आ रहा है, मुझे एक अज्ञात शंका हो रही है, मगर खुद बीमार हो, मेरी दवा क्या करोगी—ज़रूर आना बहन !

तुम्हारी
चंदा

(३)

मसूरी
५-८-२५

प्यारी चंदा—सैकड़ो बातें लिखनी हैं, किस क्रम से शुरू करूँ, समझ मे नहीं आता। सबसे पहले तुम्हारे विवाह के शुभ अवसर पर न पहुँच सकने के लिए क्षमा चाहती हूँ। मैं आने का निश्चय कर चुकी थी, मैं और प्यारी चंदा के स्वयंवर मे न जाऊँ। मगर उसके ठीक तीन दिन पहले विनोद ने अपना आत्म समर्पण करके मुझे ऐसा मुग्ध कर दिया कि फिर मुझे किसी बात की सुध न रही। आह! वे प्रेम के अंतस्तल से निकले हुए उष्ण आवेशमय और कंपित शब्द अभी तक कानों मे गूँज रहे हैं। मैं खड़ी थी, और विनोद मेरे सामने घुटने टेके हुए प्रेरणा, विनय और आग्रह के पुतले बने बैठे थे। ऐसा अवसर जीवन में एक ही बार आता है, केवल एक बार, मगर उसकी मधुर स्मृति किसी स्वर्ग संगीत की भाँति जीवन के तार-तार में व्याप्त रहती है। तुम उस आनंद का अनुभव न कर सकोगी—मैं रोने लगी, कह नहीं सकती, मन मे क्या-क्या भाव आये ; पर मेरी आँखों से आँसुओं

की धारा बहने लगी। कदाचित् यही आनंद की चरम सीमा है। मैं कुछ-कुछ निराश हो चली थी। तीन-चार दिन से विनोद को, आते जाते कुसुम से बातें करते देखती थी, कुसुम नित नये आभूषणों से सजी रहती थी और क्या कहूँ, एक दिन विनोद ने कुसुम की एक कविता मुझे सुनाई और एक एक शब्द पर सिर धुनते रहे। मैं मानिनी तो हूँ ही, सोची, जब यह उस चुड़ैल पर लट्टू हो रहे हैं, तो मुझे क्या ग़रज पड़ी है कि इनके लिए अपना सिर खपाऊँ। दूसरे दिन वह सवेरे आये, तो मैंने कहला दिया, तबियत अच्छी नहीं है। जब उन्होंने मुझसे मिलने के लिए आग्रह किया, तब विवश होकर मुझे कमरे मे आना पडा। मन में निश्चय करके आई थी--साफ कह दूँगी अब आप न आया कीजिए। मैं आपके योग्य नहीं हूँ, मैं कवि नहीं, विदुषी नहीं, सुभाषिणी नहीं. ...एक पूरी स्पीच मन मे उमड रही थी, पर कमरे में आई और विनोद के सतृष्ण नेत्र देखे, प्रबल उत्कंठा से काँपते हुए ओठ--बहन, उस आवेश का चित्रण नहीं कर सकती। विनोद ने मुझे बैठने भी न दिया। मेरे सामने घुटनों के बल फर्श पर बैठ गये, और उनके आतुर, उन्मत्त शब्द मेरे हृदय को तरंगित करने लगे।

एक सप्ताह तैयारियों में कट गया। पापा और मामा फूले न समाते थे। और सबसे प्रसन्न थी कुसुम! वही कुसुम जिसकी सूरत से मुझे घृणा थी! अब मुझे ज्ञात हुआ कि मैंने उसपर संदेह करके उसके साथ घोर अन्याय किया। उसका हृदय निष्कपट है, उसमें न ईर्ष्या है, न तृष्णा, सेवा ही उसके जीवन का मूल-तत्व है। मैं नहीं समझती कि उसके बिना ये सात दिन कैसे कटते। मैं कुछ खोई-खोई-सी जान पड़ती थी। कुसुम पर मैंने अपना सारा भार छोड़ दिया था। आभूषणो के चुनाव और सजाव, वस्त्रों के रंग और काट-छाँट के विषय में उसकी सुरुचि विलक्षण है। आठवें दिन जब उसने मुझे दुलहिन बनाया, तो मैं अपना रूप देखकर चकित हो गई। मैंने अपने को कभी ऐसी सुंदरी न समझा था। गर्व से मेरी आँखों में नशा-सा छा गया!

उसी दिन संध्या-समय विनोद और मैं दो भिन्न जल-धाराओं की भाँति संगम पर मिलकर अभिन्न हो गये। विहार-यात्रा की तैयारी पहले ही से हो चुकी थी, प्रातःकाल हमें मंसूरी के लिए रवाना हो गये। कुसुम हमें पहुँचाने

के लिए स्टेशन तक आई और विदा होते समय बहुत रोई। उसे साथ ले चलना चाहती थी, पर न जाने क्यों वह राज़ी न हुई।

मंसूरी रमणीक है, इसमें संदेह नहीं। श्यामवर्ण मेघमालाएँ पहाड़ियों पर विश्राम कर रही हैं, शीतल पवन आशा-तरंगों की भाँति चित्त का रंजन कर रहा है; पर मुझे ऐसा विश्वास है कि विनोद के साथ मैं किसी निर्जन वन में भी इतने ही सुख से रहती। उन्हें पाकर अब मुझे किसी वस्तु की लालसा नहीं। बहन, तुम इस आनंदमय जीवन की शायद कल्पना भी न कर सकोगी। सुबह हुई, नाश्ता आया, हम दोनों ने नाश्ता किया, डाँड़ी तैयार है, नौ बजते-बजते सैर करने निकल गये। किसी जल-प्रपात के किनारे जा बैठे। वहाँ जल-प्रवाह का मधुर संगीत सुन रहे हैं या किसी शिला खंड पर बैठे मेघों की व्योम-क्रीड़ा देख रहे हैं। ११ बजते-बजते लौटे। भोजन तैयार है। भोजन किया। मैं प्यानों पर जा बैठी। विनोद को संगीत से प्रेम है। खुद बहुत अच्छा गाते हैं, और मैं गाने लगती हूँ, तब तो वह झूमने ही लगते हैं। तीसरे पहर हम एक घंटे के लिए विश्राम करके खेलने या कोई खेल देखने चले जाते हैं। रात को भोजन करने के बाद थियेटर देखते हैं और वहाँ से लौटकर शयन करते हैं। न सास की घुड़कियाँ है, न ननदों की कानाफूसी, न जेठानियों के ताने। पर इस सुख में भी मुझे कभी कभी एक शंका-सी होती है—फूल में कोई काँटा तो नहीं छिपा हुआ है, प्रकाश के पीछे कहीं अंधकार तो नहीं है! मेरी समझ में नहीं आता, ऐसी शंका क्यों होती है। अरे, यह लो पाँच बज गये, विनोद तैयार हैं, आज टेनिस का मैच देखने जाना है। मैं भी जल्दी से तैयार हो जाऊँ। शेष बातें फिर लिखूँगी।

हाँ, एक बात तो भूली ही जा रही थी। अपने विवाह का समाचार लिखना। पतिदेव कैसे हैं? रंग-रूप कैसा है? ससुराल गई, या अभी मैके ही में हो? ससुराल गई, तो वहाँ के अनुभव अवश्य लिखना। तुम्हारी ख़ूब नुमाइश हुई होगी। घर, कुटुंब और मुहल्ले की महिलाओं ने घूँघट उठा-उठाकर ख़ूब मुँह देखा होगा, ख़ूब परीक्षा हुई होगी। ये सभी बातें विस्तार से लिखना। देखें कब फिर मुलाक़ात होती है।

तुम्हारी

पद्मा

(४)

गोरखपुर
१-६-२५

प्यारी पद्मा, तुम्हारा पत्र पढ़कर चित्त को बड़ी शांति मिली। तुम्हारे न आने ही से मैं समझ गई थी कि विनोद बाबू तुम्हें हर ले गये, मगर यह न समझी थी कि तुम मसूरी पहुँच गईं। अब उस आमोद-प्रमोद में भला ग़रीब चंदा तुम्हें क्यों याद आने लगी। अब मेरी समझ में आ रहा है कि विवाह के नये और पुराने आदर्श में क्या अंतर है। तुमने अपनी पसंद से काम लिया, सुखी हो। मैं लोकलाज की दासी बनी रही, नसीबों को रो रही हूँ।

अच्छा, अब मेरी बीती सुनो। दान-दहेज के टंटे से तो मुझे कुछ मतलब नहीं। पिताजी ने बड़ा ही उदार हृदय पाया है। ख़ूब दिल खोलकर दिया होगा। मगर द्वार पर बारात आते ही मेरी अग्नि परीक्षा शुरू हो गई। कितनी उत्कंठा थी वरदर्शन की, पर देखूँ कैसे! कुल की नाक न कट जायगी। द्वार पर बारात आई। सारा जमाना वर को घेरे हुए था। मैंने सोचा—छत पर से देखूँ। छत पर गई, पर वहाँ से भी कुछ न दिखाई दिया। हाँ, इस अपराध के लिए अम्माजी की घुड़कियाँ सुननी पड़ीं। मेरी जो बात इन लोगों को अच्छी नहीं लगती, उसका दोष मेरी शिक्षा के माथे मढ़ा जाता है। पिताजी बेचारे मेरे साथ बड़ी सहानुभूति रखते हैं। मगर किस-किसका मुँह पकड़ें! द्वारचार तो यों गुजरा। और भाँवरों की तैयारियाँ होने लगीं। जनवासे से गहनों और कपड़ों का डाल आया। बहन! सारा घर—स्त्री पुरुष—सब उसपर कुछ इस तरह टूटे, मानो इन लोगों ने कभी कुछ देखा ही नहीं। कोई कहता है कंठा तो लाये ही नहीं, कोई हार के नाम को रोता है। अम्माजी तो सचमुच रोने लगीं, मानो मैं डुबा दी गई। वर पक्षवालों की दिल खोलकर निंदा होने लगी। मगर मैंने गहनों की तरफ़ आँख उठाकर भी नहीं देखा। हाँ, जब कोई वर के विषय में कोई बात करता था, तो मैं तन्मय होकर सुनने लगती थी। मालूम हुआ—दुबले-पतले आदमी हैं। रंग साँवला है, आँखें बड़ी-बड़ी हैं, हँसमुख हैं। इन सूचनाओं से दर्शनोत्कंठा और भी प्रबल होती थी। भाँवरों का मुहूर्त ज्यों-ज्यों समीप आता

था, मेरा चित्त व्यग्र होता जाता था। अब तक यद्यपि मैंने उनकी झलक भी न देखी थी, पर मुझे उनके प्रति एक अभूतपूर्व प्रेम का अनुभव हो रहा था। इस वक्त यदि मुझे मालूम हो जाता कि उनके दुश्मनों को कुछ हो गया है, तो मैं बावली हो जाती। अभी तक मेरा उनसे साक्षात् नहीं हुआ है, मैंने उनकी बोली तक नहीं सुनी है, लेकिन संसार का सबसे रूपवान् पुरुष भी मेरे चित्त को आकर्षित नहीं कर सकता। अब वही मेरे सर्वस्व हैं।

आधी रात के बाद भाँवरें हुईं। सामने हवन-कुंड था, दोनों ओर विप्र-गण बैठे हुए थे, दीपक जल रहा था, कुलदेवता की मूर्ति रखी हुई थी। वेद मन्त्र का पाठ हो रहा था। उस समय मुझे ऐसा मालूम हुआ कि सचमुच देवता विराजमान हैं। अग्नि, वायु, दीपक, नक्षत्र सभी मुझे उस समय देवत्व की ज्योति से प्रदीप्त जान पड़ते थे। मुझे पहली बार आध्यात्मिक विकास का परिचय मिला। मैंने जब अग्नि के सामने मस्तक झुकाया, तो यह कोरी रस्म की पाबंदी न थी, मैं अग्निदेव को अपने सम्मुख मूर्तिमान्, स्वर्गीय आभा से तेजोमय देख रही थी। आखिर भाँवरें भी समाप्त हो गईं, पर पतिदेव के दर्शन न हुए।

अब अंतिम आशा यह थी कि प्रात:काल जब पतिदेव कलेवा के लिए बुलाये जायँगे, उस समय देखूँगी। तब उनके सिर पर मौर न होगा, सखियों के साथ मैं भी जा बैठूँगी और खूब जी भरकर देखूँगी। पर क्या मालूम था कि विधि कुछ और ही कुचक्र रच रहा है। प्रातःकाल देखती हूँ, तो जनवासे के खेमे उखड़ रहे हैं। बात कुछ न थी। बरातियों के नाश्ते के लिए जो सामान भेजा गया था, वह काफी न था। शायद घी भी ख़राब था। मेरे पिताजी को तुम जानती ही हो। कभी किसी से दबे नहीं, जहाँ रहे शेर बनकर रहे। बोले—जाते हैं, जाने दो, मनाने की कोई ज़रूरत नहीं, कन्यापक्ष का धर्म है बरातियों का सत्कार करना, लेकिन सत्कार का यह अर्थ नहीं कि धमकी और रोब से काम लिया जाय, मानों किसी अफसर का पड़ाव हो। अगर वह अपने लड़के की शादी कर सकते हैं तो मैं भी अपनी लड़की की शादी कर सकता हूँ।

बारात चली गई और मैं पति के दर्शन न कर सकी! सारे शहर मे हल-चल मच गई। विरोधियों को हँसने का अवसर मिला। पिताजी ने बहुत

सामान जमा किया था। वह सब ख़राब हो गया। घर में जिसे देखिए, मेरी ससुराल की निंदा कर रहा है—उजड्ड हैं, लोभी हैं, बदमाश हैं। मुझे ज़रा भी बुरा नहीं लगता। लेकिन पति के विरुद्ध मैं एक शब्द भी नहीं सुनना चाहती। एक दिन अम्माजी बोलीं—लड़का भी बेसमझ है। दूध-पीता बच्चा नहीं, कानून पढ़ता है, मूछ-दाढी आ गई है, उसे अपने बाप को समझाना चाहिए था कि आप लोग क्या कर रहे हैं। मगर वह भी भीगी बिल्ली बना रहा। मैं सुनकर तिलमिला उठी। कुछ बोली तो नहीं, पर अम्माजी को मालूम जरूर हो गया कि इस विषय में मैं उनसे सहमत नहीं। मैं तुम्हीं से पूछती हूँ बहन, जैसी समस्या उठ खड़ी हुई थी, उसमें उनका क्या धर्म था? अगर वह अपने पिता और अन्य सबधियों का कहना न मानते, तो उनका अपमान न होता? उस वक्त उन्होंने वही किया, जो उचित था। मगर मुझे विश्वास है कि जरा मामला ठडा होने पर वह आयेंगे। मैं अभी से उनकी राह देखने लगी हूँ। डाकिया चिट्ठियाँ लाता है, तो दिल में धड़कन होने लगती है—शायद उनका पत्र भी हो! जी मे बार-बार आता है, क्यों न मैं ही एक ख़त लिखूँ; मगर सकोच मे पडकर रह जाती हूँ। शायद मैं कभी न लिख सकूँगी। मान नहीं है, केवल सकोच है, पर हाँ, अगर दस-पाँच दिन और उनका पत्र न आया, या वह खुद न आये, तो सकोच मान का रूप धारण कर लेगा। क्या तुम उन्हें एक चिट्ठी नहीं लिख सकतीं? सब खेल बन जाय। क्या मेरी इतनी ख़ातिर भी न करोगी? मगर ईश्वर के लिए उस ख़त मे कहीं यह न लिख देना कि चदा ने प्रेरणा की है। क्षमा करना, ऐसी भद्दी ग़लती की तुम्हारी ओर से शका करके मै तुम्हारे साथ अन्याय कर रही हूँ, मगर मैं समझदार थी ही कब?

तुम्हारी
चदा

(५)

मंसूरी
२०-६-२५

प्यारी चन्दा! मैंने तुम्हारा ख़त पाने के दूसरे ही दिन काशी ख़त लिख दिया था। उसका जवाब भी मिल गया। शायद बाबूजी ने तुम्हें ख़त लिखा

हो। कुछ पुराने ख़याल के आदमी हैं। मेरी तो उनसे एक दिन भी न निभती। हाँ, तुमसे निभ जायगी। यदि मेरे पति ने मेरे साथ यह बर्ताव किया होता—अकारण मुझसे रूठे होते—तो मैं ज़िंदगी भर उनकी सूरत न देखती। अगर कभी आते भी तो कुत्तों की तरह दुत्कार देती। पुरुष पर सबसे बड़ा अधिकार उसकी स्त्री का है। माता पिता को खुश रखने के लिए वह स्त्री का तिरस्कार नहीं कर सकता। तुम्हारे ससुरालवालों ने बड़ा घृणित व्यवहार किया। पुराने खयालवालों का ग़ज़ब का कलेजा है, जो ऐसी बातें सहते हैं। देखो न उस प्रथा का फल, जिसकी तारीफ करते तुम्हारी ज़बान नहीं थकती। वह दीवार सड़ गई है। टीपटाप करने से काम न चलेगा। उसकी जगह नये सिरे से दीवार बनाने की ज़रूरत है।

अच्छा, अब कुछ मेरी कथा भी सुन लो। मुझे ऐसा संदेह हो रहा है कि विनोद ने मेरे साथ दग़ा की है। इनकी आर्थिक दशा वैसी नहीं, जैसी मैंने समझी थी। केवल मुझे ठगने के लिए इन्होंने सारा स्वाँग भरा था। मोटर माँगे की थी, बँगले का किराया अभी तक नहीं दिया गया, फरनिचर किराये के थे। यह सच है कि इन्होंने प्रत्यक्ष रूप से मुझे धोखा नहीं दिया। कभी अपनी दौलत की डींग नहीं मारी, लेकिन ऐसा रहन-सहन बना लेना, जिससे दूसरों का अनुमान हो कि वह कोई बड़े धनी आदमी हैं, एक प्रकार का धोखा ही है। यह स्वाँग इसी लिए भरा गया था कि कोई शिकार फँस जाय। अब देखती हूँ कि विनोद मुझसे अपनी असली हालत को छिपाने का प्रयत्न किया करते हैं। अपने ख़त मुझे नहीं देखने देते, कोई मिलने आता है, तो वह चौंक पड़ते हैं और घबराई हुई आवाज़ मे बैरा से पूछते हैं, कौन है? तुम जानती हो, मैं धन की लौंडी नहीं। मैं केवल विशुद्ध हृदय चाहती हूँ। जिसमें पुरुषार्थ है, प्रतिभा है, वह आज नहीं तो कल अवश्य ही धनवान् होकर रहेगा। मैं इस कपट-लीला से जलती हूँ। अगर विनोद अपनी कठिनाइयाँ कह दें, तो मैं उनके साथ सहानुभूति करूँगी, उन कठिनाइयों को दूर करने मे उनकी मदद करूँगी। यों मुझसे परदा करके यह मेरी सहानुभूति और सहयोग ही से हाथ नहीं धोते, मेरे मन में अविश्वास, द्वेष और क्षोभ का बीज बोते हैं। यह चिंता मुझे मारे डालती है। अगर इन्होंने अपनी

दशा साफ-साफ बता दी होती, तो मै यहाँ मुसीबत आती ही क्यों? लखनऊ में ऐसी गरमी नहीं पड़ती कि आदमी पागल हो जाय। यह हज़ारों रुपये पर क्यों पानी पडता। सबसे कठिन समस्या जीविका की है। कई विद्यालयों में आवेदन-पत्र भेज रखे हैं। ज़वाब का इतज़ार कर रहे हैं। शायद इस महीने के अंत तक कहीं जगह मिल जाय। पहले तीन-चार सौ मिलेंगे। समझ में नहीं आता, कैसे काम चलेगा। १५०) तो पापा मेरे कॉलेज का ख़र्च देते थे। अगर दस-पाँच महीने जगह न मिली तो क्या करेंगे, यह फ़िक्र और भी खाये डालती है। मुश्किल यही है कि विनोद मुझसे परदा रखते हैं। अगर हम दोनों बैठकर परामर्श कर लेते, तो सारी गुत्थियाँ सुलझ जातीं। मगर शायद यह मुझे इस योग्य ही नहीं समझते। शायद इनका ख़याल है कि मै केवल रेशमी गुड़िया हूँ, जिसे भाँति-भाँति के आभूषणों, सुगधों और रेशमी वस्त्रों से सजाना ही काफी है। थिएटर मे कोई नया तमाशा होनेवाला होता है, तो दौड़े हुए आकर मुझे ख़बर देते हैं। कहीं कोई जलसा हो, कोई खेल हो, कहीं सैर करना हो, उसकी शुभ सूचना मुझे अविलब दी जाती हैं, और बडी प्रसन्नता के साथ, मानों मैं रात-दिन विनोद और क्रीड़ा और विलास में मग्न रहना चाहती हूँ, मानो मेरे हृदय मे गभीर अंश है ही नहीं! यह मेरा अपमान है, घोर अपमान, जिसे मैं अब नहीं सह सकती। मै अपने सपूर्ण अधिकार लेकर ही सतुष्ट हो सकती हूँ। बस इस वक्त इतना ही। बाक़ी फिर। अपने यहाँ का हाल-हवाल विस्तार से लिखना। मुझे अपने लिए जितनी चिंता है, उससे कम तुम्हारे लिए नहीं है। देखो, हम दोनों के डोंगे कहाँ लगते हैं। तुम अपनी स्वदेशी, पाँच हज़ार वर्षों की पुरानी, जजर नौका पर बैठी हो, मैं नये, द्रुतगामी मोटर-बोट पर। अवसर विज्ञान और उद्योग मेरे साथ हैं। लेकिन कोई दैवी विपत्ति आ जाय, तब भी इसी मोटर-बोट पर डूबूँगी। साल में लाखो आदमी रेल के टक्करो से मर जाते हैं, पर कोई बैलगाड़ियों पर यात्रा नहीं करता। रेलों का विस्तार बढ़ता ही जाता है। बस,

तुम्हारी
पद्मा

(६)

गोरखपुर
२५-९-२५

प्यारी पद्मा—तुम्हारा ख़त मिला, आज जवाब लिख रही हूँ। एक तुम हो कि महीनों रटाती हो। इस विषय मे तुम्हें मुझसे उपदेश लेना चाहिए। विनोद बाबू पर तुम व्यर्थ ही आक्षेप लगा रही हो। तुमने क्यों पहले ही उनकी आर्थिक दशा की जाँच-परताल नहीं की? बस, एक सुंदर, रसिक, शिष्ट, वाणी-मधुर, युवक देख फूल उठीं। अब भी तुम्हारा ही दोष है। तुम अपने व्यवहार से, रहन-सहन से सिद्ध कर दो कि तुममें गभीर अंश भी है, फिर देखूँ विनोद बाबू कैसे तुमसे परदा रखते हैं। और बहन, वह तो मानवी स्वभाव है, सभी चाहते हैं कि लोग हमें सपन्न समझे, इस स्वाँग को अत तक निभाने की चेष्टा की जाती है और जो इस काम मे सफल हो जाता है, उसी का जीवन सफल समझा जाता है। जिस युग में धन ही सर्वप्रधान हो, मर्याद, कीर्ति, यश, यहाँ तक कि विद्या भी धन से ख़रीदी जा सके, उस युग में स्वाँग भरना एक लाज़िमी बात हो जाती है। अधिकार योग्यता का मुँह ताकते हैं! यही समझ लो कि इन दोषो मे फूल और फल का सबध है। योग्यता का फूल लगा, और अधिकार का फल आया।

इस ज्ञानोपदेश के बाद अब तुम्हे हार्दिक धन्यवाद देती हूँ। तुमने पति-देव के नाम जो पत्र लिखा था, उसका बहुत अच्छा असर हुआ। उसके पाँचवे ही दिन स्वामी का कृपापत्र मुझे मिला। बहन, वह खत पाकर मुझे कितनी खुशी हुई; इसका तुम अनुमान कर सकती हो। मालूम होता था, अधे को आँखे मिल गई हैं। कभी कोठे पर जाती थी, कभी नीचे आती थी। सारे घर मे खलबली पड़ गई। तुम्हे वह पत्र अत्यत निराशाजनक जान पड़ता, मेरे लिए वह संजीवन-मंत्र था, आशादीपक था। प्राणेश ने बारातियों की उद्दंडता पर खेद प्रकट किया था, पर बड़ों के सामने वह ज़बान कैसे खोल सकते थे। फिर जनातियों ने भी बारातियो का जैसा आदर-सत्कार करना चाहिए था, वैसा नहीं किया। अत मे लिखा था—'प्रिये, तुम्हारे दर्शनों की

कितनी उत्कंठा है, लिख नहीं सकता। तुम्हारी कल्पित मूर्ति नित आँखों के सामने रहती है। पर कुल-मर्यादा का पालन करना मेरा कर्तव्य है। जब तक माता-पिता का रुख न पाऊँ, आ नहीं सकता। तुम्हारे वियोग मे चाहे प्राण ही निकल जायँ, पर पिता की इच्छा की उपेक्षा नहीं कर सकता। हाँ, एक बात का दृढ़ निश्चय कर चुका हूँ—चाहे इधर की दुनिया उधर हो जाय, कपूत कहलाऊँ, पिता के कोप का भागी बनूँ, घर छोड़ना पड़े, पर अपनी दूसरी शादी न करूँगा। मगर जहाँ तक मैं समझता हूँ, मामला इतना तूल न खींचेगा। यह लोग थोड़े दिनों में नर्म पड़ जायँगे और तब मै आऊँगा और अपनी हृदयेश्वरी को आँखों पर बिठाकर लाऊँगा।'

बस, अब मैं संतुष्ट हूँ बहन, मुझे और कुछ न चाहिए। स्वामी मुझपर इतनी कृपा रखते हैं, इससे अधिक और वह क्या कर सकते हैं! प्रियतम, तुम्हारी चदा सदा तुम्हारी रहेगी, तुम्हारी इच्छा ही उसका कर्तव्य है। वह जब तक जिएगी, तुम्हारे पवित्र चरणों से लगी रहेगी, उसे बिसारना मत।

बहन, आँखो मे आँसू भरे आते हैं, अब नहीं लिखा जाता, जवाब जल्द देना।

तुम्हारी
चदा

(७)

दिल्ली
१५-१२-२५

प्यारी बहन, तुझसे बार-बार क्षमा माँगती हूँ, पैरो पड़ती हूँ। मेरे पत्र न लिखने का कारण आलस्य न था, सैर-सपाटे की धुन न थी। रोज़ सोचती थी कि आज लिखूँगी, पर कोई-न-कोई ऐसा काम आ पड़ता था, कोई ऐसी बात हो जाती थी, कोई ऐसी बाधा आ खड़ी होती थी कि चित्त अशात हो जाता था और मुँह लपेटकर पड़ रहती थी। तुम मुझे अब देखो तो शायद पहचान न सको। मसूरी से दिल्ली आये एक महीना हो गया। यहाँ विनोद को तीन सौ रुपये की एक जगह मिल गई है। यह सारा महीना बाज़ार की ख़ाक छानने में कटा। विनोद ने मुझे पूरी स्वाधीनता दे रखी है। मैं जो

चाहूँ करूँ, उनसे कोई मतलब नहीं। वह मेरे मेहमान हैं। गृहस्थी का सारा बोझ मुझपर डालकर वह निश्चित हो गये हैं। ऐसा बेफ़िक्रा मैंने आदमी ही नहीं देखा। हाज़िरी की परवाह है, न डिनर की, बुलाया तो आ गये, नहीं तो बैठे हैं। नौकरों से कुछ बोलने की तो मानो इन्होंने क़सम ही खा ली है। उन्हें डाटूँ तो मैं, रखूँ तो मैं, निकालूँ तो मैं, उनसे कोई मतलब ही नहीं। मैं चाहती हूँ, वह मेरे प्रबंध की आलोचना करें, ऐब निकालें; मैं चाहती हूँ, जब मैं बाज़ार से कोई चीज़ लाऊँ, तो वह बतावें कि मैं जट गई या जीत आई; मैं चाहती हूँ महीने के ख़र्च का बजट बनाते समय मेरे और उनके बीच में ख़ूब बहस हो, पर इन अरमानों में से एक भी पूरा नहीं होता। मैं नहीं समझती इस तरह कोई स्त्री कहाँ तक गृह-प्रबंध में सफल हो सकती है। विनोद के इस संपूर्ण आत्म-समर्पण ने मेरी निज की ज़रूरतों के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं रखी। अपने शौक़ की चीज़ ख़ुद ख़रीदकर लाते बुरा मालूम होता है, कम-से-कम मुझसे नहीं हो सकता; मैं जानती हूँ, मैं अपने लिए कोई चीज़ लाऊँ, तो वह नाराज़ न होंगे। नहीं मुझे विश्वास है, ख़ुश होंगे, लेकिन मेरा जी चाहता है, मेरे शौक़-सिंगार की चीज़ें वह ख़ुद लाकर दें, उनसे लेने में जो आनंद है, वह ख़ुद जाकर लाने में नहीं। पिताजी अब भी मुझे १००) महीना देते हैं और उन रुपयों को मैं अपनी ज़रूरतों पर ख़र्च कर सकती हूँ। पर न-जाने क्यों मुझे भय होता है कि कहीं विनोद समझें, मैं उनके रुपये ख़र्च किये डालती हूँ। जो आदमी किसी बात पर नाराज नही हो सकता वह किसी बात पर ख़ुश भी नहीं हो सकता। मेरी समझ ही में नहीं आता, वह किस बात से ख़ुश और किस बात से नाराज़ होते हैं। बस, मेरी दशा उस आदमी की-सी है, जो बिना रास्ता जाने इधर-उधर भटकता फिरे। तुम्हें याद होगा, हम दोनों कोई गणित का प्रश्न लगाने के बाद कितनी उत्सुकता से उसका जवाब देखती थीं। जब हमारा जवाब किताब के जवाब से मिल जाता था, तो हमें कितना हार्दिक आनंद मिलता था। मेहनत सफल हुई, इसका विश्वास हो जाता था। जिन गणित की पुस्तकों में प्रश्नों के उत्तर न लिखे होते थे, उनके प्रश्न हल करने की हमारी इच्छा ही न होती थी। सोचते थे, मेहनत अकारथ जायगी। मै रोज़ प्रश्न

हल करती हूँ, पर नहीं जानती जवाब ठीक निकला, या ग़लत। सोचो, मेरे चित्त की क्या दशा होगी।

एक हफ्ता होता है, लखनऊ की मिस रिग से भेंट हो गई। यह लेडी डॉक्टर हैं और मेरे घर बहुत आती जाती हैं। किसी का सिर भी धमका और मिस रिग बुलाई गई। पापा जब मेडिकल कालेज में प्रोफेसर थे, तो उन्होने इन मिस रिग को पढ़ाया था। उसका एहसान वह अब तक मानती हैं। यहाँ उन्हें देखकर भोजन का निमन्त्रण न देना अशिष्टता की हद होती। मिस रिग ने दावत मजूर कर ली। उस दिन मुझे जितनी कठिनाई हुई है वह बयान नहीं कर सकती। मैंने कभी अँगरेज़ों के साथ टेबुल पर नहीं खाया। उनमें भोजन के क्या शिष्टाचार हैं, इसका मुझे बिलकुल ज्ञान नहीं। मैंने समझा था, विनोद मुझे सारी बातें बता देंगे। वह बरसों अँगरेज़ों के साथ इंगलैंड रह चुके हैं। मैंने उन्हें मिस रिग के आने की सूचना भी दे दी। पर उस भले आदमी ने मानो सुना ही नहीं। मैंने भी निश्चय किया, मै तुमसे कुछ न पूछूँगी, यही न होगा, मिस रिग हँसेगी। बला से। अपने ऊपर बार-बार झुँझलाती थी कि कहाँ से मिस रिग को बुला बैठी। पड़ोस के बँगलों में कई हमीं जैसे परिवार रहते हैं। उनसे सलाह ले सकती थी। पर यही संकोच होता था कि ये लोग मुझे गँवारिन समझेंगे। अपनी इस विवशता पर थोड़ी देर तक आँसू भी बहाती रही। आख़िर निराश होकर अपनी बुद्धि से काम लिया। दूसरे दिन मिस रिग आईं। हम दोनों भी मेज़ पर बैठे। दावत शुरू हुई। मैं देखती थी कि विनोद बार-बार झेंपते थे और मिस रिग बार-बार नाक सिकोड़ती थीं, जिससे प्रकट हो रहा था कि शिष्टाचार की मर्यादा भंग हो रही है। मैं शर्म के मारे मरी जाती थी। बारे किसी भाँति विपत्ति सिर से टली। तब मैंने कान पकड़े कि अब किसी अंगरेज़ की दावत न करूँगी। उस दिन से देख रही हूँ, विनोद मुझसे कुछ खिंचे हुए हैं। मैं भी नहीं बोल रही हूँ। वह शायद समझते हैं कि मैंने उनकी भद्द करा दी। मैं समझ रही हूँ कि उन्होंने मुझे लज्जित किया। सच कहती हूँ चदा, गृहस्थी के इन झगड़ों में मुझे अब किसी से हँसने-बोलने का अवसर नहीं मिलता। इधर महीनों से कोई नई पुस्तक नहीं पढ़ सकी। विनोद की विनोद-शीलता भी न जाने कहाँ

चली गई। अब वह सिनेमा या थिएटर का नाम भी नहीं लेते। हाँ, मैं चलूँ तो वह तैयार हो जायँगे। मैं चाहती हूँ, प्रस्ताव उनकी ओर से हो, मैं केवल उसका अनुमोदन करूँ। शायद अब वह पहले की आदतें छोड़ रहे हैं। मैं तपस्या का संकल्प उनके मुख पर अंकित पाती हूँ। जान पड़ता है, अपने में गृह-संचालन की शक्ति न पाकर उन्होंने सारा भार मुझपर डाल दिया है। मंसूरी में वह घर के संचालक थे। दो-ढाई महीने में १५ सौ ख़र्च किये। कहाँ से लाये, यह मैं अब तक नहीं जानती। पास तो शायद ही कुछ रहा हो। संभव है, किसी मित्र से ले लिया हो। ३००) महीने की आमदनी में थिएटर और सिनेमा का ज़िक्र ही क्या। ५०) तो मकान ही के निकल जाते हैं। मैं इस जंजाल से तग आ गई हूँ। जी चाहता है, विनोद से कह दूँ, मेरे चलाये यह ठेला न चलेगा। आप तो दो-ढाई घटा युनिवर्सिटी मे काम करके दिन भर चैन करें, ख़ूब टेनिस खेलें, ख़ूब उपन्यास पढ़ें, ख़ूब सोयें और मैं सुबह से आधी रात तक घर के झंझटों में मरा करूँ। कई बार छेड़ने का इरादा किया, दिल में ठानकर उनके पास गई भी, लेकिन उनका सामीप्य मेरे सारे संयम, सारी ग्लानि, सारी विरक्ति को हर लेता है। उनका विकसित मुख मंडल, उनके अनुरक्त-नेत्र, उनके कोमल शब्द मुझपर मोहिनी मंत्र सा डाल देते हैं। उनके एक आलिंगन में मेरी सारी वेदना विलीन हो जाती है। बहुत अच्छा होता, अगर यह इतने रूपवान्, इतने मधुरभाषी, इतने सौम्य न होते। तब कदाचित् मैं इनसे झगड़ बैठती, अपनी कठिनाइयाँ कह सकती। इस दशा में तो इन्होंने मुझे जैसे भेड़ बना लिया है। मगर इस माया को तोड़ने का मौक़ा तलाश कर रही हूँ। एक तरह से मैं अपना आत्मसंमान खो बैठी हूँ। मैं क्यों हरएक बात में किसी की अप्रसन्नता से डरती रहती हूँ, मुझमें क्यों नहीं वह भाव आता कि जो कुछ मैं कर रही हूँ, वह ठीक है। मै इतनी मुखापेक्षा क्यों करती हूँ! इस मनोवृत्ति पर मुझे विजय पाना है, चाहे जो कुछ हो। अब इस वक्त बिदा होती हूँ, अपने यहाँ के समाचार लिखना, जी लगा है।

तुम्हारी
पद्मा

(८)

काशी
२५-१२-२५

प्यारी पद्मा, तुम्हारा पत्र पढ़कर मुझे कुछ दुःख हुआ, हँसी आई, कुछ क्रोध आया। तुम क्या चाहती हो, यह तुम्हें खुद नहीं मालूम। तुमने आदर्श पति पाया है, व्यर्थ को शंकाओं से मन को अशांत न करो। तुम स्वाधीनता चाहती थीं। वह तुम्हें मिल गई। दो आदमियों के लिए ३००) कम नहीं होते। उसपर अभी तुम्हारे पापा भी १००) दिये जाते हैं। अब और क्या चाहिए। मुझे भय होता है कि तुम्हारा चित्त कुछ अव्यवस्थित हो गया है। मेरे पास तुम्हारे लिए सहानुभूति का एक शब्द भी नहीं।

मैं १५ तारीख़ को काशी आ गई। स्वामी स्वयं मुझे बिदा कराने गये थे। घर से चलते समय बहुत रोई। पहले मैं समझती थी कि लड़कियाँ झूठ-मूठ रोया करतीं हैं। फिर मेरे लिए तो माता-पिता का वियोग कोई नई बात न थी। गर्मी, दशहरा और बड़े दिन की छुट्टियो के बाद ६ सालों से इस वियोग का अनुभव कर रही हूँ। कभी आँखों मे आँसू न आते थे। सहेलियों से मिलने की ख़ुशी होती थी। पर अबकी तो ऐसा जान पड़ता था कि कोई हृदय को खींचे लेता है। अम्माजी के गले लिपटकर तो मैं इतना रोई कि मुझे मूर्च्छा आ गई। पिताजी के पैरो पर लेटकर रोने की अभिलाषा मन में ही रह गई। हाय वह रुदन का आनद! उस समय पिता के चरणों पर गिरकर रोने के लिए मैं अपने प्राण तक दे देती। यही रोना आता था कि मैने इनके लिए कुछ न किया। मेरा पालन-पोषण करने में इन्होंने क्या कुछ कष्ट न उठाया। मैं जन्म की रोगिणी हूँ। रोज़ ही बीमार रहती थी। अम्माजी रात-रात-भर मुझे गोद में लिये बैठी रह जाती थीं। पिताजी के कंधों पर चढकर उचकने की याद मुझे अभी तक आती है। उन्होंने कभी मुझे कड़ी निगाह से नहीं देखा। मेरे सिर में दर्द हुआ और उनके हाथों के तोते उड़ जाते थे। १० वर्ष की उम्र तक तो यों गये। ६ साल देहरादून में गुजरे। अब जब इस योग्य हुई कि उनकी कुछ सेवा करूँ, तो यों पर झाड़कर अलग हो गई। कुल ८ महीने तक उनके चरणों की सेवा कर सकी और

यही ८ महीने मेरे जीवन की निधि है। मेरी ईश्वर से यही प्रार्थना है कि मेरा जन्म फिर इसी गोद में हो और फिर इसी अतुल पितृस्नेह का आनंद भोगूँ।

संध्या समय गाड़ी स्टेशन से चली। मैं ज़नाने कमरे में थी। और लोग दूसरे कमरे में थे। उस वक़्त सहसा मुझे स्वामीजी को देखने की प्रबल इच्छा हुई। सांत्वना, सहानुभूति और आश्रय के लिए हृदय व्याकुल हो रहा था। ऐसा जान पड़ता था जैसे कोई क़ैदी काले पानी जा रहा हो।

घंटे-भर के बाद गाड़ी एक स्टेशन पर रुकी। मैं पीछे की ओर खिड़की से सिर निकालकर देखने लगी। उसी वक़्त द्वार खुला और किसी ने कमरे में क़दम रखा। उस कमरे मे एक औरत न थी। मैने चौंककर पीछे देखा, तो एक पुरुष। मैंने तुरंत मुँह छिपा लिया और बोली, आप कौन हैं! यह ज़नाना कमरा है। मरदाने कमरे मे जाइए।

पुरुष ने खड़े-खड़े कहा—मैं तो इसी कमरे मे बैठूँगा। मरदाने कमरे में भीड़ बहुत है।

मैने रोष से कहा—नहीं, आप इसमें नहीं बैठ सकते।

"मैं तो बैठूँगा।"

'आपको निकलना पड़ेगा। आप अभी चले जाइए, नहीं मैं अभी ज़ंजीर खींच लूँगी।'

'अरे साहब, मैं भी आदमी हूँ, कोई जानवर नहीं हूँ। इतनी जगह पड़ी हुई है। आपका इसमें क्या हरज है।'

गाड़ी ने सीटी दी। मैं और भी घबड़ाकर बोली—'आप निकलते हैं या मैं ज़ंजीर खींचूँ?'

पुरुष ने मुसकिराकर कहा—आप तो बड़ी गुस्सावर मालूम होती हैं। एक ग़रीब आदमी पर आपको ज़रा भी दया नहीं आती?

गाड़ी चल पड़ी। मारे क्रोध और लज्जा के मुझे पसीना आ गया। मैंने फ़ौरन द्वार खोल दिया और बोली—अच्छी बात है, आप बैठिए, मैं ही जाती हूँ।

बहन, मैं सच कहती हूँ, मुझे उस वक़्त लेश-मात्र भी भय न था। जानती थी, गिरते ही मर जाऊँगी, पर एक अजनबी के साथ अकेले बैठने से मर

जाना अच्छा था। मैंने एक पैर लटकाया ही था कि उस पुरुष ने मेरी बाँह पकड़ ली और अंदर खींचता हुआ बोला—अब तक तो आपने मुझे काले पानी भेजने का सामान कर दिया था। यहाँ और कोई तो है नहीं, फिर आप इतना क्यों घबराती हैं। बैठिए, ज़रा हँसिए-बोलिए। अगले स्टेशन पर मैं उतर जाऊँगा, इतनी देर तक तो कृपाकटाक्ष से वंचित न कीजिए। आपको देखकर दिल क़ाबू से बाहर हुआ जाता है। क्यों एक ग़रीब का ख़ून सिर पर लीजिएगा। ...

मैंने झटककर अपना हाथ छुड़ा लिया। सारी देह काँपने लगी। आँखों में आँसू भर आये। उस वक्त अगर मेरे पास कोई छुरी या कटार होती, तो मैंने ज़रूर उसे निकाल लिया होता, और मरने-मारने को तैयार हो गई होती। मगर इस दशा में क्रोध से ओंठ चबाने के सिवा और क्या करती। आख़िर, झल्लाना व्यर्थ समझकर मैंने सावधान होने की चेष्टा करके कहा—आप कौन हैं? उसने उसी ढिठाई से कहा—तुम्हारे प्रेम का इच्छुक।

'आप तो मज़ाक करते हैं। सच बतलाइए।'

'सच बता रहा हूँ। तुम्हारा आशिक़ हूँ।'

'अगर आप मेरे आशिक़ हैं, तो कम से कम इतनी बात मानिए कि अगले स्टेशन पर उतर जाइए। मुझे बदनाम करके आप कुछ न पायेंगे। मुझपर इतनी दया कीजिए।'

मैंने हाथ जोड़कर यह बात कही। मेरा गला भी भर आया था। उस आदमी ने द्वार की ओर जाकर कहा—अगर आपका यही हुक्म है, तो लीजिए, जाता हूँ। याद रखिएगा।

उसने द्वार खोल लिया और एक पाँव आगे बढ़ाया। मुझे मालूम हुआ, वह नीचे कूदने जा रहा है। बहन, नहीं कह सकती उस वक्त मेरे दिल की क्या दशा हुई। मैंने बिजली की तरह लपककर उसका हाथ पकड़ लिया और अपनी तरफ जोर से खींच लिया।

उसने ग्लानि से भरे हुए स्वर में कहा—'क्यों खींच लिया। मैं तो चला जा रहा था।'

'अगला स्टेशन आने दीजिए।'

'जब आप भगा ही रही हैं, तो जितनी जल्द भाग जाऊँ उतना ही अच्छा।'

'मैं यह कब कहती हूँ कि आप चलती गाड़ी से कूद पड़िए।'

'अगर मुझपर इतनी दया है, तो एक बार ज़रा दर्शन ही दे दो।'

'अगर आपकी स्त्री से कोई दूसरा पुरुष ऐसी बातें करता, तो आपको कैसी लगतीं?'

पुरुष ने त्योरियाँ चढ़ाकर कहा—'मैं उसका खून पी जाता।'

मैंने निःसंकोच होकर कहा—तो फिर आपके साथ मेरे पति क्या व्यवहार करेंगे, यह भी आप समझते होंगे!

'तुम अपनी रक्षा आप ही कर सकती हो। प्रिये, तुम्हें पति की मदद की ज़रूरत ही नहीं। अब आओ, मेरे गले से लग जाओ। मैं ही तुम्हारा भाग्यशाली स्वामी और सेवक हूँ।'

मेरा हृदय उछल पड़ा। एक बार मुँह से निकला 'अरे! आप!!' और मैं दूर हटकर खड़ी हो गई। एक हाथ लंबा घूँघट खींच लिया। मुँह से एक शब्द न निकला।

स्वामी ने कहा—अब यह शर्म और परदा कैसा?

मैंने कहा—आप बड़े छलिये हैं। इतनी देर तक मुझे रुलाने में क्या मज़ा आया?

स्वामी—इतनी देर में मैंने तुम्हें जितना पहचान लिया उतना घर के अंदर शायद बरसों में भी न पहचान सकता। यह अपराध क्षमा करो। क्या तुम सचमुच गाड़ी से कूद पड़तीं?

'अवश्य!'

'बड़ी खैरियत हुई, मगर यह दिल्लगी बहुत दिनों याद रहेगी। मेरे स्वामी औसत क़द के, साँवले, चेचकरू, दुबले आदमी हैं। उनसे कहीं रूपवान् पुरुष मैंने देखे हैं, पर मेरा हृदय कितना उल्लसित हो रहा था! जितनी आनंदमय संतुष्टि का अनुभव कर रही थी, मैं बयान नहीं कर सकती।'

मैंने पूछा—गाड़ी कब तक पहुँचेगी?

'शाम को पहुँच जायँगे ।'

मैंने देखा स्वामी का चेहरा कुछ उदास हो गया है । वह दस मिनट तक चुपचाप बैठे बाहर की तरफ ताकते रहे । मैंने उन्हें केवल बातों में लगाने ही के लिए यह अनावश्यक प्रश्न पूछा था । पर अब भी जब वह न बोले, तो मैंने फिर न छेड़ा । पानदान खोलकर पान बनाने लगी । सहसा उन्होंने कहा—चदा एक बात कहूँ ?

मैंने कहा—हाँ-हाँ शौक से कहिए ।

उन्होंने सिर झुकाकर शर्माते हुए कहा—मैं जानता कि तुम इतनी रूपवती हो, तो मैं तुमसे विवाह न करता । अब तुम्हें देखकर मुझे मालूम हो रहा है कि मैंने तुम्हारे साथ अन्याय किया है । मैं किसी तरह तुम्हारे योग्य न था ।

मैंने पान का बीड़ा उन्हें देते हुए कहा—ऐसी बातें न कीजिए । आप जैसे हैं, मेरे सर्वस्व हैं । मैं आपकी दासी बनकर अपने भाग्य को धन्य मानती हूँ ।

दूसरा स्टेशन आ गया । गाड़ी रुकी । स्वामी चले गये । जब-जब गाड़ी रुकती थी, वह आकर दो-चार बातें कर जाते थे । शाम को हम लोग बनारस पहुँच गये । मकान एक गली में है और मेरे घर से बहुत छोटा है । इन कई दिनों में यह भी मालूम हो रहा है कि सासजी स्वभाव की रूखी हैं । लेकिन अभी किसी के बारे में कुछ नहीं कह सकती । सभव है, मुझे भ्रम हो रहा हो । फिर लिखूँगी । मुझे इसकी चिंता नहीं कि घर कैसा है, आर्थिक दशा कैसी है, सास-ससुर कैसे हैं । मेरी इच्छा है कि यहाँ सभी मुझसे खुश रहें । पतिदेव को मुझसे प्रेम है, यह मेरे लिए काफी है । मुझे और किसी बात की परवा नहीं । तुम्हारे बहनोईजी का मेरे पास बार-बार आना सासजी को अच्छा नहीं लगता । वह समझती हैं, कहीं यह सिर न चढ़ जाय । क्यों मुझ-पर उनकी यह अकृपा है, कह नहीं सकती, पर इतना जानती हूँ कि वह अगर इस बात से नाराज होती हैं, तो हमारे ही भले के लिए । वह ऐसी कोई बात क्यों करेंगी जिसमें हमारा हित न हो । अपनी संतान का अहित कोई माता नहीं कर सकती । मुझ ही में कोई बुराई उन्हें नज़र आई होगी । दो-चार

दिन में आप ही मालूम हो जायगा। अपने यहाँ के समाचार लिखना। जवाब की आशा एक महीने के पहले तो है नहीं, यों तुम्हारी खुशी।

तुम्हारी
चंदा

(६)

देहली
१-१-२६

प्यारी बहन, तुम्हारे प्रथम मिलन की कुतूहलमय कथा पढ़कर चित्त प्रसन्न हो गया। मुझे तुम्हारे ऊपर हसद हो रहा है। मैंने समझा था, तुम्हें मुझपर हसद होगा, पर क्रिया उलटी हो गई। तुम्हें चारों ओर हरियाली ही नज़र आती है, मैं जिधर नज़र डालती हूँ, सूखे रेत और नग्न टीलों के सिवा और कुछ नहीं! ख़ैर! अब कुछ मेरा वृत्तांत सुनो—

"अब जिगर थामकर बैठो मेरी बारी आई।"

विनोद की अविचलित दार्शनिकता अब असह्य हो गई है। कुछ विचित्र जीव हैं, घर में आग लगे, पत्थर पड़े, इनकी बला से। इन्हे मुझपर ज़रा भी दया नहीं आती। मैं सुबह से शाम तक घर के झंझटो मे कुढ़ा करूँ, इन्हें कुछ परवा नहीं। ऐसा सहानुभूति से खाली आदमी कभी नहीं देखा था। इन्हें तो किसी जगल मे तपस्या करनी चाहिए थी। अभी तो ख़ैर दो ही प्राणी हैं, लेकिन कहीं बाल-बच्चे हो गये तब तो मैं बे-मौत मर जाऊँगी। ईश्वर न करे वह दारुण विपत्ति मेरे सिर पड़े।

चंदा, मुझे अब दिल से लगी हुई है कि किसी भाँति इनकी यह समाधि भग कर दूँ। मगर कोई उपाय सफल नहीं होता, कोई चाल ठीक नहीं पड़ती। एक दिन मैंने उनके कमरे के लंप का बल्ब तोड़ दिया। कमरा अँधेरा पड़ा रहा। आप सैर करके आये तो कमरा अँधेरा देखा। मुझसे पूछा, मैंने कह दिया, बल्ब टूट गया। बस आपने भोजन किया और मेरे कमरे में आकर लेट रहे। पत्रों और उपन्यासों की ओर देखा तक नहीं, न जाने वह उत्सुकता कहाँ विलीन हो गई। दिन भर गुज़र गया, आपको बल्ब लगवाने की कोई फ़िक्र नहीं। आख़िर मुझी को बाज़ार से लाना पड़ा।

एक दिन मैंने झुँझलाकर रसोइये को निकाल दिया। सोचा, जब लाला रातभर भूखे सोयेंगे तब आँखें खुलेंगी। मगर इस भले आदमी ने कुछ पूछा तक नहीं। चाय न मिली, कुछ परवा नहीं। ठीक दस बजे अपने कपड़े पहने, एक बार रसोई की ओर जाकर देखा, सन्नाटा था। बस कॉलेज चल दिये। एक आदमी पूछता है, महराज कहाँ गया, क्यों गया; अब क्या इंतज़ाम होगा, कौन खाना पकायेगा, कम से कम इतना तो मुझसे कह सकते थे कि तुम अगर नहीं पका सकतीं, तो बाजार ही से कुछ खाना मँगवा लो। जब वह चले गये, तो मुझे बड़ा पश्चात्ताप हुआ। रायल होटल से खाना मँगवाया और बैरे के हाथ कॉलेज भेज दिया। पर ख़ुद भूखी ही रही। दिन-भर भूख के मारे बुरा हाल था। सिर में दर्द होने लगा। आप कॉलेज से आये और मुझे पड़े देखा तो ऐसे परेशान हुए मानों मुझे त्रिदोष है। उसी वक़्त एक डॉक्टर बुला भेजा। डॉक्टर आये, आँख देखी, ज़बान देखी, हरारत देखी, लगाने की दवा अलग दी, पीने की अलग। आदमी दवा लेने गया। लौटा तो १२) रुपये का बिल भी था। मुझे इन सारी बातों पर ऐसा क्रोध आ रहा था कि कहाँ भागकर चली जाऊँ। उसपर आप आराम-कुरसी डालकर मेरी चारपाई के पास बैठ गये और एक-एक पल पर पूछने लगे, कैसा जी है? दर्द कुछ कम हुआ? यहाँ मारे भूख के आतें कुलकुला रही थीं। दवा हाथ से छुई तक नहीं। आख़िर झक मारकर मैंने फिर बैरे से खाना मँगवाया। फिर चाल उलटी पड़ी। मैं डरी कि कहीं सवेरे फिर यह महाशय डॉक्टर को न बुला बैठें, इसलिए सवेरा होते ही हारकर फिर घर के काम-धंधे में लगी। उसी वक्त एक दूसरा महराज बुलवाया। अपने पुराने महराज को बेक़सूर निकालकर दंडस्वरूप एक काठ के उल्लू को रखना पड़ा जो मामूली चपातियाँ भी नहीं पका सकता। उस दिन से एक नई बला गले पड़ी। दोनों वक्त दो घंटे इस महराज को सिखाने में लग जाते हैं। इसे अपनी पाक-कला का ऐसा घमंड है कि मैं चाहे जितना बकूँ, पर करता अपने ही मन की है। उसपर बीच-बीच में मुसकिराने लगता है, मानों कहता हो कि 'तुम इन बातों को क्या जानो, चुपचाप बैठी देखती जाव।' जलाने चली थी विनोद को, और ख़ुद जल गई। रुपये ख़र्च हुए वह तो

हुए ही, एक और जंजाल में फँस गई। मैं ख़ूब जानती हूँ कि विनोद का डॉक्टर को बुलाना, या मेरे पास बैठे रहना केवल दिखावा था। उनके चेहरे पर ज़रा भी घबराहट न थी, चित्त ज़रा भी अशांत न था।

चंदा, मुझे क्षमा करना, मैं नहीं जानती कि ऐसे पुरुष के पाले पड़कर तुम्हारी क्या दशा होती, पर मेरे लिए इस दशा में रहना असह्य है। मैं आगे जो वृत्तांत कहनेवाली हूँ, उसे सुनकर तुम नाक-भौं सिकोड़ोगी, मुझे कोसोगी, कलंकिनी कहोगी, पर जो चाहे कहो, मुझे परवा नहीं। आज चार दिन होते हैं, मैंने त्रिया-चरित्र का एक नया अभिनय किया। हम दोनों सिनेमा देखने गये थे। वहाँ मेरी बग़ल मे एक बंगाली बाबू बैठे हुए थे। विनोद सिनेमा में इस तरह बैठते हैं मानों ध्यानावस्था में हों। न बोलना, न चालना। फिल्म इतना सुंदर था, ऐक्टिंग इतना सजीव कि मेरे मुँह से बार-बार प्रशंसा के शब्द निकल जाते थे। बंगाली बाबू को भी बड़ा आनंद आ रहा था। हम दोनों उस फिल्म पर आलोचनाएँ करने लगे। वह फिल्म के भावों की इतनी रोचक व्याख्या करता था कि मन मुग्ध हो जाता था। फिल्म से ज्यादा मज़ा मुझे उसकी बातो में आ रहा था। बहन, सच कहती हूँ, शक्ल-सूरत मे वह विनोद के तलुओं की बराबरी भी नहीं कर सकता, पर केवल विनोद को जलाने के लिए मैं उससे मुसकिरा-मुसकिराकर बातें करने लगी। उसने समझा कोई शिकार फँस गया। अवकाश के समय वह बाहर जाने लगा; तो मैं भी उठ खड़ी हुई, पर विनोद अपनी जगह पर बैठे रहे।

मैंने कहा—बाहर चलते हो, मेरी तो बैठे बैठे कमर दुख गई।

विनोद बोले—हाँ-हाँ चलो, इधर-उधर टहल आये। मैंने लापरवाही से कहा—तुम्हारा जी न चाहे तो मत चलो, मैं मजबूर नहीं करती।

विनोद फिर अपनी जगह पर बैठते हुए बोले—अच्छी बात है।

मैं बाहर आई तो बंगाली बाबू ने पूछा—क्या आप यहीं की रहनेवाली हैं?

'मेरे पति यहाँ यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर हैं।'

'अच्छा! वह आपके पति थे। अजीब आदमी हैं।'

'आपको तो मैंने शायद यहाँ पहले ही देखा है।'

'हाँ, मेरा मकान तो बंगाल में है। कंचनपुर के महाराजा साहब का प्राइवेट सेक्रेटरी हूँ। महाराजा साहब वाइसराय से मिलने आये हैं।'

'तो अभी दो-चार दिन रहिएगा ?

'जी हाँ, आशा तो करता हूँ। रहूँ तो साल भर रह जाऊँ। जाऊँ तो दूसरी गाड़ी से चला जाऊँ। हमारे महाराजा साहब का कुछ ठीक नहीं। यों बड़े सज्जन और मिलनसार हैं। आपसे मिलकर बहुत खुश होंगे।

यह बातें करते-करते हम रेस्ट्राँ में पहुँच गये। बाबू ने चाय और टोस्ट लिया। मैंने सिर्फ चाय ली।

तो इसी वक्त आपका महाराजा साहब से परिचय करा दूँ। आपको आश्चर्य होगा कि मुकुटधारियों में भी इतनी नम्रता और विनय हो सकती है। उनकी बातें सुनकर आप मुग्ध हो जायँगी।

मैंने आइने में अपनी सूरत देखकर कहा—जी नहीं, फिर किसी दिन पर रखिए। आपसे तो अक्सर मुलाकात होती रहेगी। क्या आपकी स्त्री आपके साथ नहीं आईं ?

युवक ने मुसकिराकर कहा—मैं अभी क्वाँरा हूँ और शायद क्वाँरा ही रहूँ।'

मैंने उत्सुक होकर पूछा—अच्छा ! तो आप भी स्त्रियों से भागनेवाले जीवों में हैं। इतनी बातें तो हो गईं और आपका नाम तक न पूछा।

बाबू ने अपना नाम भुवनमोहन दास गुप्त बताया। मैंने अपना परिचय दिया।

'जी नहीं, मैं उन अभागों में हूँ जो एक बार निराश होकर फिर उसकी परीक्षा नहीं करते। रूप की तो संसार में कमी नहीं, मगर रूप और गुण का मेल बहुत कम देखने में आता है। जिस रमणी से मेरा प्रेम था वह आज एक बड़े वकील की पत्नी है। मैं ग़रीब था। इसकी सज़ा मुझे ऐसी मिली कि जीवन पर्यंत न भूलेगी। साल भर तक जिसकी उपासना की, 'जब उसने मुझे धन पर बलिदान कर दिया, तो अब और क्या आशा रखूँ।'

मैंने हँसकर कहा—आपने बहुत जल्द हिम्मत हार दी।

भुवन ने सामने द्वार की ओर ताकते हुए कहा—मैंने आज तक ऐसा वीर ही नहीं देखा जो रमणियों से परास्त न हुआ हो। ये हृदय पर चोट

करती हैं और हृदय एक ही गहरी चोट सह सकता है। जिस रमणी ने मेरे प्रेम को तुच्छ समझकर पैरों से कुचल दिया उसको मैं दिखाना चाहता हूँ कि मेरी आँखो में धन कितनी तुच्छ वस्तु है। यही मेरे जीवन का एकमात्र उद्देश्य है। मेरा जीवन उसी दिन सफल होगा जब विमला के घर के सामने मेरा विशाल भवन होगा और उसका पति मुझसे मिलने में अपना सौभाग्य समझेगा।

मैंने गंभीरता से कहा—यह तो कोई बहुत ऊँचा उद्देश्य नहीं है। आप यह क्यो समझते हैं कि विमला ने केवल धन के लिए आपका परित्याग किया। संभव है, इसके और भी कारण हो। माता-पिता ने उसी पर दबाव डाला हो, या अपने ही में उसे कोई ऐसी त्रुटि दिखाई दी हो जिससे आपका जीवन दुःखमय हो जाता। आप यह क्यों समझते हैं कि जिस प्रेम से वंचित होकर आप इतने दुखी हुए, उसी प्रेम से वंचित होकर वह सुखी हुई होगी। संभव था, कोई धनी स्त्री पाकर आप भी फिसल जाते।

भुवन ने जोर देकर कहा—यह असंभव है, सर्वथा असंभव है। मैं उसके लिए त्रिलोक का राज्य भी त्याग देता।

मैंने हँसकर कहा—हाँ, इस वक्त आप ऐसा कह सकते हैं, मगर ऐसी परीक्षा मे पड़कर आपकी क्या दशा होती इसे आप निश्चयपूर्वक नहीं बता सकते। सिपाही की बहादुरी का प्रमाण उसकी तलवार है, उसकी ज़बान नहीं। इसे अपना सौभाग्य समझिए कि आपको उस परीक्षा में नहीं पड़ना पड़ा। वह प्रेम प्रेम नहीं है जो प्रत्याघात की शरण ले। प्रेम का आदि भी सहृदयता है और अंत भी सहृदयता। संभव है, आपको अब भी कोई ऐसी बात मालूम हो जाय जो विमला की तरफ से आपको नर्म कर दे।

भुवन गहरे विचार में डूब गये। एक मिनट के बाद उन्होंने सिर उठाया और बोले—'मिसेज़ विनोद, आपने आज एक ऐसी बात सुझा दी जो आज तक मेरे ध्यान में आई ही न थी। यह भाव कभी मेरे मन मे उदय ही नहीं हुआ। मैं इतना अनुदार क्यों हो गया समझ में नहीं आता। मुझे आज मालूम हुआ कि प्रेम के ऊँचे आदर्श का पालन रमणियाँ ही कर सकती हैं। पुरुष कभी प्रेम के लिए आत्मसमर्पण नहीं कर सकता—वह प्रेम को स्वार्थ

और वासना से पृथक् नहीं कर सकता। अब मेरा जीवन सुखमय हो जायगा। आपने मुझे आज जो शिक्षा दी है इसके लिए आपको धन्यवाद देता हूँ।

यह कहते कहते भुवन सहसा चौंक पड़े और बोले—ओह! मैं कितना बड़ा मूर्ख हूँ—सारा रहस्य समझ में आ गया, अब कोई बात छिपी नहीं है। ओह, मैने विमला के साथ घोर अन्याय किया! महान् अन्याय! मै बिलकुल अंधा हो गया था। विमला मुझे क्षमा करो।

भुवन इसी तरह देर तक विलाप करते रहे। बार बार मुझे धन्यवाद देते थे और अपनी मूर्खता पर पछताते थे। हमें इसकी सुध ही न रही कि कब घंटी बजी, कब खेल शुरू हुआ। एकाएक विनोद कमरे मे आये। मैं चौंक पड़ी। मैंने उनके मुख की ओर देखा, किसी भाव का पता न था। बोले—तुम अभी यहीं हो पद्मा! खेल शुरू हुए तो देर हुई! मै चारों तरफ तुम्हें खोज रहा था।

मैं हकबकाकर उठ खड़ी हुई और बोली—खेल शुरू हो गया? घंटी की आवाज तो सुनाई ही नहीं दी।

भुवन भी उठे। हम फिर आकर तमाशा देखने लगे। विनोद ने मुझे अगर इस वक्त दो-चार लगनेवाली बाते कह दी होतीं, उनकी आँखों में क्रोध की झलक दिखाई देती, तो मेरा अशांत हृदय सँभल जाता, मेरे मन को ढाढ़स होती। पर उनके अविचलित विश्वास ने मुझे और भी अशांत कर दिया। बहन, मैं चाहती हूँ, वह मुझपर शासन करे, मैं उनकी कठोरता, उनकी उद्दंडता, उनकी बलिष्ठता का रूप देखना चाहती हूँ। उनके प्रेम, प्रमोद, विश्वास का रूप देख चुकी। इससे मेरी आत्मा को तृप्ति नहीं होती। तुम उस पिता को क्या कहोगी जो अपने पुत्र को अच्छा खिलाये, अच्छा पहनाये, पर उसकी शिक्षा-दीक्षा की कुछ चिंता न करे, वह जिस राह जाय उस राह जाने दे, जो कुछ करे वह करने दे। कभी उसे कड़ी आँख से देखे भी नहीं। ऐसा लड़का अवश्य ही आवारा हो जायगा। मेरा भी वही हाल हुआ जाता है। यह उदासीनता मेरे लिए असह्य है। इस भले आदमी ने यहाँ तक न पूछा कि भुवन कौन है। भुवन ने यही तो समझा होगा कि इसका पति इसकी बिलकुल परवा नहीं करता। विनोद खुद स्वाधीन रहना चाहते

हैं, मुझे भी स्वाधीन छोड़ देना चाहते हैं। वह मेरे किसी काम में हस्तक्षेप नहीं करना चाहते। इसी तरह चाहते हैं कि मैं भी उनके किसी काम में हस्तक्षेप न करूँ। मैं इस स्वाधीनता को दोनों ही के लिए विष तुल्य समझती हूँ। संसार में स्वाधीनता का चाहे जो मूल्य हो, घर मे तो पराधीनता ही फूलती-फलती है। मैं जिस तरह अपने एक ज़ेवर को अपना समझती हूँ, उसी तरह विनोद को भी अपना समझना चाहती हूँ। अगर मुझसे पूछे बिना विनोद उसे किसी को दे दें, तो मैं लड़ पड़ूँगी। मैं चाहती हूँ, इसी तरह उनपर मेरा अधिकार हो। अपने ऊपर भी उनका ऐसा ही अधिकार चाहती हूँ। उन्हें मेरी एक-एक बात पर ध्यान देना चाहिए। मैं किससे मिलती हूँ, कहाँ जाती हूँ, क्या पढ़ती हूँ, किस तरह जीवन व्यतीत करती हूँ, इन सारी बातों पर उनकी तीव्र दृष्टि रहनी चाहिए। जब वह मेरी परवा नहीं करते, तो मैं उनकी परवा क्यों करूँ। इस खींचातानी मे हम एक दूसरे से अलग होते चले जा रहे हैं। और क्या कहूँ, मुझे कुछ नहीं मालूम कि वह किन मित्रों को रोज़ पत्र लिखते हैं। उन्होंने भी मुझसे कभी कुछ नहीं पूछा। खैर, मैं क्या लिख रही थी, क्या कहने लगी। विनोद ने मुझसे कुछ नहीं पूछा। मैं फिर भुवन से फिल्म के सबंध में बाते करने लगी।

जब खेल ख़त्म हो गया और हम लोग बाहर आये और ताँगा ठीक करने लगे, तो भुवन ने कहा—'मैं अपनी कार मे आपको पहुँचा दूँगा।'

हमने कोई आपत्ति नहीं की। हमारे मकान का पता पूछकर भुवन ने कार चला दी। रास्ते मे मैंने भुवन से कहा—'कल मेरे यहाँ दोपहर का खाना खाइएगा।' भुवन ने स्वीकार कर लिया।

भुवन तो हमें पहुँचाकर चले गये, पर मेरा मन बड़ी देर तक उन्हीं की तरफ़ लगा रहा। इन दो-तीन घंटों मे भुवन को जितना समझी उतना विनोद को आजतक नहीं समझी। मैंने भी अपने हृदय की जितनी बाते उससे कह दीं, उतनी विनोद से आजतक नहीं कहीं। भुवन उन मनुष्यों मे है जो किसी पर-पुरुष को मेरी ओर कुदृष्टि डालते देखकर उसे मार डालेगा। उसी तरह मुझे किसी पुरुष से हँसते देखकर मेरा खून पी लेगा और ज़रूरत पड़ेगी, तो मेरे लिए आग में कूद पड़ेगा। ऐसा ही पुरुष-चरित्र मेरे हृदय पर

विजय पा सकता है, मेरे ही हृदय पर नहीं, नारी-जाति (मेरे विचार में) ऐसे ही पुरुष पर जान देती है। वह निर्बल है, इसलिए बलवान् का आश्रय ढूँढ़ती है।

बहन, तुम ऊब गई होगी, ख़त बहुत लंबा हो गया मगर इस कांड को समाप्त किए बिना नहीं रहा जाता। मैंने सबेरे ही से भुवन की दावत की तैयारी शुरू कर दी। रसोइया तो काठ का उल्लू है, मैंने सारा काम अपने हाथ से किया। भोजन बनाने में ऐसा आनंद मुझे और कभी न मिला था।

भुवन बाबू की कार ठीक समय पर आ पहुँची। भुवन उतरे और सीधे मेरे कमरे में आये। दो-चार बातें हुईं। डिनर टेबुल पर जा बैठे। विनोद भी भोजन करने आये। मैंने उन दोनों आदमियो का परिचय करा दिया। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि विनोद ने भुवन की ओर से कुछ उदासीनता दिखाई। इन्हें राजाओं-रईसों से चिढ है, साम्यवादी हैं, जब राजाओं से चिढ़ है तो उनके पिट्ठुओं से क्यों न होता। वह समझते हैं इन रईसो के दरबार में खुशामदी, निकम्मे, सिद्धांत-हीन, चरित्र-हीन लोगों का जमघट रहता है, जिनका इसके सिवाय और कोई काम नहीं कि अपने रईस की हरएक उचित अनुचित इच्छा पूरी करें और प्रजा का गला काटकर अपना घर भरें। भोजन के समय बातचीत की धारा घूमते-घामते विवाह और प्रेम-जैसे महत्व के विषय पर आ पहुँची।

विनोद ने कहा—'नहीं, मैं वर्तमान वैवाहिक प्रथा को पसंद नहीं करता। इस प्रथा का आविष्कार उस समय हुआ था जब मनुष्य सभ्यता की प्रारंभिक दशा में था। तब से दुनिया बहुत आगे बढ़ी है। मगर विवाह प्रथा मे जौ भर भी अंतर नहीं पड़ा। यह प्रथा वर्तमान काल के लिये उपयोगी नहीं।'

भुवन ने कहा—'आखिर आपको इसमे क्या दोष दिखाई देते हैं?'

विनोद ने विचारकर कहा—'इसमें सबसे बड़ा ऐब यह है कि यह एक सामाजिक प्रश्न को धार्मिक रूप दे देता है।'

'और दूसरा?'

'दूसरा यह कि यह व्यक्तियो की स्वाधीनता में बाधक है। यह स्त्रीव्रत और पातिव्रत्य का स्वाँग रचकर हमारी आत्मा को संकुचित कर देता है।

हमारी बुद्धि के विकास में जितनी रुकावट इस प्रथा ने डाली है उतनी और किसी भौतिक या दैविक क्रांति से भी नहीं हुई। इसने मिथ्या आदर्शों को हमारे सामने रख दिया और आज तक हम उन्हीं पुरानी सड़ी हुई, लज्जा-जनक, पाशविक लकीरों को पीटते जाते हैं। व्रत केवल एक निरर्थक बंधन का नाम है। इतना महत्त्वपूर्ण नाम देकर हमने उस क़ैद को धार्मिक रूप दे दिया है। पुरुष क्यों चाहता है कि स्त्री उसको अपना ईश्वर, अपना सर्वस्व समझे? केवल इसलिए कि वह उसका भरण-पोषण करता है? क्या स्त्री का कर्तव्य केवल पुरुष की संपत्ति के लिए वारिस पैदा करना है, उस संपत्ति के लिये जिस पर, हिंदू नीतिशास्त्र के अनुसार, पति के देहांत के बाद उसका कोई अधिकार नहीं रहता; समाज की यह सारी व्यवस्था, सारा संगठन संपत्ति-रक्षा के आधार पर हुआ है। इसने संपत्ति को प्रधान और व्यक्ति को गौण कर दिया है। हमारे ही वीर्य से उत्पन्न संतान हमारी कमाई हुई जायदाद का भोग करे, इस मनोभाव में कितनी स्वार्थांधता, कितना दासत्व छिपा हुआ है इसका कोई अनुमान नहीं कर सकता। इस क़ैद में जकड़ी हुई समाज की संतान यदि आज घर में, देश में, संसार में, अपने क्रूर स्वार्थ के लिए रक्त की नदियाँ बहा रही है तो क्या आश्चर्य है। मैं इस वैवाहिक प्रथा को सारी बुराइयों का मूल समझता हूँ।

भुवन चकित हो गया। मैं खुद चकित हो गई। विनोद ने इस विषय पर मुझसे कभी इतनी स्पष्टता से बातचीत न की थी। मैं यह तो जानती थी, वह साम्यवादी हैं, दो-एक बार इस विषय पर उनसे बहस भी कर चुकी हूँ, पर वैवाहिक प्रथा के वे इतने विरोधी हैं, यह मुझे न मालूम था। भुवन के चेहरे से ऐसा प्रकट होता था कि उन्होंने ऐसे दार्शनिक विचारों की गंध तक नहीं पाई। ज़रा देर के बाद बोले—प्रोफ़ेसर साहब, आपने तो मुझे एक बड़े चक्कर में डाल दिया। आख़िर आप इस प्रथा की जगह कोई और प्रथा रखना चाहते हैं, या विवाह की आवश्यकता ही नहीं समझते? जिस तरह पशु-पक्षी आपस में मिलते हैं वही हमें भी करना चाहिए?

विनोद ने तुरंत उत्तर दिया—बहुत कुछ। पशु-पक्षियों में सभी का मानसिक विकास एक-सा नहीं है। कुछ ऐसे हैं जो जोड़े के चुनाव में कोई

विचार नहीं रखते, कुछ ऐसे हैं जो एक बार बच्चे पैदा करने के बाद अलग हो जाते हैं और कुछ ऐसे हैं जो जीवन पर्यंत एक साथ रहते हैं। कितनी ही भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ हैं। मैं मनुष्य होने के नाते उसी श्रेणी को श्रेष्ठ समझता हूँ जो जीवन पर्यंत एक साथ रहते हैं। मगर स्वेच्छा से। उनके यहाँ कोई कैद नहीं, कोई सजा नहीं। दोनों अपने-अपने चारे-दाने की फिक्र करते हैं। दोनों मिलकर रहने का स्थान बनाते हैं, दोनों साथ बच्चों का पालन करते हैं। उनके बीच मे कोई तीसरा नर या मादा आ ही नहीं सकता, यहाँ तक कि उनमें से जब एक मर जाता है तो दूसरा मरते दम तक फुट्टैल रहता है। यह अँधेर मनुष्य जाति ही में है कि स्त्री ने किसी दूसरे पुरुष से हँसकर बात की और उसके पुरुष की छाती पर साँप लोटने लगा, खून-खराबे के मंसूबे सोचे जाने लगे। पुरुष ने किसी दूसरी स्त्री की ओर रसिक नेत्रों से देखा और अर्धांगिनी ने त्योरियाँ बदलीं, पति के प्राण लेने को तैयार हो गई। यह सब क्या है? ऐसा मनुष्य समाज सभ्यता का किस मुँह से दावा कर सकता है।

भुवन ने सिर सहलाते हुए कहा—मगर मनुष्यों में भी तो भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ हैं। कुछ लोग हर महीने एक नया जोड़ा खोज निकालेंगे।

विनोद ने हँसकर कहा—लेकिन यह इतना आसान काम न होगा। या तो वह ऐसी स्त्री चाहेगा जो संतान का पालन स्वयं कर सकती हो, या उसे एकमुश्त सारी रक़म अदा करनी पडेगी!

भुवन भी हँसे—आप अपने को किस श्रेणी में रक्खेंगे?

विनोद इस प्रश्न के लिए तैयार न थे। था भी बेढगा सा सवाल। झेंपते हुए बोले—परिस्थितियाँ जिस श्रेणी में ले जायँ। मैं स्त्री और पुरुष दोनो के लिए पूर्ण स्वाधीनता का हामी हूँ। कोई कारण नहीं है कि मेरा मन किसी नवयौवना की ओर आकर्षित हो और वह भी मुझे चाहे, तो भी मै समाज और नीति के भय से उसकी ओर ताक न सकूँ। मैं इसे पाप नहीं समझता।

भुवन अभी कुछ उत्तर न देने पाये थे कि विनोद उठ खड़े हुए। कालेज के लिये देर हो रही थी। तुरत कपड़े पहने और चल दिये। हम दोनों दीवानख़ाने में आकर बैठे और बाते करने लगे।

भुवन ने सिगार जमाते हुए कहा—'कुछ सुना, कहाँ जाकर तान टूटी।'

मैंने मारे शर्म के सिर झुका लिया। क्या जवाब देती। विनोद की अंतिम बात ने मेरे हृदय पर कठोर आघात किया था। मुझे ऐसा मालूम हो रहा था कि विनोद ने केवल मुझे सुनाने के लिए विवाह का यह नया खंडन तैयार किया है। वह मुझसे पिंड छुड़ा लेना चाहते हैं। वह किसी रमणी की ताक में हैं, मुझसे उनका जी भर गया है। यह ख़याल करके मुझे बड़ा दुःख हुआ। मेरी आँखों से आँसू बहने लगे। कदाचित् एकांत में मै न रोती, पर भुवन के सामने मैं संयत न रह सकी। भुवन ने मुझे बहुत सांत्वना दी—'आप व्यर्थ इतना शोक करती हैं। मिस्टर विनोद आपका मान न करें; पर संसार में कम-से-कम एक ऐसा व्यक्ति है जो आपके संकेत पर अपने प्राण तक न्योछावर कर सकता है। आप जैसी रमणी रत्न पाकर संसार में ऐसा कौन पुरुष है जो अपने भाग्य को धन्य न मानेगा। आप इसकी बिलकुल चिंता न करें।

मुझे भुवन की यह बात बुरी मालूम हुई। क्रोध से मेरा मुख लाल हो गया। यह धूर्त मेरी इस दुर्बलता से लाभ उठाकर मेरा सर्वनाश करना चाहता है। अपने दुर्भाग्य पर बराबर रोना आता था। अभी विवाह हुए साल भी नही पूरा हुआ और मेरी यह दशा हो गई कि दूसरों को मुझे बहकाने और मुझ पर अपना जादू चलाने का साहस हो रहा है। जिस वक्त मैंने विनोद को देखा था मेरा हृदय कितना फूल उठा था। मैंने अपने हृदय को कितनी भक्ति से उनके चरणों पर अर्पण किया था। मगर क्या जानती थी कि इतनी जल्द मैं उनकी आँखों से गिर जाऊँगी, और मुझे परित्यक्ता समझकर शोहदे मुझ पर डोरे डालेंगे।

मैंने आँसू पोंछते हुए कहा—मैं आपसे क्षमा माँगती हूँ। मुझे ज़रा विश्राम लेने दीजिए।

'हाँ हाँ, आप आराम करें मैं बैठा देखता रहूँगा।'

'जी नहीं, अब आप कृपा करके जाइए। यों मुझे आराम न मिलेगा।'

'अच्छी बात है, आप आराम कीजिए। मैं संध्या समय आकर देख जाऊँगा।'

'जी नहीं, आपको कष्ट करने की कोई ज़रूरत नहीं है।'

'अच्छा तो मैं कल आऊँगा। शायद महाराजा साहब भी आवें।'

'नहीं, आप लोग मेरे बुलाने का इंतज़ार कीजिएगा। बिना बुलाए न आइएगा।'

यह कहती हुई मैं उठकर अपने सोने के कमरे की ओर चली। भुवन एक क्षण मेरी ओर देखता रहा, फिर चुपके से चला गया।

बहन, इसे दो दिन हो गये हैं। पर मै कमरे से बाहर नहीं निकली। भुवन दो-तीन बार आ चुका है, मगर मैंने उससे मिलने से साफ इनकार कर दिया। अब शायद उसे फिर आने का साहस न होगा। ईश्वर ने बड़े नाजुक मौके पर मुझे सुबुद्धि प्रदान की, नहीं मैं अब तक अपना सर्वनाश कर बैठी होती। विनोद प्रायः मेरे ही पास बैठे रहते हैं। लेकिन उनसे बोलने को मेरा जी नहीं चाहता। जो पुरुष व्यभिचार का दार्शनिक सिद्धांतों से समर्थन कर सकता है, जिसकी आँखों में विवाह जैसे पवित्र बंधन का कोई मूल्य नहीं, जो न मेरा हो सकता है न मुझे अपना बना सकता है उसके साथ मुझ जैसी मानिनी गर्विणी स्त्री का कै दिन निर्वाह होगा!

बस, अब बिदा होती हूँ बहन। क्षमा करना। मैंने तुम्हारा बहुत-सा अमूल्य समय ले लिया। मगर इतना समझ लो कि मैं तुम्हारी दया नहीं, सहानुभूति चाहती हूँ।

तुम्हारी
पद्मा

(१०)

काशी
५-१-२६

बहन, तुम्हारा पत्र पढ़कर मुझे ऐसा मालूम हुआ कि कोई उपन्यास पढ़कर उठी हूँ। अगर तुम उपन्यास लिखो, तो मुझे विश्वास है, उसकी धूम मच जाय। तुम आप उसकी नायिका बन जाना। तुम ऐसी ऐसी बातें कहाँ सीख गईं, मुझे तो यही आश्चर्य है। उस बंगाली के साथ तुम अकेली कैसे बैठी बातें करती रहीं, मेरी तो समझ में नहीं आता। मैं तो कभी न कर सकती। तुम विनोद को जलाना चाहती हो, उनके चित्त को अशांत करना चाहती

हो। हाय! उस ग़रीब के साथ तुम कितना भयंकर अन्याय कर रही हो। तुम यह क्यों समझती हो कि विनोद तुम्हारी उपेक्षा कर रहे हैं, अपने विचारों में इतने मग्न हैं कि उन्हें तुम्हारी परवा ही नहीं। यह क्यों नहीं समझतीं कि उन्हें कोई मानसिक चिंता सताया करती है, उन्हें कोई ऐसी फ़िक्र घेरे हुए हैं कि जीवन के साधारण व्यापारों में उनकी रुचि ही नहीं रही। संभव है, वह कोई दार्शनिक तत्त्व खोज रहे हों, कोई थीसिस लिख रहे हों, किसी पुस्तक की रचना कर रहे हों। कौन कह सकता है? तुम जैसी रूपवती स्त्री पाकर यदि कोई मनुष्य चिंतित रहे, तो समझ लो उसके दिल पर कोई बड़ा बोझ है। उनको तुम्हारी सहानुभूति की ज़रूरत है, तुम उनका बोझ हलका कर सकती हो। लेकिन तुम उलटे उन्हीं को दोष देती हो। मेरी समझ में नहीं आता कि तुम एक दिन क्यों विनोद से दिल खोलकर बातें नहीं कर लेतीं। संदेह को जितनी जल्द हो सके; निकाल डालना चाहिए। संदेह वह चोट है, जिसका उपचार जल्द न हो, तो नासूर पड़ जाता है और फिर अच्छा नहीं होता। क्यों दो-चार दिनों के लिए यहाँ नहीं चली आतीं? तुम शायद कहो, तू ही क्यों नहीं चली आती। लेकिन मैं स्वतंत्र नहीं हूँ, बिना सास-ससुर से पूछे कोई काम नहीं कर सकती। तुम्हें तो कोई बंधन नहीं है।

बहन, आजकल मेरा जीवन हर्ष और शोक का विचित्र मिश्रण हो रहा है। अकेली होती हूँ तो रोती हूँ, आनंद आ जाते हैं तो हँसती हूँ। जी चाहता है, वह हर दम मेरे सामने बैठे रहते। लेकिन रात के बारह बजे के पहले उनके दर्शन नहीं होते। एक दिन दोपहर को आ गये तो सासजी ने ऐसा डाँटा कि कोई बच्चे को क्या डाँटेगा। मुझे ऐसा भय हो रहा है कि सासजी को मुझसे चिढ़ है। बहन, मैं उन्हें भरसक प्रसन्न रखने की चेष्टा करती हूँ। जो काम कभी न किये थे, वह उनके लिए करती हूँ, उनके स्नान के लिए पानी गर्म करती हूँ, उनकी पूजा के लिए चौकी बिछाती हूँ। वह स्नान कर लेती हैं, तो उनकी धोती छाँटती हूँ, वह लेटती हैं, तो उनके पैर दबाती हूँ, जब वह सो जाती हैं तो उन्हें पंखा झलती हूँ! वह मेरी माता हैं, उन्हीं के गर्भ से वह रत्न उत्पन्न हुआ है, जो मेरा प्राणाधार है। मैं उनकी

कुछ सेवा कर सकूँ, इससे बढ़कर मेरे लिए सौभाग्य की और क्या बात होगी। मैं केवल इतना ही चाहती हूँ कि मुझसे हँसकर बोलें, मगर न जाने क्यों वह बात-बात पर मुझे कोसने दिया करती हैं। मैं जानती हूँ, दोष मेरा ही है, हाँ, मुझे मालूम नहीं वह क्या है। अगर मेरा यही अपराध है कि मैं अपनी दोनों ननदों से रूपवती क्यों हूँ, पढ़ी-लिखी क्यों हूँ, आनंद क्यों मुझे इतना चाहते हैं, तो बहन यह मेरे बस की बात नहीं। मेरे प्रति सासजी का यह व्यवहार देखकर ही कदाचित् आनद माताजी से कुछ खिंचे रहते हैं। सासजी को भ्रम होता होगा कि मैं ही आनद को भरमा रही हूँ। शायद वह पछताती हैं कि क्यों मुझे बहू बनाया! उन्हे भय होता है कि कहीं मै उनके बेटे को उनसे छीन न लूँ। दो-एक बार मुझे जादूगरनी कह चुकी हैं। दोनों ननदे अकारण ही मुझसे जलती रहती हैं। बड़ी ननदजी तो विधवा हो गई हैं, उनका जलना समझ में आता है, लेकिन छोटी ननदजी तो अभी कलोर हैं, उनका जलना मेरी समझ मे नहीं आता। मै उनकी जगह होती, तो अपनी भावज से कुछ सीखने की, कुछ पढ़ने की कोशिश करती, उनके चरण धो धोकर पीती। पर इस छोकरी को मेरा अपमान करने ही मे आनद आता है। मै जानती हूँ, थोड़े दिनो मे दोनों ननदे लज्जित होंगी। हाँ, अभी वे मुझसे बिचकती हैं। मैं अपनी तरफ से तो उन्हें अप्रसन्न होने का कोई अवसर नहीं देती।

मगर रूप को क्या करूँ। क्या जानती थी कि एक दिन इस रूप के कारण मैं अपराधिनी ठहराई जाऊँगी। मैं सच कहती हूँ बहन, यहाँ मैंने सिंगार करना एक तरह से छोड़ ही दिया है। मैली-कुचैली बनी बैठी रहती हूँ। इस भय से कि कोई मेरे पढ़ने-लिखने पर नाक न सिकोड़े, पुस्तकों को हाथ नहीं लगाती। घर से पुस्तकों का एक गट्ठर बाँध लाई थी। उनमे कई पुस्तके बड़ी सुदर हैं। उन्हें पढ़ने के लिए बार-बार जी चाहता है, मगर डरती हूँ कि कोई ताना न दे बैठे। दोनों ननदे मुझे देखती रहती हैं कि यह क्या करती है, कैसे बैठती है, कैसे बोलती है, मानो दो-दो जासूस मेरे पीछे लगा दिये गये हों। इन दोनों महिलाओं को मेरी बदगोई में क्यों इतना मज़ा आता है, नहीं कह सकती। शायद आजकल उन्हें इसके सिवा दूसरा काम ही नहीं। गुस्सा

तो ऐसा आता है कि एक बार झिड़क दूँ, लेकिन मन को समझाकर रोक लेती हूँ। यह दशा बहुत दिनों नहीं रहेगी। एक नये आदमी से कुछ हिचक होना स्वाभाविक ही है, विशेषकर जब वह नया आदमी शिक्षा और विचार-व्यवहार में हमसे अलग हो। मुझी को अगर किसी फ्रेंच लेडी के साथ रहना पड़े तो शायद मैं भी उसकी हरएक बात को आलोचना और कुतूहल की दृष्टि से देखने लगूँ। यह काशी-वासी लोग पूजा-पाठ बहुत करते हैं। सासजी तो रोज़ गंगा-स्नान करने जाती हैं। बड़ी ननदजी भी उनके साथ जाती हैं। मैंने कभी पूजा नहीं की। याद है, हम और तुम पूजा करनेवालों को कितना बनाया करती थीं। अगर मैं पूजा करनेवालों का चरित्र कुछ उन्नत पाती, तो शायद अब तक मैं भी पूजा करती होती। लेकिन मुझे तो कभी ऐसा अनुभव प्राप्त नहीं हुआ। पूजा करनेवालियाँ भी उसी तरह दूसरों की निंदा करती हैं, उसी तरह आपस में लड़ती-झगड़ती हैं, जैसे वे जो कभी पूजा नहीं करतीं। ख़ैर, अब मुझे धीरे-धीरे पूजा से श्रद्धा होती जा रही है। मेरे ददिया ससुरजी ने एक छोटा-सा ठाकुरद्वारा बनवा दिया था। वह मेरे घर के सामने ही है। मैं अक्सर सासजी के साथ वहाँ जाती हूँ, और अब यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं कि उन विशाल मूर्तियों के दर्शन से मुझे अपने अंतस्तल में एक ज्योति का अनुभव होता है। जितनी श्रद्धा से मैं राम और कृष्ण के जीवन की आलोचना किया करती थी, वह बहुत कुछ मिट चुकी है।

लेकिन रूपवती होने का दंड यहीं तक बस नहीं है। ननदें अगर मेरे रूप को देखकर जलती हैं, तो यह स्वभाविक है। दुख तो इस बात का है कि यह दंड मुझे उस तरफ से भी मिल रहा है, जिधर से इसकी कोई संभावना न होनी चाहिए—मेरे आनंद बाबू भी मुझे इसका दंड दे रहे हैं। हाँ, उनकी दंडनीति एक निराले ही ढंग की है। वह मेरे पास नित्य ही कोई न कोई सौग़ात लाते रहते हैं। वह जितनी देर मेरे पास रहते हैं, उनके मन में यह संदेह होता रहता है कि मुझे उनका रहना अच्छा नहीं लगता। वह समझते हैं कि मैं उनसे जो प्रेम करती हूँ, यह केवल दिखावा है, कौशल है। वह मेरे सामने कुछ ऐसे दबे-दबाये, सिमटे सिमटाये रहते हैं कि मैं मारे लज्जा के मर जाती हूँ। उन्हें मुझसे कुछ कहते हुए, ऐसा संकोच होता है मानो वह कोई

अनधिकार चेष्टा कर रहे हो। जैसे मैले-कुचैले कपड़े पहने हुए कोई आदमी उज्ज्वल वस्त्र पहननेवालों से दूर ही रहना चाहता है, वही दशा इनकी है। वह शायद समझते हैं कि किसी रूपवती स्त्री को रूपहीन पुरुष से प्रेम हो ही नहीं सकता। शायद वह दिल मे पछताते हैं कि क्यों इससे विवाह किया। शायद उन्हें अपने ऊपर ग्लानि होती है। वह मुझे कभी रोते देख लेते हैं, तो समझते हैं मैं अपने भाग्य को रो रही हूँ, कोई पत्र लिखते देखते हैं, तो समझते हैं, मै इनकी रूपहीनता ही का रोना रो रही हूँ। क्या कहूँ बहन, यह सौंदर्य मेरी जान का गाहक हो गया। आनद के मन से इस शंका को निकालने और उन्हें अपनी ओर से आश्वासन देने के लिए मुझे ऐसी-ऐसी बाते करनी पड़ती हैं, ऐसे-ऐसे आचरण करने पडते हैं, जिन पर मुझे घृणा होती है। अगर पहले से यह दशा जानती, तो ब्रह्मा से कहती मुझे कुरूपा ही बनाना। बड़े असमंजस में पड़ी हूँ। अगर सासजी की सेवा नहीं करती, बड़ी ननदजी का मन नहीं रखती तो उनकी आँखों से गिरती हूँ। अगर आनद बाबू को निराश करती हूँ तो कदाचित् मुझमे विरक्त ही हो जायँ। मैं तुमसे अपने हृदय की बात कहती हूँ। बहन, तुमसे क्या पर्दा रखना है, मुझे आनद बाबू से उतना ही प्रेम है, जो किसी स्त्री को पुरुष से हो सकता है, उनकी जगह अब अगर इन्द्र भी सामने आ जायँ, तो मैं उनकी ओर आँख उठाकर न देखूँ। मगर उन्हें कैसे विश्वास दिलाऊँ? मैं देखती हूँ, वह किसी न-किसी बहाने से बार बार घर मे आते हैं और दबी हुई, ललचाई हुई नजरों से मेरे कमरे के द्वार की ओर देखते हैं, तो जी चाहता है जाकर उनका हाथ पकड़ लूँ और अपने कमरे मे खींच ले आऊँ, मगर एक तो डर होता है कि किसी की आँख पड़ गई, तो छाती पीटने लगेगी, और इससे भी बड़ा डर यह कि कहीं आनद इसे भी कौशल ही न समझ बैठें। अभी उनकी आमदनी बहुत कम है, लेकिन दो-चार रुपए सौग़ातों मे रोज उड़ाते हैं। अगर प्रेमोपहार-स्वरूप वह धेले की कोई चीज़ दे तो मैं उसे आँखों से लगाऊँ, लेकिन वह कर-स्वरूप देते हैं, मानो उन्हें ईश्वर ने यह दड दिया है। क्या करूँ अब मुझे भी प्रेम का स्वाँग करना पडेगा। प्रेम-प्रदर्शन से मुझे चिढ़ है। तुम्हें याद होगा, मैंने एक बार कहा था कि प्रेम या तो भीतर ही रहेगा या बाहर

ही रहेगा। समान रूप से वह भीतर और बाहर दोनो जगह नहीं रह सकता। स्वाँग वेश्याओं के लिए है, कुलवती तो प्रेम को हृदय ही में संचित रखती है।

'बहन, पत्र बहुत लंबा हो गया, तुम पढ़ते-पढ़ते ऊब गई होगी। मैं भी लिखते-लिखते थक गई। अब शेष बाते कल लिखूँगी। परसो यह पत्र तुम्हारे पास पहुँचेगा।

× × ×

बहन, क्षमा करना, कल पत्र लिखने का अवसर नही मिला। रात एक ऐसी बात हो गई, जिससे चित्त अशांत हो उठा। बड़ी मुश्किलों से यह थोड़ा-सा समय निकाल सकी हूँ। मैंने अभी तक आनंद से घर के किसी प्राणी की शिकायत नहीं की थी। अगर सासजी ने कोई बात कह दी या ननदीजी ने कोई ताना दे दिया, तो इसे उनके कानों तक क्यों पहुँचाऊँ। इसके सिवा कि गृह-कलह उत्पन्न हो, इससे और क्या हाथ आयेगा। इन्हीं ज़रा-ज़रा सी बातो को पेट में न डालने में घर बिगड़ते हैं। आपस मे वैमनस्य बढ़ता है। मगर संयोग की बात, कल अनायास ही मेरे मुँह से एक बात निकल गई जिसके लिए मैं अब भी अपने को कोस रही हूँ, और ईश्वर से मनाती हूँ कि वह आगे न बढ़े। बात यह हुई कि कल आनद बाबू बहुत देर करके मेरे पास आये। मैं उनके इंतज़ार में बैठी एक पुस्तक पढ़ रही थी। सहसा सासजी ने आकर पूछा—क्या अभी तक बिजली जल रही है। क्या वह रात भर न आये, तो तुम रात भर बिजली जलाती रहोगी!

मैंने उसी वक्त बत्ती ठंडी कर दी। आनद बाबू थोड़ी देर मे आये, तो कमरा अँधेरा पड़ा था, न जाने उस वक्त मेरी मति कितनी मंद हो गई थी। अगर मैंने उनकी आहट पाते ही बत्ती जला दी होती, तो कुछ न होता। मगर मैं अँधेरे में पड़ी रही। उन्होंने पूछा—क्या सो गईं? यह अँधेरा क्यों पड़ा हुआ है!

हाय! इस वक्त भी यदि मैंने कह दिया होता कि मैंने अभी बत्ती गुल कर दी है, तो बात बन जाती। मगर मेरे मुँह से निकला 'सासजी का हुक्म हुआ कि बत्ती गुल कर दो, गुल कर दी। तुम रात भर न आओ, तो क्या रात भर बत्ती जलती रहे।

'तो अब तो जला दो। मैं रोशनी के सामने से आ रहा हूँ। मुझे तो कुछ सूझता ही नहीं।'

'मैंने अब बटन को हाथ से छूने की क़सम खा ली। जब ज़रूरत पड़ेगी तो मोम की बत्ती जला लिया करूँगी। कौन मुफ्त मे घुड़कियाँ सहे।'

आनद ने बिजली का बटन दबाते हुए कहा—'और मैंने कसम खा ली कि रात भर बत्ती जलेगी, चाहे किसी को बुरा लगे या भला। सब कुछ देखता हूँ, अधा नहीं हूँ। दूसरी बहू आकर इतनी सेवा करेगी तो देखूँगा। तुम हो नसीब की खोटी कि ऐसे प्राणियों के पाले पड़ीं। किसी दूसरी सास की तुम इतनी ख़िदमत करतीं, तो वह तुम्हें पान की तरह फेरती, तुम्हें हाथों पर लिये रहती, मगर यहाँ चाहे कोई प्राण ही दे दे, किसी के मुँह से सीधी बात न निकलेगी।'

मुझे अपनी भूल साफ़ मालूम हो गई। उनका क्रोध शान्त करने के इरादे से बोली—ग़लती तो मेरी ही थी कि व्यर्थ आधी रात तक बत्ती जलाये बैठी रही। अम्माजी ने गुल करने को कहा, तो क्या बुरा कहा। मुझे समझाना, अच्छी सीख देना उनका धर्म है। मेरा धर्म भी यही है कि यथाशक्ति उनकी सेवा करूँ और उनकी शिक्षा को गिरह बाँधूँ।

आनद एक क्षण द्वार की ओर ताकते रहे। फिर बोले—मुझे मालूम हो रहा है कि इस घर में मेरा अब गुजर न होगा। तुम नहीं कहतीं, मगर मैं सब कुछ सुनता रहता हूँ। सब समझता हूँ। तुम्हें मेरे पापों का प्रायश्चित्त करना पड़ रहा है। मैं कल अम्माजी से साफ-साफ कह दूँगा—'अगर आपका यही व्यवहार है, तो आप अपना घर लीजिए, मैं अपने लिए कोई दूसरी राह निकाल लूँगा।'

मैंने हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाते हुए कहा—नहीं, नहीं। कहीं ऐसा ग़ज़ब भी न करना। मेरे मुँह में आग लगे, कहाँ से कहाँ बत्ती का जिक्र कर बैठी। मैं तुम्हारे चरण छूकर कहती हूँ, मुझे न सासजी से कोई शिकायत है, न ननदीजी से, दोनों मुझसे बड़ी हैं, मेरी माता के तुल्य हैं। अगर एक बात कड़ी भी कह दें, तो मुझे सब्र करना चाहिए। तुम उनसे कुछ न कहना, नहीं तो मुझे बड़ा दुःख होगा।

आनंद ने रुँधे कंठ से कहा—तुम्हारी जैसी बहू पाकर भी अम्माजी का कलेजा नहीं पसीजता, अब क्या कोई स्वर्ग की देवी घर में आती। तुम डरो मत, मैं ख्वामख्वाह लड़ूँगा नहीं, मगर हाँ, इतना अवश्य कह दूँगा कि ज़रा अपने मिज़ाज को क़ाबू में रखें। आज अगर मैं २–४ सौ रुपये घर में लाता होता, तो कोई चूँ न करता। कुछ कमाकर नहीं लाता, यह उसी का दंड है। सच पूछो, तो मुझे विवाह करने का कोई अधिकार ही न था। मुझ जैसा मंदबुद्धि जो कौड़ी कमा नहीं सकता, उसे अपने साथ किसी महिला को डुबाने का क्या हक़ था। बहनजी को न जाने क्या सूझी है कि तुम्हारे पीछे पड़ी रहती हैं। ससुराल का सफ़ाया कर दिया, अब यहाँ भी आग लगाने पर तुली हुई हैं। बस, पिताजी का लिहाज़ करता हूँ, नहीं इन्हें तो एक दिन मे ठीक कर देता।

बहन, उस वक्त तो मैंने किसी तरह उन्हें शांत किया, पर नहीं कह सकती कि कब वह उबल पड़ें। मेरे लिए वह सारी दुनियाँ से लड़ाई मोल ले लेंगे। मैं जिन परिस्थितियो में हूँ, उनका तुम अनुमान कर सकती हो। मुझ पर कितनी ही मार पड़े, मुझे रोना न चाहिए, ज़बान तक न हिलाना चाहिए। मैं रोई और घर तबाह हुआ। आनंद फिर कुछ न सुनेंगे, कुछ न देखेंगे। कदाचित् इस उपाय से वह अपने विचार में मेरे हृदय में अपने प्रेम का अंकुर जमाना चाहते हों। आज मुझे मालूम हुआ कि यह कितने क्रोधी हैं। अगर मैंने ज़रा-सा पुचारा दे दिया होता, तो रात ही को वह सासजी की खोपड़ी पर जा पहुँचते। कितनी ही युवतियाँ इसी अधिकार के गर्व में अपने को भूल जाती हैं। मैं तो बहन, ईश्वर ने चाहा तो कभी न भूलूँगी। मुझे इस बात का डर नहीं है कि आनंद अलग घर बना लेंगे, तो गुज़र कैसे होगा। मैं उनके साथ सब कुछ झेल सकती हूँ। लेकिन घर तो तबाह हो जायगा।

बस, प्यारी पद्मा, आज इतना ही। पत्र का जवाब जल्द देना।

तुम्हारी

चंदा

(११)

देहली
५-२-२६

प्यारी चदा—क्या लिखूँ, मुझपर तो विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा! हाय वह चले गये, मेरे विनोद का तीन दिन से पता नहीं—निर्मोही चला गया, मुझे छोड़कर बिना कुछ कहे-सुने चला गया—अभी तक रोई नहीं, जो लोग पूछने आते हैं, उनसे बहाना कर देती हूँ कि दो-चार दिन में आयेंगे, एक काम से काशी गये हैं। मगर जब रोऊँगी, तो यह शरीर उन आँसुओं में डूब जायेगा, प्राण उसी मे विसर्जित हो जायँगे। छलिये ने मुझसे कुछ भी नही कहा, रोज़ की तरह उठा, भोजन किया, विद्यालय गया, नियत समय पर रोज़ की तरह मुसकिराकर मेरे पास आया, हम दोनो ने जल-पान किया, फिर वह दैनिक पत्र पढ़ने लगा, मैं टेनिस खेलने चली गई। इधर कुछ दिनों से उन्हें टेनिस से कुछ प्रेम न रहा था, मैं अकेली ही जाती थी। लौटी, तो रोज़ ही की तरह उन्हें बरामदे में टहलते और सिगार पीते देखा। मुझे देखते ही वह रोज़ की तरह मेरा ओवरकोट लाये और मेरे ऊपर डाल दिया। बरामदे से नीचे उतरकर खुले मैदान में हम टहलने लगे। मगर वह ज्यादा बोले नहीं, किसी विचार मे डूबे रहे। जब ओस अधिक पड़ने लगी, तो हम दोनों फिर अंदर चले आये। उसी वक्त वह बंगाली महिला आ गई, जिनसे मैंने वीणा सीखना शुरू किया है। विनोद भी मेरे साथ ही बैठे रहे। सगीत उन्हें कितना प्रिय है, यह तुम्हें लिख चुकी हूँ। कोई नई बात नहीं हुई। महिला के चले जाने के बाद हमने साथ-ही-साथ भोजन किया, फिर मैं अपने कमरे में लेटने आई, वह रोज़ की तरह अपने कमरे में लिखने-पढ़ने चले गये। मैं जल्द ही सो गई, लेकिन जब वह मेरे कमरे में आये, तो मेरी आँख खुल गई। मैं नींद में कितनी बेख़बर पड़ी रहूँ, उनकी आहट पाते ही आप-ही-आप आँखे खुल जाती हैं। मैंने देखा, वह अपना हरा शाल ओढ़े खड़े थे। मैंने उनकी ओर हाथ बढ़ाकर कहा—आओ, खड़े क्यों हो, और फिर सो गई। बस, प्यारी बहन! वही विनोद के अंतिम दर्शन थे। कह नहीं सकती, वह पलँग पर लेटे या नहीं। इन आँखों मे न जाने कौन-सी महा-

निद्रा समाई हुई थी। प्रातः उठी, तो विनोद को न पाया। मैं उनसे पहले उठती हूँ, वह पड़े सोते रहते हैं। पर आज वह पलँग पर न थे। शाल भी न था। मैंने समझा शायद अपने कमरे में चले गये हो। स्नान-गृह में चली गई। आध घटे में बाहर आई, फिर भी वह न दिखाई दिये। उनके कमरे में गई, वहाँ भी न थे। आश्चर्य हुआ, इतने सवेरे कहाँ चले गये। सहसा खूँटी पर आँख पड़ी—कपड़े न थे। किसी से मिलने चले गये! या स्नान के पहले सैर करने की ठानी। कम-से-कम मुझसे कह तो देते, सशय मे तो जी न पड़ता। क्रोध आया—मुझे लौंडी समझते हैं...

हाजिरी का समय आया। बैरा मेज़ पर चाय रख गया। विनोद के इंतज़ार में चाय ठंडी हो गई। मैं बार-बार झुँझलाती थी, कभी भीतर जाती कभी बाहर आती, ठान ली थी कि आज ज्योंही महाशय आयेंगे, ऐसा लताड़ूँगी कि वह भी याद करें। कह दूँगी, आप अपना घर लीजिए, आपको अपना घर मुबारक रहे, मैं अपने घर चली जाऊँगी। इस तरह तो रोटियाँ वहाँ भी मिल जायँगी। जाड़े के नौ बजने में देर ही क्या लगती है। विनोद का अभी पता नहीं। झल्लाई हुई उनके कमरे मे गई कि एक पत्र लिखकर मेज़ पर रख दूँ—साफ़-साफ लिख दूँ कि इस तरह अगर रहना है, तो आप रहिए, मैं नहीं रह सकती। मै जितना ही तरह देती जाती हूँ, उतना ही तुम मुझे चिढ़ाते हो। बहन, उस क्रोध में सतत भावो की नदी-सी मन में उमड़ रही थी। अगर लिखने बैठती, तो पन्नो के पन्ने लिख डालती। लेकिन आह! मैं तो भाग जाने की धमकी ही दे रही थी, वह पहले ही भाग चुके थे। ज्यों ही मेज़ पर बैठी, मुझे पैड में उनका एक पत्र मिला। मैंने तुरत उस पत्र को निकाल लिया और सरसरी निगाह से पढ़ा—मेरे हाथ काँपने लगे, पाँव थरथराने लगे, जान पड़ा कमरा हिल रहा है, एक ठडी; लबी, हृदय को चीरनेवाली आह खींचकर मैं कौच पर गिर पड़ी। पत्र यह था—

"प्रिये, नौ महीने हुए, जब मुझे पहली बार तुम्हारे दर्शनों का सौभाग्य हुआ था। उस वक्त मैने अपने को धन्य माना था। आज तुमसे वियोग का दुर्भाग्य हो रहा है, फिर भी मैं अपने को धन्य मानता हूँ। मुझे जाने का लेश-मात्र भी दुःख नहीं है, क्योंकि मैं जानता हूँ तुम खुश होगी। जब तुम

मेरे साथ सुखी नहीं रह सकतीं, तो मैं ज़बरदस्ती क्यों पड़ा रहूँ। इससे तो यह कहीं अच्छा है कि हम और तुम अलग हो जायँ। मैं जैसा हूँ, वैसा ही रहूँगा! तुम भी जैसी हो, वैसी ही रहोगी। फिर सुखी जीवन की संभावना कहाँ? मैं विवाह को आत्मविकास का साधन समझता हूँ। स्त्री-पुरुष के संबंध का अगर कोई अर्थ है, तो यही है, वर्ना मैं विवाह की कोई ज़रूरत नहीं समझता। मानव-संतान बिना विवाह के भी जीवित रहेगी और शायद इससे अच्छे रूप में। वासना भी बिना विवाह के पूरी हो सकती है, घर के प्रबंध के लिए विवाह करने की कोई जरूरत नहीं। जीविका एक बहुत ही गौण प्रश्न है, जिसे ईश्वर ने दो हाथ दिये, वह कभी भूखा नहीं रह सकता। विवाह का उद्देश्य यही और केवल यही है कि स्त्री और पुरुष एक दूसरे की आत्मोन्नति में सहायक हों। जहाँ अनुराग हो, वहीं विवाह है और अनुराग ही आत्मोन्नति का मुख्य साधन है। जब अनुराग न रहा, तो विवाह भी न रहा, अनुराग के बिना विवाह का कोई अर्थ ही नहीं।

जिस वक्त मैंने तुम्हे पहली बार देखा था, तुम मुझे अनुराग की सजीव मूर्ति सी नजर आई थीं। तुममे सौंदर्य था, शिक्षा थी, प्रेम था, स्फूर्ति थी, उमंग थी। मैं मुग्ध हो गया। उस वक्त मेरी अंधी आँखों को यह न सूझा कि जहाँ तुममें इतने गुण थे, वहाँ चंचलता भी थी, जो इन सब गुणों पर पर्दा डाल देती है। तुम चंचल हो, ग़जब की चंचल, जो उस वक्त मुझे न सूझा था। तुम ठीक वैसी ही हो जैसी तुम्हारी दूसरी बहनें होती हैं, न कम, न ज़्यादा। मैंने तुमको स्वाधीन बनाना चाहा था, क्योंकि मेरी समझ में अपनी पूरी ऊँचाई तक पहुँचने के लिए इसी की सबसे अधिक ज़रूरत है। संसार-भर मे पुरुषों के विरुद्ध क्यों इतना शोर मचा हुआ है? इसी लिए कि हमने औरतों की आज़ादी छीन ली है और उन्हें अपनी इच्छाओं की लौंडी बना रखा है। मैंने तुम्हें स्वाधीन कर दिया। मैं तुम्हारे ऊपर अपना कोई अधिकार नहीं मानता। तुम अपनी स्वामिनी हो। मैं जब तक समझता था, तुम मेरे साथ स्वेच्छा से रहती हो, मुझे कोई चिंता न थी। अब मुझे मालूम हो रहा है, तुम स्वेच्छा से नहीं, संकोच या भय या बंधन के कारण रहती हो। दो ही चार दिन पहले मुझपर यह बात खुली है। इसलिए अब मैं तुम्हारे

सुख के मार्ग में बाधा नहीं डालना चाहता। मैं कहीं भागकर नहीं जा रहा हूँ। केवल तुम्हारे रास्ते से हटा जा रहा हूँ और इतनी दूर हटा जा रहा हूँ कि तुम्हें मेरी ओर से पूरी निश्चिंतता हो जाय। अगर मेरे बग़ैर तुम्हारा जीवन अधिक सुंदर हो सकता है, तो मैं तुम्हें ज़बरन नहीं रखना चाहता। अगर मैं समझता कि तुम मेरे सुख के मार्ग में बाधक हो रही हो, तो मैंने तुमसे साफ़-साफ़ कह दिया होता। मैं धर्म और नीति का ढोंग नहीं मानता, केवल आत्मा का संतोष चाहता हूँ, अपने लिए भी, तुम्हारे लिए भी। जीवन का तत्त्व यही है, मूल्य यही है। मैंने डेस्क में अपने विभाग के अध्यक्ष के नाम एक पत्र लिखकर रख दिया है। वह उनके पास भेज देना। रुपये की कोई चिंता मत करना। मेरे एकाउंट में अभी इतने रुपये हैं, जो तुम्हारे लिए कई महीने को काफी हैं, और उस वक्त तक मिलते रहेंगे, जब तक तुम लेना चाहोगी। मैं समझता हूँ, मैंने अपना भाव स्पष्ट कर दिया है। इससे अधिक स्पष्ट मै नहीं करना चाहता। जिस वक्त तुम्हारी इच्छा मुझसे मिलने की हो, बैंक से मेरा पता पूछ लेना। मगर दो-चार दिन के बाद। घबड़ाने की कोई बात नहीं। मै स्त्री को अबला या अपंग नहीं समझता। वह अपनी रक्षा स्वयं कर सकती है—अगर करना चाहे। अगर अब या अब से २-४ महीना, २-४ साल पीछे तुम्हे मेरी याद आये, तुम समझो कि मेरे साथ सुखी रह सकती हो, तो मुझे केवल दो शब्द लिखकर डाल देना। मैं तुरंत आ जाऊँगा। क्योकि मुझे तुमसे कोई शिकायत नहीं है। तुम्हारे साथ मेरे जीवन के जितने दिन कटे हैं, वह मेरे लिए स्वर्ग स्वप्न के दिन हैं। जब तक जिऊँगा इस जीवन की आनंदस्मृतियो को हृदय मे संचित रखूँगा। आह! इतनी देर तक मन को रोके रहने के बाद आँखो से एक बूँद आँसू गिर ही पड़ा। क्षमा करना, मैंने तुम्हें 'चंचल' कहा है। अचंचल कौन है? जनता हूँ कि तुमने मुझे अपने हृदय से निकालकर फेंक दिया है, फिर भी इस एक घंटे में कितनी बार तुमको देख-देखकर लौट आया हूँ। मगर इन बातों को लिखकर मै तुम्हारी दया को उकसाना नहीं चाहता, तुमने वही किया, जिसका मेरी नीति में तुमको अधिकार था, है, और रहेगा। मैं विवाह में आत्मा को सर्वोपरि रखना चाहता हूँ।

स्त्री और पुरुष में मैं वही प्रेम चाहता हूँ, जो दो [illegible] में होता है, वह प्रेम नहीं, जिसका आधार पराधीनता है।

बस, अब और कुछ न लिखूँगा। तुमको एक चेतावनी देने की इच्छा हो रही है, पर दूँगा नहीं; क्योंकि तुम अपना भला और बुरा खुद समझ सकती हो। तुमने सलाह देने का हक मुझसे छीन लिया है। फिर भी इतना कहे बग़ैर नहीं रहा जाता कि ससार में प्रेम का स्वाँग भरनेवाले शोहदो की कमी नहीं है, उनसे बचकर रहना। ईश्वर से यही प्रार्थना करता हूँ कि तुम जहाँ रहो, आनद से रहो। अगर कभी तुम्हें मेरी जरूरत पड़े, तो याद करना। तुम्हारी एक तस्वीर का अपहरण किये जाता हूँ। क्षमा करना। क्या मेरा इतना अधिकार भी नहीं। हाय! जी चाहता है, एक बार फिर देख आऊँ, मगर नहीं आऊँगा।" —तुम्हारा ठुकराया हुआ

विनोद

बहन, यह पत्र पढ़कर मेरे चित्त की जो दशा हुई, उसका तुम अनुमान कर सकती हो। रोई तो नहीं, पर दिल बैठा जाता था। बार-बार जी चाहता था कि विष खाकर सो रहूँ। १० बजने में अब थोड़ी ही देर थी। मै तुरत विद्यालय गई और दर्शन-विभाग के अध्यक्ष को विनोद का पत्र दिया। वह एक मदरासी सज्जन हैं। मुझे बडे आदर से बिठाया और पत्र पढ़कर बोले—आपको मालूम है, वह कहाँ गये और कब तक आयेंगे। इसमें तो केवल एक मास की छुट्टी माँगी गई है। मैंने बहाना किया – वह एक आवश्यक कार्य से काशी गये हैं। और निराश होकर लौट आई। मेरा अतरात्मा सहस्रों जिह्वा बनकर मुझे धिक्कार रही थी। कमरे में उनकी तस्वीर के सामने घुटने टेककर मैंने जितने पश्चात्ताप-पूर्ण शब्दो में क्षमा माँगी है, यह अगर किसी तरह उनके कानों तक पहुँच सकती, तो उन्हें मालूम होता कि उन्हें मेरी ओर से कितना भ्रम हुआ! तबसे अब तक मैंने कुछ भोजन नहीं किया और न एक मिनट सोई। विनोद मेरी क्षुधा और निद्रा भी अपने साथ लेते गये और शायद इसी तरह दस पाँच दिन उनकी ख़बर न मिली, तो प्राण भी चले जायँगे। आज मैं बैंक तक गई थी, पर यह पूछने की हिम्मत न पड़ी कि विनोद का कोई पत्र आया। वह सब क्या सोचते कि यह उनकी पत्नी होकर हमसे पूछने आई है!

बहन, अगर विनोद न आये, तो क्या होगा ! मैं समझती थी, वह मेरी तरफ़ से उदासीन हैं, मेरी पर्वा नहीं करते, मुझसे अपने दिल की बातें छिपाते हैं, उन्हें शायद मैं भारी हो गई हूँ, अब मालूम हुआ, मैं कैसे भयंकर भ्रम में पड़ी हुई थी। उनका मन इतना कोमल है, यह मैं जानती, तो उस दिन क्यों भुवन को मुँह लगाती। मैं उस अभागे का मुँह तक न देखती। इस वक्त तो उसे देख पाऊँ, तो शायद गोली मार दूँ। ज़रा तुम विनोद के पत्र को फिर पढ़ो, बहन—आप मुझे स्वाधीन बनाने चले थे। अगर स्वाधीन बनाते थे, तो भुवन से ज़रा देर मेरा बात-चीत कर लेना, क्यों इतना अखरा? मुझे उनकी अविचलित शांति से चिढ़ होती थी। वास्तव में उनके हृदय में इस ज़रा-सी बात ने जितनी अशांति पैदा कर दी, शायद मुझमें न कर सकती। मैं किसी रमणी से उनकी रुचि देखकर शायद मुँह फुला लेती, ताने देती, खुद रोती, उन्हें रुलाती; पर इतनी जल्द भाग न जाती। मर्दों का घर छोड़कर भागना तो आज तक नहीं सुना, औरतें ही घर छोड़कर मैके भागती हैं, या कहीं डूबने जाती हैं, या आत्महत्या करती हैं। पुरुष निर्द्वंद्व बैठे मूछों पर ताव देते हैं, मगर यहाँ उलटी गंगा बह रही है—पुरुष ही भाग खड़ा हुआ ! इस अशांति की थाह कौन लगा सकता है। इस प्रेम की गहराई को कौन समझ सकता है। मैं तो अगर इस वक्त विनोद के चरणों पर पड़े-पड़े मर जाऊँ, तो समझूँ, मुझे स्वर्ग मिल गया। बस, इसके सिवा मुझे अब और कोई इच्छा नहीं है। इस अगाध प्रेम ने मुझे तृप्त कर दिया। विनोद मुझसे भागे तो, लेकिन भाग न सके, वह मेरे हृदय से, मेरी धारणा से, इतने निकट कभी न थे। मैं तो अब भी उन्हें अपने सामने बैठे देख रही हूँ। क्या मेरे सामने फ़िलासोफर बनने चले थे? कहाँ गई आपकी वह दार्शनिक गंभीरता। यों अपने को धोखा देते हो ! यों अपनी आत्मा को कुचलते हो। अब की तो तुम भागे, लेकिन फिर भागना तो देखूँगी। न जानती थी कि तुम ऐसे चतुर बहुरूपिये हो। अब मैंने समझा, और शायद तुम्हारी दार्शनिक गंभीरता की समझ में भी आया होगा कि प्रेम जितना ही सच्चा, जितना ही हार्दिक होता है उतना ही कोमल होता है। वह विरक्ति के उन्मत्त सागर में थपेड़े खा सकता है, पर अवहेलना की एक चोट भी नहीं सह सकता। बहन, बात विचित्र है, पर है सच्ची, मैं

इस समय अपने अंतस्तल में जितनी उमंग, जितने आनंद का अनुभव कर रही हूँ, याद नहीं आता कि विनोद के हृदय से लिपटकर भी कभी पाया हो। तब पर्दा बीच में था, अब कोई पर्दा बीच में नहीं रहा। मैं उनको प्रचलित प्रेम-व्यापार की कसौटी पर कसना चाहती थी। यह फैशन हो गया है कि पुरुष घर में आये, तो स्त्री के वास्ते कोई तोहफा लाये, पुरुष रात-दिन स्त्री के लिए गहने बनवाने, कपड़े सिलवाने, वेल, फीते, लेस ख़रीदने मे मस्त रहे, फिर स्त्री को उसमे कोई शिकायत नहीं, वह आदर्श-पति है, उसके प्रेम में किसे संदेह हो सकता है। लेकिन उसी प्रेयसी की मृत्यु के तीसरे महीने वह फिर नया विवाह रचाता है। स्त्री के साथ अपने प्रेम को भी चिता में जला आता है। फिर वही स्वाँग इस नई प्रेयसी से होने लगते हैं, फिर वही लीला शुरू हो जाती है। मैंने यही प्रेम देखा था और इसी कसौटी पर विनोद को कस रही थी। कितनी मदबुद्धि हूँ। छिछोरेपन को प्रेम समझे बैठी थी। कितनी स्त्रियाँ जानती हैं कि अधिकाश ऐसे ही गहने कपड़े और हँसने-बोलने में मस्त रहनेवाले जीव लँपट होते हैं। अपनी लपटता को छिपाने के लिए वे यह स्वाँग भरते रहते हैं। कुत्ते को चुप रखने के लिए उनके सामने हड्डी के टुकड़े फेक देते हैं। बेचारी भोली-भाली स्त्री अपना सर्वस्व देकर खिलौने पाती है और उन्हीं में मग्न रहती है। मैं विनोद को उसी काँटे पर तौल रही थी—हीरे को साग के तराज़ू पर रखे देती थी। मैं जानती हूँ, मेरा दृढ विश्वास है, और वह अटल है कि विनोद की दृष्टि कभी किसी परस्त्री पर नहीं पड़ सकती, उनके लिए मैं हूँ, अकेली मैं हूँ, अच्छी या बुरी हूँ! बहन, मेरी तो मारे गर्व और आनद के छाती फूल उठी है। इतना बड़ा साम्राज्य, इतना अचल, इतना स्वरक्षित, किसी हृदयेश्वरी को नसीब हुआ है! मुझे तो सदेह है। और मैं इसपर भो असंतुष्ट थो, यह न जानती थी कि ऊपर बबूले तैरते हैं, मोती समुद्र की तह में ही मिलते हैं। हाय! मेरी इस मूर्खता के कारण, मेरे प्यारे विनोद को कितनी मानसिक वेदना हो रही है। मेरे जीवनधन, मेरे जीवनसर्वस्व न जाने कहाँ मारे-मारे फिरते होंगे, न जाने किस दशा में होंगे, न जाने मेरे प्रति उनके मन में कैसी-कैसी शंकाएँ उठ रही होंगी—प्यारे! तुमने मेरे साथ कुछ अन्याय नहीं किया। अगर मैंने तुम्हें निष्ठुर समझा, तो

तुमने तो मुझे उससे कहीं बदतर समझा— क्या अब भी पेट नहीं भरा ! तुमने मुझे इतनी गई गुजरी समझ लिया कि इस अभागे भुवन…मै ऐसे-ऐसे एक लाख भुवनो को तुम्हारे चरणो पर भेंट कर सकती हूँ। मुझे तो संसार मे ऐसा कोई प्राणी ही नहीं नजर आता, जिसपर मेरी निगाह उठ सके। नहीं तुम मुझे इतनी नीच, इतनी कलंकिनी नहीं समझ सकते—शायद वह नौबत आती, तो तुम और मै दो मे से एक भी इस ससार मे न होता।

बहन, मैंने विनोद को बुलाने की, खींच लाने की, पकड़ मँगाने की एक तरकीब सोची है। क्या कहूँ, पहले ही दिन यह तरकीब क्यो न सूझी। विनोद को दैनिक पत्र पढ़े बिना चैन नहीं आता और वह कौन सा पत्र पढ़ते हैं, मै यह भी जानती हूँ। कल के पत्र मे यह ख़बर छपेगी, 'पद्मा मर रही है' और परसों विनोद यहाँ होंगे—रुक नहीं सकते। फिर ख़ूब झगड़े होंगे, ख़ूब लड़ाइयाँ होंगी।

अब कुछ तुम्हारे विषय में। क्या तुम्हारी बुढ़िया सचमुच तुमसे इसलिए जलती है कि तुम सुंदरी हो, शिक्षित हो, खूब! और तुम्हारे आनंद भी विचित्र जीव मालूम होते हैं। मैंने तो सुना है कि पुरुष कितना ही कुरूप हो, पर उसकी निगाह अप्सराओ ही पर जाकर पड़ती है। फिर आनद बाबू तुमसे क्यों बिचकते हैं। ज़रा ग़ौर से देखना, कहीं राधा और कृष्ण के बीच में कोई कुब्जा तो नही। अगर सासजी यों ही नाक में दम करती रहें, तो मैं तो यही सलाह दूँगी कि अपनी झोपड़ी अलग बना लो। मगर जानती हूँ, तुम मेरी यह सलाह न मानोगी, किसी तरह न मानोगी। इस सहिष्णुता के लिए मैं तुम्हें बधाई देती हूँ। पत्र जल्द लिखना। मगर शायद तुम्हारा पत्र आने के पहले ही मेरा दूसरा पत्र पहुँचे।

तुम्हारी—पद्मा

(१२)

काशी

१०-२ २६

प्रिय पद्मा, कई दिन तक तुम्हारे पत्र की प्रतीक्षा करने के बाद आज यह ख़त लिख रही हूँ। मैं अब भी आशा कर रही हूँ कि विनोद बाबू घर आ

गये होंगे, मगर अभी वह न आये हों और तुम रो-रोकर अपनी आँखें फोड़े डालती हो, तो मुझे जरा भी दुःख न होगा। तुमने उनके साथ जो अन्याय किया है, उसका यही दंड है। मुझे तुमसे ज़रा भी सहानुभूति नहीं है। तुम गृहिणी होकर वह कुटिल क्रीडा करने चली थीं, जो प्रेम का सौदा करनेवाली स्त्रियों को ही शोभा देती है। मैं तो जब खुश होती कि विनोद ने तुम्हारा गला घोट दिया होता और भुवन के कुसंस्कारों को सदा के लिए शांत कर देते। तुम चाहे मुझसे रूठ ही क्यों न जाओ, पर मैं इतना ज़रूर कहूँगी कि तुम विनोद के योग्य नहीं हो। शायद तुम उस पति से प्रसन्न रहतीं, जो प्रेम के नये नये स्वाँग भरकर तुम्हें जलाया करता। शायद तुमने अँगरेज़ी किताबों में पढ़ा होगा कि स्त्रियाँ छैले रसिकों पर ही जान देती हैं और पढ़कर तुम्हारा सिर फिर गया है। तुम्हें नित्य कोई सनसनी चाहिए, अन्यथा तुम्हारा जीवन शुष्क हो जायगा। तुम भारत की पतिपरायण रमणी नहीं, योरप की आमोद-प्रिय युवती हो। मुझे तुम्हारे ऊपर दया आती है। तुमने अब तक रूप को ही आकर्षण का मूल समझ रखा है, रूप मे आकर्षण है, मानती हूँ। लेकिन उस आकर्षण का नाम मोह है, वह स्थायी नहीं, केवल धोखे की टट्टी है। प्रेम का एक ही मूल मन्त्र है, और वह सेवा है। यह मत समझो कि जो पुरुष तुम्हारे ऊपर भ्रमर की भाँति मँडलाया करता है, वह तुमसे प्रेम करता है। उसकी यह रूपासक्ति बहुत दिनों तक नहीं रहेगी। प्रेम का अंकुर रूप मे है, पर उसको पल्लवित और पुष्पित करना सेवा ही का काम है। मुझे विश्वास नहीं आता कि विनोद को बाहर से थके-माँदे, पसीने में तर आया देखकर तुमने कभी पखा झला होगा। शायद टेबुल-फैन लगाने की बात भी तुम्हें न सूझी होगी। सच कहना, मेरा अनुमान ठीक है या नहीं। बतलाओ, तुमने कभी उनके पैरों मे चम्पी की है? कभी उनके सिर में तेल डाला है? तुम कहोगी, यह ख़िदमतगारों का काम है, लेडियाँ यह मरज़ नहीं पालतीं। तुमने उस आनंद का अनुभव ही नहीं किया। तुम विनोद को अपने अधिकार में रखना चाहती हो, मगर उसका साधन नहीं करतीं। विलासिनी मनोरंजन कर सकती है, चिरसंगिनी नहीं बन सकती। पुरुष के गले से लिपटी हुई भी वह उससे कोसों दूर रहती है। मानती हूँ, रूपमोह मनुष्य का स्वभाव है, लेकिन

रूप से हृदय की प्यास नहीं बुझती, आत्मा की तृप्ति नहीं होती। सेवाभाव रखनेवाली रूप-विहीन स्त्री का पति किसी स्त्री के रूप-जाल में फँस जाय, तो बहुत जल्द निकल भागता है, सेवा का चस्का पाया हुआ मन केवल नख़रों और चोंचलों पर लट्टू नहीं होता। मगर मैं तो तुम्हें उपदेश करने बैठ गई, हालाँकि तुम मुझसे दो-चार महीने बड़ी होगी। क्षमा करो बहन, यह उपदेश नहीं है। ये बातें हम, तुम, सभी जानते हैं, केवल कभी-कभी भूल जाते हैं। मैंने केवल तुम्हें याद दिला दी है। उपदेश मे हृदय नहीं होता, लेकिन मेरा उपदेश मेरे मन की वह व्यथा है, जो तुम्हारी इस नई विपत्ति से जागरित हुई है।

अच्छा, अब मेरी रामकहानी सुनो। इस एक महीने मे यहाँ बड़ी-बड़ी घटनाएँ हो गई। यह तो मै पहले ही लिख चुकी हूँ कि आनंद बाबू और अम्माजी मे कुछ मनमुटाव रहने लगा है। वह आग भीतर-ही-भीतर सुलगती रहती थी। दिन मे दो-एक बार मा-बेटे मे चोंचें हो जाती थीं। एक दिन मेरी छोटी ननदजी मेरे कमरे से एक पुस्तक उठा ले गई। उन्हें पढ़ने का रोग है। मैंने कमरे में किताब न देखी, तो उनसे पूछा। इस ज़रा-सी बात पर वह भलेमानस बिगड़ गई और कहने लगी—तुम तो मुझे चोरी लगाती हो। अम्मा ने उन्हीं का पक्ष लिया और मुझे खूब सुनाई। सयोग की बात, अम्माजी मुझे कोसने दे ही रही थीं कि आनद बाबू घर मे आ गये। अम्माजी उन्हे देखते ही और जोर से बकने लगीं—बहू की इतनी मजाल ! यह तूने सिर चढ़ा रखा है, और कोई बात नहीं। पुस्तक क्या उसके बाप की थी। लड़की लाई, तो उसने कौन गुनाह किया। ज़रा भी सब्र न हुआ, दौड़ी हुई उसके सिर पर जा पहुँची और उसके हाथों से किताब छीनने लगी।

बहन, मैं यह स्वीकार करती हूँ कि मुझे पुस्तक के लिए इतनी उतावली न करनी चाहिए थी। ननदजी पढ़ चुकने पर आप ही दे जातीं। न भी देतीं तो उस एक पुस्तक के न पढ़ने से मेरा क्या बिगड़ा जाता था। मगर मेरी शामत कि उनके हाथों से किताब छीनने लगी थी। अगर इस बात पर आनंद बाबू मुझे डाँट बताते, तो मुझे ज़रा भी दुःख न होता। मगर उन्होंने उल्टे मेरा ही पक्ष लिया और त्योरियाँ चढ़ाकर बोले—किसी की चीज़ कोई बिना पूछे लाये ही क्यों? यह तो मामूली शिष्टाचार है।

इतना सुनना था कि अम्मा के सिर पर भूत सा सवार हो गया। आनद बाबू भी बीच-बीच में फुलझड़ियाँ छोड़ते रहे। और मैं अपने कमरे मे बैठी रोती रही कि कहाँ-से-कहाँ मैंने किताब माँगी। न अम्माजी ही ने भोजन किया, न आनद बाबू ने ही। और मेरा तो बार-बार यही जी चाहता था कि ज़हर खा लूँ। रात को जब अम्माँजी लेटीं, तो मैं अपने नियम के अनुसार उनके पैर दबाने गई। मुझे देखते ही उन्होंने दुतकार दिया, लेकिन मैंने उनके पाँव पकड़ लिये। मै पैताने की ओर तो थी ही। अम्माजी ने जो पैर से मुझे ढकेला, तो मैं चारपाई के नीचे गिर पड़ी। ज़मीन पर कई टोकरियाँ पड़ी हुई थीं। मैं उन कटोरियों पर गिरी, तो पीठ और कमर मे बड़ी चोट आई। मैं चिल्लाना न चाहती थी, मगर न जाने कैसे मेरे मुँह से चीख़ निकल गई। आनद बाबू अपने कमरे मे आ गये थे, मेरी चीख़ सुनकर दौड़ पड़े और अम्माजी के द्वार पर आकर बोले—क्या उसे मारे डालती हो अम्मा। अपराधी तो मैं हूँ, उसकी जान क्यो ले रही हो! यह कहते हुए वह कमरे में घुस आये और मेरा हाथ पकड़कर ज़बरदस्ती खींच ले गये। मैंने बहुत चाहा कि अपना हाथ छुड़ा लूँ, पर आनद ने न छोड़ा। वास्तव में इस समय उनका हम लोगों के बीच मे कूद पड़ना मुझे अच्छा नहीं लगता था। वह न आ जाते, तो मैंने रो-धोकर अम्माजी को मना लिया होता। मेरे गिर पड़ने से उनका क्रोध कुछ शात हो चला था। आनद का आ जाना ग़जब हो गया। अम्माजी कमरे के बाहर निकल आई और मुँह चिढ़ाकर बोलीं—हाँ, देखो मरहम-पट्टी कर दो, कहीं कुछ टूट-फूट न गया हो?

आनद ने आँगन में रुककर कहा—क्या तुम चाहती हो कि तुम किसी को मार डालो और मै न बोलूँ?

'हाँ, मैं तो डायन हूँ, आदमियों को मार डालना ही तो मेरा काम है। ताज्जुब है कि मैंने तुम्हें क्यों न मार डाला।'

'तो पछतावा क्यों होरहा है, धेले की संखिया में तो काम चलता है।'

'अगर तुम्हें इस तरह औरत को सिर चढ़ाकर रखना है,' तो कहीं और ले जाकर रखो। इस घर में तुम्हारा निबाह अब न होगा।'

'मैं ख़ुद इसी फ़िक्र में हूँ, तुम्हारे कहने की ज़रूरत नहीं।'

'मैं भी समझ लूँगी कि मैंने लड़का ही नहीं जाना।'

'मै भी समझ लूँगा कि मेरी माता मर गई।'

मैं आनद का हाथ पकड़कर ज़ोर से खींच रही थी कि उन्हें वहाँ से हटा ले जाऊँ, मगर वह बार-बार मेरा हाथ झटक देते थे। आख़िर जब अम्माजी अपने कमरे मे चली गईं, तो वह अपने कमरे में आये, और सिर थामकर बैठ गये।

मैंने कहा—यह तुम्हें क्या सूझी?

आनद ने भूमि की ओर ताकते हुए कहा—अम्मा ने आज नोटिस दे दिया।

'तुम ख़ुद ही उलझ पड़े, वह बेचारी तो कुछ बोलीं ही नहीं।'

'मै ही उलझ पड़ा!'

'और क्या। मैंने तो तुमसे फरियाद न की थी।'

'पकड़ न लाता, तो अम्मा ने तुम्हे अधमरा कर दिया होता। तुम उनका क्रोध नहीं जानतीं।'

'यह तुम्हारा भ्रम है। उन्होंने मुझे मारा नहीं, अपना पैर छुड़ा रही थीं। मैं पट्टी पर बैठी थी, ज़रा सा धक्का खाकर गिर पड़ी। अम्माजी मुझे उठाने ही जा रही थीं कि तुम पहुँच गये।'

'नानी के आगे ननिहाल का बखान न करो, मैं अम्मा को खूब जानता हूँ। मैं कल ही दूसरा घर ले लूँगा, यह मेरा निश्चय है। कहीं-न-कहीं नौकरी मिल ही जायगी। यह लोग समझते हैं कि मैं इनकी रोटियों पर पड़ा हुआ हूँ। इसी से यह मिजाज हैं!'

मैं जितना ही उनको समझाती थी, उतना ही वह और बफरते थे। आख़िर मैंने झुँझलाकर कहा—तो तुम अकेले जाकर दूसरे घर मे रहो। मैं न जाऊँगी। मुझे यहीं पड़ी रहने दो।

आनंद ने मेरी ओर कठोर नेत्रों से देखकर कहा—यही लात खाना अच्छा लगता है?

'हाँ, मुझे यही अच्छा लगता है।'

'तो तुम खाओ, मैं नहीं खाना चाहता। यही फायदा क्या थोड़ा है कि तुम्हारी दुर्दशा आँखों से न देखूँगा। न देखूँगा, न पीड़ा होगी।'

'अलग रहने लगोगे, तो दुनिया क्या कहेगी।'

'इसकी परवा नहीं। दुनिया अंधी है।'

'लोग यही कहेंगे कि स्त्री ने यह माया फैलाई है।'

'इसकी भी परवा नहीं, इस भय से अपना जीवन संकट में नहीं डालना चाहता।'

मैंने रोकर कहा—तुम मुझे छोड़ दोगे, तुम्हे मेरी ज़रा भी मुहब्बत नहीं है।

बहन, और किसी समय इस प्रेम-आग्रह से भरे हुए शब्दों ने न जाने क्या कर दिया होता। ऐसे ही आग्रहों पर रियासतें मिटती हैं, नाते टूटते हैं, रमणी के पास इससे बढ़कर दूसरा अस्त्र नहीं। मैंने आनद के गले में बाहें डाल दी थीं और उनके कंधे पर सिर रखकर रो रही थी। मगर इस समय आनद बाबू इतने कठोर हो गये थे कि यह आग्रह भी उनपर कुछ असर न कर सका। जिस माता ने जन्म दिया, उसके प्रति इतना रोष! हम अपनी ही माता की एक कड़ी बात नहीं सह सकते, इस आत्माभिमान का कोई ठिकाना है। यही वे आशाएँ हैं, जिनपर माता ने अपने जीवन के सारे सुख-विलास अर्पण कर दिये थे, दिन का चैन और रात की नींद अपने ऊपर हराम कर ली थी! पुत्र पर माता का इतना भी अधिकार नहीं!

आनद ने उसी अविचलित कठोरता से कहा—अगर मुहब्बत का यही अर्थ है कि मैं इस घर में तुम्हारी दुर्गति कराऊँ, तो मुझे वह मुहब्बत नहीं है।

प्रातःकाल वह उठकर बाहर जाते हुए मुझसे बोले—मैं जाकर घर ठीक किये आता हूँ। ताँगा भी लेता आऊँगा, तैयार रहना।

मैंने दरवाज़ा रोककर कहा—क्या अभी तक क्रोध शांत नहीं हुआ?

'क्रोध की बात नहीं, केवल दूसरों के सिर से अपना बोझ हटा लेने की बात है।'

'यह अच्छा काम नहीं कर रहे हो। सोचो, माताजी को कितना दुःख होगा। ससुरजी से भी तुमने कुछ पूछा?'

'उनसे पूछने की कोई ज़रूरत नहीं। कर्ता-धर्ता जो कुछ हैं, वह अम्मा हैं। दादाजी मिट्टी के लोंदे हैं।'

'घर के स्वामी तो हैं?'

'तुम्हें चलना है या नहीं, साफ कहो।'

'मैं तो अभी न जाऊँगी।'

'अच्छी बात है, लात खाओ।'

मैं कुछ नहीं बोली। आनंद ने एक क्षण के बाद फिर कहा—तुम्हारे पास कुछ रुपये हो, तो मुझे दो।

मेरे पास रुपये थे, मगर मैंने इनकार कर दिया। मैंने समझा, शायद असमंजस में पड़कर वह रुक जायँ। मगर उन्होंने बात मन में ठान ली थी। खिन्न होकर बोले—अच्छी बात है, तुम्हारे रुपयों के बग़ैर भी मेरा काम चल जायगा। तुम्हें यह विशाल भवन, यह सुख-भोग, ये नौकर-चाकर, ये ठाट-बाट मुबारक हो। मेरे साथ क्यों भूखों मरोगी। वहाँ यह सुख कहाँ। मेरे प्रेम का मूल्य ही क्या।

यह कहते हुए वह चले गये। बहन, क्या कहूँ, उस समय अपनी बेबसी पर कितना दुःख हो रहा था। बस, यही जी में आता था कि यमराज आकर मुझे उठा ले जायँ। मुझ कुलकलंकिनी के कारण माता और पुत्र में यह वैमनस्य हो रहा था। जाकर अम्माजी के पैरों पर गिर पड़ी और रो-रोकर आनद बाबू के चले जाने का समाचार कहा। मगर माताजी का हृदय ज़रा भी न पसीजा। मुझे आज मालूम हुआ कि माता भी इतनी वज्रहृदया हो सकती है। फिर आनद बाबू का हृदय क्यो न कठोर हो। अपनी माता ही के पुत्र तो हैं।

माताजी ने निर्दयता से कहा—तुम उसके साथ क्यो न चली गई? जब वह कहता था, तब चला जाना चाहिए था। कौन जाने यहाँ मैं किसी दिन तुम्हें विष दे दूँ।

मैंने गिड़गिड़ाकर कहा—अम्माजी, उन्हें बुला भेजिए, आपके पैरों पड़ती हूँ। नहीं तो कहीं चले जायँगे।

अम्मा उसी निर्दयता से बोलीं—जाय चाहे रहे, वह मेरा कौन है। अब

तो जो कुछ हो, तुम हो; मुझे कौन गिनता है। आज ज़रा-सी बात पर यह इतना झल्ला रहा है, और मेरी अम्माजी ने मुझे सैकड़ों ही बार पीटा होगा। मैं भी छोकरी न थी, तुम्हारी ही उम्र की थी, पर मजाल न थी कि तुम्हारे दादाजी से किसी के सामने बोल सकूँ। कच्चा ही खा जातीं। मार खाकर रात-रात भर रोती रहती थी, पर इस तरह घर छोड़कर कोई न भागता था। आजकल के लौंडे ही प्रेम करना नहीं जानते, हम भी प्रेम करते थे, पर इस तरह नहीं कि मा बाप, छोटे-बडे किसी को कुछ न समझे।

यह कहती हुई माताजी पूजा करने चली गईं। मैं अपने कमरे में आकर नसीबों को रोने लगी। यही शका होती थी कि आनद किसी तरफ की राह न लें। बार-बार जी मसोसता था कि रुपये क्यों न दे दिये। बेचारे इधर-उधर मारे-मारे फिरते होंगे। अभी हाथ-मुँह भी नहीं धोया, जल पान भी नहीं किया। वक्त पर जल-पान न करेंगे, तो ज़ुकाम होता है, तो हरारत भी हो जाती है। महरी से कहा—जरा जाकर देख तो बाबूजी कमरे मे हैं। उसने आकर कहा—कमरे मे तो कोई नहीं है, खूँटी पर कपड़े भी नहीं हैं।

मैंने पूछा—क्या और भी कभी इस तरह अम्माजी से रूठे हैं? महरी बोली—कभी नहीं बहू, ऐसा सीधा तो मैने लड़का ही नहीं देखा। मालकिन के सामने कभी सिर नहीं उठाते थे। आज न जाने क्यों चले गये।

मुझे आशा थी कि दोपहर को भोजन के समय वह आ जायँगे। लेकिन दोपहर को कौन कहे, शाम भी हो गई और उनका पता नहीं। सारी रात जागती रही। द्वार की ओर कान लगे हुए थे। मगर रात भी उसी तरह गुज़र गई। बहन, इस प्रकार पूरे तीन दिन बीत गये। उस वक्त तुम मुझे देखतीं, तो पहचान न सकतीं। रोते-रोते आँखें लाल हो गई थीं। इन तीन दिनों मे एक पल भी नहीं सोई, और भूख का तो ज़िक्र ही क्या, पानी तक न पिया। प्यास ही न लगती थी। मालूम होता था, देह मे प्राण ही नहीं है। सारे घर में मातम-सा छाया हुआ था। अम्माजी भोजन करने दोनों वक्त जाती थीं, पर मुँह जूठा करके चली आती थीं। दोनों ननदों की हँसी और चुहल भी ग़ायब हो गई थी। छोटी ननदजी तो मुझसे अपना अपराध क्षमा कराने आईं।

चौथे दिन सवेरे रसोइये ने आकर मुझसे कहा—बाबूजी तो अभी मुझे दशाश्वमेध घाट पर मिले थे। मैं उन्हें देखते ही लपककर उनके पास जा पहुँचा और बोला—भैया, घर क्यों नहीं चलते। सब लोग घबड़ाये हुए हैं। बहूजी ने तीन दिन से पानी तक नहीं पिया। उनका हाल बहुत बुरा है। यह सुनकर वह कुछ सोच में पड़ गये, फिर बोले—बहूजी ने क्यों दाना-पानी छोड़ रखा है, जाकर कह देना, जिस आराम के लिए उस घर को न छोड़ सकीं, उससे क्या इतनी जल्द जी भर गया।

अम्माजी उसी समय आँगन मे आ गईं। महराज की बातों की भनक कानों में पड़ गई, बोलीं—क्या है अलगू, क्या आनद मिला था?

महराज—हाँ, बड़ी बहू, अभी दशाश्वमेध घाट पर मिले थे। मैंने कहा—घर क्यों नहीं चलते, तो बोले—उस घर में मेरा कौन बैठा हुआ है।

अम्मा—कहा नहीं, और कोई अपना नहीं है, तो स्त्री तो अपनी है, उसकी जान क्यों लेते हो।

महराज—मैंने बहुत समझाया बड़ी बहू, पर वह टस से मस न हुए।

अम्मा—करता क्या है?

महराज—यह तो मैंने नहीं पूछा, पर चेहरा बहुत उतरा हुआ था।

अम्मा—ज्यों-ज्यों तुम बूढ़े होते जाते हो, शायद सठियाते जाते हो। इतना तो पूछा होता, कहाँ रहते हो, कहाँ खाते-पीते हो। तुम्हें चाहिए था, उसका हाथ पकड़ लेते और खींचकर ले आते। मगर तुम नमकहरामों को अपने हलवे-माडे से मतलब, चाहे कोई मरे या जिये। दोनों वक्त बढ़-बढ़कर हाथ मारते हो और मूछों पर ताव देते हो। तुम्हे इसकी क्या परवाह है कि घर में दूसरा कोई खाता है या नहीं। मैं तो परवाह न करती, वह आये या न आये। मेरा धर्म पालना-पोसना था, पाल-पोस दिया। अब जहाँ चाहे रहे। पर इस बहू को क्या करूँ, जो रो-रोकर प्राण दिये डालती है। तुम्हें ईश्वर ने आँखे दी हैं, उसकी हालत देख रहे हो। क्या मुँह से इतना भी न फूटा कि बहू अन्न जल त्याग किये पड़ी हुई है।

महराज—बहूजी, नारायन जानते हैं, मैंने बहुत तरह समझाया, मगर वह तो जैसे भागे जाते थे। फिर मैं क्या करता।

अम्मा—समझाया नहीं अपना सिर। तुम समझाते और वह यों ही चला जाता। क्या सारी लच्छेदार बातें मुझी से कहने को हैं। इस बहू को मैं क्या कहूँ। मेरे पति ने मुझसे इतनी बेरुखी की होती, तो मैं उसकी सूरत न देखती। पर, इसपर, उसने न जाने कौन-सा जादू कर दिया है। ऐसे उदामियों को तो कुलटा चाहिए, जो उन्हें तिगनी का नाच नचाये।

कोई आध घंटे बाद कहार ने आकर कहा—बाबूजी आकर कमरे में बैठे हुए हैं।

मेरा कलेजा धक-धक करने लगा। जी चाहता था कि जाकर पकड़ लाऊँ, पर अम्माजी का हृदय सचमुच वज्र है। बोलीं—जाकर कह दे, यहाँ उनका कौन बैठा हुआ है, जो आकर बैठे हैं।

मैंने हाथ जोडकर कहा—अम्माजी, उन्हें अंदर बुला लीजिए, कहीं फिर न चले जायँ।

अम्मा—यहाँ उसका कौन बैठा हुआ है, जो आयेगा। मैं तो अंदर कदम न रखने दूँगी।

अम्माजी तो बिगड रही थीं, उधर छोटी ननदजी जाकर आनंद बाबू को लाईं। सचमुच उनका चेहरा उतरा हुआ था, जैसे महीनों का मरीज़ हो। ननदजी उन्हें इस तरह खींचे लाती थीं, जैसे कोई लड़की ससुराल जा रही हो। अम्माजी ने मुसकिराकर कहा—इसे यहाँ क्यों लाईं? यहाँ इसका कौन बैठा हुआ है?

आनंद सिर झुकाये अपराधियों की भाँति खड़े थे। ज़बान न खुलती थी! अम्माजी ने फिर पूछा—चार दिन कहाँ थे?

'कहीं नहीं, यहीं तो था।'

'खूब चैन से रहे होगे।'

'जी हाँ, कोई तकलीफ न थी।'

'वह तो सूरत ही से मालूम हो रहा है।'

ननदजी जल-पान के लिए मिठाई लाईं। आनंद मिठाई खाते इस तरह झेंप रहे थे, मानों ससुराल आये हों। फिर माताजी उन्हें लिये हुए अपने कमरे में चली गईं। वहाँ आध घंटे तक माता और पुत्र में बातें

होती रहीं। मैं कान लगाये हुए थी, पर साफ कुछ न सुनाई देता था। हाँ, ऐसा मालूम होता था कि कभी माताजी रोती हैं और कभी आनंन्द। माताजी जब पूजा करने निकलीं, तो उनकी आँखें लाल थी। आनंद वहाँ से निकले, तो सीधे मेरे कमरे मे आये। मैं उन्हें आते देख चटपट मुँह ढाँपकर चारपाई पर पड़ रही, मानो बेखबर सो रही हूँ। वह कमरे में आये, मुझे चारपाई पर पड़े देखा, मेरे समीप आकर एक बार धीरे से पुकारा और लौट पड़े। मुझे जगाने की हिम्मत न पड़ी। मुझे जो कष्ट हो रहा था, इसका एकमात्र कारण अपने को समझकर मन ही-मन दुखी हो रहे थे। मैंने अनुमान किया था, वह मुझे उठायेंगे, मैं मान करूँगी, वह मनायेंगे; मगर सारे मसूबे खाक में मिल गये। उन्हे लौटते देखकर मुझसे न रहा गया! मैं हकबकाकर उठ बैठीं और चारपाई से नीचे उतरने लगी, मगर न जाने क्यो मेरे पैर लड़खड़ाये और ऐसा जान पड़ा कि मै गिरी जाती हूँ। सहसा आनंद ने पीछे फिरकर मुझे सँभाल लिया और बोले—लेट जाओ, लेट जाओ, मैं कुरसी पर बैठा जाता हूँ। यह तुमने अपनी क्या गति बना रखी है।

मैंने अपने को सँभालकर कहा—मैं तो बहुत अच्छी तरह हूँ। आपने कैसे कष्ट किया?

'पहले तुम कुछ भोजन कर लो तो पीछे मै कुछ बात करूँगा।'

'मेरे भोजन की आपको क्या फिक्र पडी है। आप तो सैर-सपाटे कर रहे हैं!'

'कैसे सैर-सपाटे मैंने किये हैं, मेरा दिल ही जानता है। मगर बाते पीछे करूँगा, अभी मुँह हाथ धोकर खा लो। चार दिन से पानी तक मुँह में नहीं डाला। राम! राम!'

'यह आपसे किसने कहा कि मैंने चार दिन से पानी तक मुँह में नहीं डाला। जब आपको मेरी परवा न थी, तो मैं क्यों दाना-पानी छोड़ती।'

'वह तो सूरत ही कह देती है। फूल से ..मुरझा गये।'

'ज़रा अपनी सूरत जाकर आइने में देखिए।'

'मैं पहले ही कौन बड़ा सुंदर था। ठूँठ को पानी मिले तो क्या और

न मिले तो क्या। मैं न जानता था कि तुम यह अनशन व्रत ले लोगी, नहीं ईश्वर जानता है, अम्मा मार-मारकर भगातीं, तो भी न जाता।'

मैंने तिरस्कार की दृष्टि से देखकर कहा—तो क्या सचमुच तुम समझे थे कि मैं यहाँ केवल आराम के विचार से रह गई?

आनद ने जल्दी से अपनी भूल सुधारी—नहीं, नहीं प्रिये, मैं इतना गधा नहीं हूँ, पर यह मैं कदापि न समझता था कि तुम बिलकुल दाना-पानी छोड़ दोगी। बड़ी कुशल हुई कि मुझे महराज मिल गया, नहीं तो तुम प्राण ही दे देतीं। अब ऐसी भूल कभी न होगी। कान पकड़ता हूँ। अम्माजी तुम्हारा बखान कर-करके रोती रहीं।

मैंने प्रसन्न होकर कहा—तब तो मेरी तपस्या सुफल हो गई।

'थोड़ा-सा दूध पी लो, तो बातें हों। जाने कितनी बातें करनी हैं।'

'पी लूँगी, ऐसी क्या जल्दी है।'

'जब तक तुम कुछ खा न लोगी, मैं यही समझूँगा कि तुमने मेरा अपराध क्षमा नहीं किया।'

'मैं भोजन जभी करूँगी, जब तुम यह प्रतिज्ञा करो कि फिर कभी इस तरह रूठकर न जाओगे।'

'मैं सच्चे दिल से यह प्रतिज्ञा करता हूँ।'

बहन, तीन दिन कष्ट तो हुआ, पर मुझे उसके लिए जरा भी पछतावा नहीं है। इन तीन दिनों के अनशन ने दिलों में जो सफाई कर दी, वह किसी दूसरी विधि से कदापि न होती। अब मुझे विश्वास है कि हमारा जीवन शांति से व्यतीत होगा। अपने समाचार शीघ्र, अति शीघ्र लिखना।

तुम्हारी

चंदा

(१३)

देहली

२०-२-२६

प्यारी, बहन, तुम्हारा पत्र पढ़कर मुझे तुम्हारे ऊपर दया आई। तुम मुझे कितना ही बुरा कहो, पर मैं अपनी यह दुर्गति किसी तरह न सह सकती,

किसी तरह नहीं। मैंने या तो अपने प्राण दे दिये होते, या फिर उस सास का मुँह न देखती। तुम्हारा सीधापन, तुम्हारी सहनशीलता, तुम्हारी सास-भक्ति तुम्हें मुबारक हो। मैं तो तुरत आनद के साथ चली जाती और चाहे भीख ही क्यों न माँगनी पड़ती, पर उस घर में क़दम न रखती। मुझे तुम्हारे ऊपर दया ही नहीं आती, क्रोध भी आता है, इसलिए कि तुममे स्वाभिमान नहीं है। तुम जैसी स्त्रियों ने सासों और पुरुषों का मिजाज आसमान पर चढ़ा दिया है। 'जहन्नुम में जाय ऐसा घर—जहाँ अपनी इज़्ज़त नहीं। मैं पतिप्रेम भी इन दामों न लूँ। तुम्हें उन्नसवीं सदी में जन्म लेना चाहिए था। उस वक़्त तुम्हारे गुणों की प्रशसा होती। इस स्वाधीनता और नारी-स्वत्व के नवयुग में तुम केवल प्राचीन इतिहास हो। यह सीता और दमयती का युग नहीं। पुरुषों ने बहुत दिनों राज्य किया। अब स्त्री-जाति का राज्य होगा। मगर अब तुम्हें अधिक न कोसूँगी।

अब मेरा हाल सुनो। मैंने सोचा था, पत्रों मे अपनी बीमारी का समाचार छपवा दूँगी। लेकिन फिर ख़याल आया, यह समाचार छपते ही मित्रों का ताँता लग जायेगा। कोई मिजाज़ पूछने आयेगा, कोई देखने आयेगा। फिर मैं कोई रानी तो हूँ नहीं, जिसकी बीमारी का बुलेटिन रोजाना छापा जाय। न जाने लोगों के दिल मे कैसे-कैसे विचार उत्पन्न हो। यह सोचकर मैंने पत्र में छपवाने का विचार छोड़ दिया। दिन भर मेरे चित्त की क्या दशा रही, लिख नहीं सकती। कभी मन में आता, जहर खा लूँ; कभी सोचती कहीं उड़ जाऊँ। विनोद के संबध में भाँति-भाँति की शंकाएँ होने लगीं। अब मुझे ऐसी कितनी ही बाते याद आने लगीं, जब मैंने विनोद के प्रति उदासीनता का भाव दिखाया था। मैं उनसे सब कुछ लेना चाहती थी, देना कुछ न चाहती थी। मैं चाहती थी कि वह आठों पहर भ्रमर की भाँति मुझपर मँडराते रहें, पतंग की भाँति मुझे घेरे रहें। उन्हें किताबो और पत्रों में मग्न बैठे देखकर मुझे झुँझलाहट होने लगती थी। मेरा अधिकाश समय अपने ही बनाव-सिंगार में कटता था, उनके विषय मे मुझे कोई चिंता ही न होती थी। अब मुझे मालूम हुआ कि सेवा का महत्त्व रूप से कहीं अधिक है। रूप मन को मुग्ध कर सकता है, पर आत्मा को आनद पहुँचानेवाली कोई दूसरी ही वस्तु है।

इस तरह एक हफ़्ता गुजर गया। मैं प्रातःकाल मैके जाने की तैयारियाँ कर रही थी—यह घर फाडे खाता था—कि सहसा डाकिये ने मुझे एक पत्र लाकर दिया। मेरा हृदय धक् धक् करने लगा। मैंने काँपते हुए हाथों से पत्र लिया, पर सिरनामे पर विनोद की परिचित हस्तलिपि न थी, लिपि किसी स्त्री की थी, इसमें सदेह न था, पर मैं उससे सर्वथा अपरिचित थी। मैंने तुरंत पत्र खोला और नीचे की तरफ देखा, तो चौंक पडी—यह कुसुम का पत्र था। मैंने एक ही साँस मे सारा पत्र पढ लिया। लिखा था—'बहन, विनोद बाबू तीन दिन यहाँ रहकर बंबई चले गये। शायद विलायत जाना चाहते हैं। तीन-चार दिन बबई रहेंगे। मैंने बहुत चाहा कि उन्हें देहली वापस कर दूँ, पर वह किसी तरह न राजी हुए। तुम उन्हें नीचे लिखे पते से तार दे दो। मैंने उनसे यह पता पूछ लिया था। उन्होंने मुझे ताकीद कर दी थी कि इस पते को गुप्त रखना, लेकिन तुमसे क्या परदा। तुम तुरत तार दे दो। शायद रुक जायँ। यह बात क्या हुई! मुझसे तो विनोद ने बहुत पूछने पर भी नहीं बताया, पर वह दुखी बहुत थे। ऐसे आदमी को भी तुम अपना न बना सकीं, इसका मुझे आश्चर्य है, पर मुझे इसकी पहले ही शका थी। रूप और गर्व में दीपक और प्रकाश का सबध है। गर्व रूप का प्रकाश है।' ····

मैंने पत्र रख दिया और उसी वक्त विनोद के नाम तार भेज दिया कि बहुत बीमार हूँ, तुरत आओ। मुझे आशा थी कि विनोद तार द्वारा जवाब देंगे, लेकिन सारा दिन गुजर गया और कोई जवाब न आया। बँगले के सामने से कोई साइकिल निकलती, तो मैं तुरत उसकी ओर ताकने लगती थी कि शायद तार का चपरासी हो। रात को भी मैं तार का इतजार करती रही। तब मैंने अपने मन को इस विचार से शात किया कि विनोद आ रहे हैं, इसलिए तार भेजने की ज़रूरत न समझी।

अब मेरे मन मे फिर शकाएँ उठने लगीं। विनोद कुसुम के पास क्यों गये, कहीं कुसुम से उन्हें प्रेम तो नहीं है? कहीं उसी प्रेम के कारण तो वह मुझसे विरक्त नहीं हो गये? कुसुम कोई कौशल तो नहीं कर रही है? उसे विनोद को अपने घर ठहराने का अधिकार ही क्या था। इस विचार से मेरा

मन बहुत क्षुब्ध हो उठा। कुसुम पर क्रोध आने लगा। अवश्य दोनों में बहुत दिनों से पत्र-व्यवहार होता रहा होगा। मैंने फिर कुसुम का पत्र पढ़ा और अबकी उसके प्रत्येक शब्द में मेरे लिए कुछ सोचने की सामग्री रखी हुई थी। निश्चय किया कि कुसुम को एक पत्र लिखकर खूब कोसूँ। आधा पत्र लिख भी डाला, पर उसे फाड़ डाला, उसी वक्त विनोद को एक पत्र लिखा। तुमसे कभी भेंट होगी, तो वह पत्र दिखलाऊँगी, जो कुछ मुँह मे आया बक डाला। लेकिन इस पत्र की भी वही दशा हुई जो कुसुम के पत्र की हुई थी। लिखने के बाद मालूम हुआ कि वह किसी विक्षिप्त हृदय की बकवाद है। मेरे मन मे यही बात बैठती जाती थी कि वह कुसुम के पास हैं। वही छलिनी उनपर अपना जादू चला रही है। यह दिन भी बीत गया। डाकिया कई बार आया, पर मैंने उसकी ओर आँख भी नहीं उठाई। चंदा, मै नहीं कह सकती, मेरा हृदय कितना तिलमिला रहा था। अगर कुसुम इस समय मुझे मिल जाती, तो मैं न जाने क्या कर डालती।

रात को लेटे-लेटे ख़याल आया, कहीं वह योरप न चले गये हों। जी बेचैन हो उठा। सिर में ऐसा चक्कर आने लगा, मानों पानी में डूबी जाती हूँ। अगर वह योरप चले गये, तो फ़िर कोई आशा नहीं—मैं उसी वक्त उठी और घड़ी पर नज़र डाली। दो बजे थे। नौकर को जगाया और तार-घर जा पहुँची। बाबूजी कुरसी पर लेटे-लेटे सो रहे थे। बड़ी मुश्किल से उनकी नींद खुली। मैंने रसीदी तार दिया। जब बाबूजी तार दे चुके, तो मैंने पूछा—इसका जवाब कब तक आयेगा?

बाबू ने कहा—यह प्रश्न किसी ज्योतिषी से कीजिए। कौन जानता है, वह कब जवाब दें। तार का चपरासी जबरदस्ती तो उनसे जवाब नहीं लिखा सकता। अगर कोई और कारण न हो, तो ८-९ बजे तक जवाब आ जाना चाहिए।

घबराहट में आदमी की बुद्धि पलायन कर जाती है। ऐसा निरर्थक प्रश्न करके मैं स्वयं लज्जित हो गई। बाबूजी ने अपने मन में मुझे कितना मूर्ख समझा होगा; खैर मैं वहीं एक बेंच पर बैठ गई, और तुम्हें विश्वास न आयेगा, नौ बजे तक वहीं बैठी रही। सोचो कितने घंटे हुए। पूरे सात

घटे। सैकड़ों आदमी आये और गये, पर मैं वहाँ जमी बैठी रही। जब तार का डमी खटकता, मेरे हृदय में धड़कन होने लगती। लेकिन इस भय से कि बाबूजी झल्ला न उठे, कुछ पूछने का साहस न करती थी। जब दफ्तर की घड़ी में नौ बजे, तो मैंने डरते-डरते बाबू से पूछा—क्या अभी तक जवाब नहीं आया?

बाबू ने कहा—आप तो यहीं बैठी हैं, जवाब आता तो क्या मैं खा डालता। मैंने बेहयाई करके फिर पूछा—तो क्या अब न आवेगा? बाबू ने मुँह फेरकर कहा—और दो-चार घटे बैठी रहिए।

बहन, यह वाग्बाण शर के समान हृदय में लगा। आँखें भर आईं। लेकिन फिर भी मैं वहाँ से टली नहीं। अब भी आशा बँधी हुई थी कि शायद जवाब आता हो। जब दो घंटे और गुज़र गये, तब मैं निराश हो गई। हाय! विनोद ने मुझे कहीं का न रखा। मैं घर चली, तो आँखों से आँसुओं की झड़ी लगी हुई थी। रास्ता न सूझता था।

सहसा पीछे से एक मोटर का हार्न सुनाई दिया। मैं रास्ते से हट गई। उस वक्त मन में आया, इसी मोटर के नीचे लेट जाऊँ और जीवन का अंत कर दूँ। मैंने आँखें पोंछकर मोटर की ओर देखा, भुवन बैठा हुआ था, और उसकी बग़ल मे बैठी हुई थी कुसुम! ऐसा जान पड़ा, मानों अग्नि की ज्वाला मेरे पैरों से समाकर सिर से निकल गई। मैं उन दोनों की निगाहों से बचना चाहती थी, लेकिन मोटर रुक गई और कुसुम उतरकर मेरे गले से लिपट गई। भुवन चुपचाप मोटर में बैठा रहा, मानों मुझे जानता ही नहीं। निर्दयी, धूर्त!

कुसुम ने पूछा—मैं तो तुम्हारे पास जाती थी बहन! वहाँ से कोई ख़बर आई? मैंने बात टालने के लिए कहा—तुम कब आईं?

भुवन के सामने मैं अपनी विपत्ति-कथा न कहना चाहती थी।

कुसुम—आओ कार में बैठ जाओ।

'नहीं मैं चली जाऊँगी। अवकाश मिले, तो एक बार चली आना।'

कुसुम ने मुझसे आग्रह न किया। कार में बैठकर चल दी। मैं खड़ी ताकती रह गई। यह वही कुसुम है या कोई और? कितना बड़ा अंतर हो गया है?

मैं घर चली, तो सोचने लगी—भुवन से इसकी जान-पहचान कैसे हुई ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि विनोद ने इसे मेरी टोह लेने को भेजा हो ! भुवन से मेरे विषय में कुछ पूछने तो नहीं आई है ?

मैं घर पहुँचकर बैठी ही थी कि कुसुम आ पहुँची। अब की वह मोटर में अकेली न थी—विनोद बैठे हुए थे। मैं उन्हें देखकर ठक रह गई ! चाहिए तो यह था कि मैं दौड़कर उनका हाथ पकड़ लेती और मोटर से उतार लाती, लेकिन मैं जगह से हिली तक नहीं। मूर्ति की भाँति अचल बैठी रही। मेरी मानिनी प्रकृति अपना उद्दंड स्वरूप दिखाने के लिए विकल हो उठी। एक क्षण मे कुसुम ने विनोद को उतारा और उनका हाथ पकड़े हुए ले आई। उस वक्त मैने देखा कि विनोद का मुख बिलकुल पीला पड़ गया है और वह इतने अशक्त हो गये हैं कि अपने सहारे खड़े भी नहीं रह सकते, मैंने घबराकर पूछा, क्यो तुम्हारा यह क्या हाल है ?

कुसुम ने कहा—हाल पीछे पूछना, ज़रा इनकी चारपाई चटपट बिछा दो और थोड़ा सा दूध मँगवा लो।

मैने तुरत चारपाई बिछाई और विनोद को उसपर लेटा दिया। दूध तो रखा ही हुआ था। कुसुम इस वक्त मेरी स्वामिनी बनी हुई थी। मैं उसके इशारे पर नाच रही थी। चदा, उस वक्त मुझे ज्ञात हुआ कि कुसुम पर विनोद को जितना विश्वास है, वह मुझपर नहीं। मैं इस योग्य हूँ ही नहीं। मेरा दिल सैकड़ों प्रश्न पूछने के लिए तड़फड़ा रहा था, लेकिन कुसुम एक पल के लिए भी विनोद के पास से न टलती थी। मै इतनी मूर्ख हूँ कि अवसर पाने पर इस दशा मे भी मैं विनोद से प्रश्नों का ताँता बाँध देती।

विनोद को जब नींद आ गई, तो मैंने आँखों मे आँसू भरकर कुसुम से पूछा—बहन, इन्हें क्या शिकायत है ? मैंने तार भेजा, उसका जवाब नहीं आया। रात दो बजे एक ज़रूरी और जवाबी तार भेजा। दस बजे तक तारघर में बैठी जवाब की राह देखती रही। वहीं से लौट रही थी, जब तुम रास्ते में मिलीं। यह तुम्हें कहाँ मिल गये ?

कुसुम मेरा हाथ पकड़कर दूसरे कमरे में ले गई और बोली—पहले तुम यह बताओ कि भुवन का क्या मुआमला था ? देखो साफ कहना।

मैंने आपत्ति करते हुए कहा—कुसुम, तुम यह प्रश्न पूछकर मेरे साथ अन्याय कर रही हो। तुम्हें खुद समझ लेना चाहिए था कि इस बात मे कोई सार नहीं है। विनोद को केवल भ्रम हो गया।

'बिना किसी कारण के ?'

'हाँ, मेरी समझ मे तो कोई कारण न था।'

'मैं इसे नहीं मानती। यह क्यों नहीं कहतीं कि विनोद को जलाने, चिढ़ाने और जगाने के लिए तुमने यह स्वाँग रचा था।'

कुसुम की सूझ पर चकित होकर मैंने कहा—वह तो केवल दिल्लगी थी।

'तुम्हारे लिए दिल्लगी थी, विनोद के लिए वज्राघात था। तुमने इतने दिनों उनके साथ रहकर भी उन्हें नहीं समझा ! तुम्हें अपने बनाव सँवार के आगे उन्हें समझने की कहाँ फ़ुरसत। कदाचित् तुम समझती हो कि तुम्हारी यह मोहिनी मूर्ति ही सब कुछ है। मैं कहती हूँ, इसका मूल्य दो-चार महीनों के लिए हो सकता है। स्थायी वस्तु कुछ और ही है।'

मैंने अपनी भूल स्वीकार करते हुए कहा—विनोद को मुझसे कुछ पूछना तो चाहिए था ?

कुसुम ने हँसकर कहा—यही तो वह नहीं कर सकते। तुमसे ऐसी बातें पूछना उनके लिए असभव है। वह उन प्राणियो में हैं, जो स्त्री की आँखों से गिरकर जीते नहीं रह सकते। स्त्री या पुरुष किसी के लिए भी वह किसी प्रकार का धार्मिक या नैतिक बधन नहीं रखना चाहते। वह प्रत्येक प्राणी के लिए पूर्ण स्वाधीनता के समर्थक हैं। मन और इच्छा के सिवा वह और कोई बधन स्वीकार नहीं करते। इस विषय पर मेरी उनसे खूब बातें हुई हैं। ख़ैर मेरा पता उन्हें मालूम था ही, यहाँ से सीधे मेरे पास पहुँचे। मैं समझ गई कि आपस मे पटी नहीं। मुझे तुम्हीं पर सदेह हुआ।

मैंने पूछा—क्यों ? मुझपर तुम्हें क्यों संदेह हुआ ?

'इसलिए कि मैं तुम्हें पहले देख चुकी थी।'

'अब तो तुम्हें मुझपर सदेह नहीं है ?'

'नहीं, मगर इसका कारण तुम्हारा सयम नहीं, परपरा है। मैं इस समय स्पष्ट बातें कर रही हूँ, इसके लिए क्षमा करना।'

'तुम समझती हो कि मुझे विनोद से प्रेम नहीं है ?'

'नहीं, विनोद से तुम्हें जितना प्रेम है, उससे अधिक अपने आपसे है। कम से कम दस दिन पहले यही बात थी। अन्यथा यह नौबत ही क्यों आती। विनोद यहाँ से सीधे मेरे पास गये और दो-तीन दिन रहकर बंबई चले गये! मैंने बहुत पूछा, पर कुछ बतलाया नहीं। वहाँ उन्होंने एक दिन विष खा लिया।'

मेरे चेहरे का रग उड़ गया।

'बंबई पहुँचते ही उन्होंने मेरे पास एक ख़त लिखा था। उसमें यहाँ की सारी बातें लिखी थीं और अत मे लिखा था—'मैं इस जीवन से तंग आ गया हूँ, अब मेरे लिए मौत के सिवा और कोई उपाय नहीं है।'

मैंने एक ठडी साँस ली।

'मैं यह पत्र पाकर घबरा गई और उसी वक्त बंबई रवाना हो गई। जब वहाँ पहुँची, तो विनोद को मरणासन्न पाया। जीवन की कोई आशा नहीं थी। मेरे एक सबंधी वहाँ डॉक्टरी करते हैं। उन्हें लाकर दिखाया, तो वह बोले—इन्होने ज़हर खा लिया है। तुरंत दवा दी गई। तीन दिन तक डॉक्टर साहब ने दिन को दिन और रात को रात न समझा, और मैं तो एक क्षण के लिए विनोद के पास से न हटी। बारे तीसरे दिन इनकी आँखे खुलीं। तुम्हारा पहला तार मुझे मिला था, पर उसका जवाब देने की किसे फुरसत थी। तीन दिन और बंबई रहना पड़ा। विनोद इतने कमज़ोर हो गये थे कि इतना लबा सफ़र करना उनके लिए असंभव था। चौथे दिन मैंने जब उनसे यहाँ आने का प्रस्ताव किया, तो बोले—मैं अब वहाँ न जाऊँगा। जब मैंने बहुत समझाया, तब इस शर्त पर राजी हुए कि मैं पहले आकर यहाँ की परिस्थिति देख जाऊँ।'

मेरे मुँह से निकला—'हा! ईश्वर, मैं ऐसी अभागिनी हूँ।'

अभागिनी नहीं हो बहन, केवल तुमने विनोद को समझा न था। वह तो चाहते थे कि मैं अकेली आऊँ, पर मैंने उन्हें इस दशा मे वहाँ छोड़ना उचित न समझा। परसों हम दोनो वहाँ से चले! यहाँ पहुँचकर विनोद तो वेटिंगरूम में ठहर गये, मैं पता पूछती हुई भुवन के पास पहुँची। भुवन को

मैंने इतना फटकारा कि वह रो पड़ा। उसने मुझसे यहाँ तक कह डाला कि तुमने उसे बुरी तरह दुत्कार दिया है। आँखों का बुरा आदमी है, पर दिल का बुरा नहीं। उधर से जब मुझे संतोष हो गया और रास्ते में तुमसे भेंट हो जाने पर रहा सहा भ्रम भी दूर हो गया, तो मैं विनोद को तुम्हारे पास लाई। अब तुम्हारी वस्तु तुम्हें सौंपती हूँ। मुझे आशा है, इस दुर्घटना ने तुम्हें इतना सचेत कर दिया होगा कि फिर ऐसी नौबत न आयेगी। आत्मसमर्पण करना सीखो। भूल जाओ कि तुम सुंदरी हो; आनंदमय जीवन का यही मूल मंत्र है। मैं डींग नहीं मारती, लेकिन चाहूँ तो आज विनोद को तुमसे छीन सकती हूँ। लेकिन रूप में, मैं तुम्हारे तलुओं के बराबर भी नहीं। रूप के साथ अगर तुम सेवा-भाव धारण कर सको, तो तुम अजेय हो जाओगी ·····'

'मैं कुसुम के पैरों पर गिर पड़ी और रोती हुई बोली—बहन, तुमने मेरे साथ जो उपकार किया है, उसके लिए मरते दम तक तुम्हारी ऋणी रहूँगी। तुमने न सहायता की होती, तो आज न जाने मेरी क्या गति होती।'

बहन, कुसुम कल चली जायगी। मुझे तो अब वह देवी-सी दीखती है। जी चाहता है, उसके चरण धो-धोकर पीऊँ। उसके हाथों मुझे विनोद ही नहीं मिले हैं, सेवा का सच्चा आदर्श और स्त्री का सच्चा कर्तव्यज्ञान भी मिला है। आज से मेरे जीवन का नवयुग आरंभ होता है, जिसमें भोग और विलास की नहीं, सहृदयता और आत्मीयता की प्रधानता होगी।

तुम्हारी
पद्मा

माँगे की घड़ी

मेरी समझ में आज तक यह बात न आई कि लोग ससुराल जाते हैं, तो इतना ठाट-बाट क्यों बनाते हैं। आखिर इसका उद्देश्य क्या होता है! हम अगर लखपती हैं तो क्या और रोटियों को मुहताज हैं तो क्या, विवाह तो हो ही चुका, अब इस ठाट का हमारे ऊपर क्या असर पड़ सकता है। विवाह के पहले तो उससे कुछ काम निकल सकता है। हमारी सपन्नता बातचीत पक्की करने में बहुत कुछ सहायक हो सकती है। लेकिन जब विवाह हो गया, देवीजी हमारे घर का सारा रहस्य जान गईं और निःसंदेह अपने माता-पिता से रो-रोकर अपने दुर्भाग्य की कथा भी कह सुनाईं, तो हमारा यह ठाट हानि के सिवा, लाभ नहीं पहुँचा सकता। फटे हालों देखकर, सभव है, हमारी सासजी को कुछ दया आ जाती और बिदाई के बहाने कोई माकूल रक़म हमारे हाथ लग जाती। यह ठाट देखकर तो वह अवश्य ही समझेंगी कि अब इसका सितारा चमक उठा है, जरूर कहीं-न-कहीं से माल मार लाया है, उधर नाई और कहार इनाम के लिए बड़े-बड़े मुँह फैलायेंगे, वह अलग। देवीजी को भी भ्रम हो सकता है। मगर यह सब जानते और समझते हुए मैंने पारसाल होलियों में ससुराल जाने के लिए बड़ी-बड़ी तैयारियाँ कीं। रेशमी अचकन ज़िन्दगी में कभी न पहनी थी, फ्लेक्स के बूटों का भी स्वप्न देखा करता था। अगर नक़द रुपये देने का प्रश्न होता, तो शायद यह स्वप्न स्वप्न ही रहता, पर एक दोस्त की कृपा से दोनों चीज़ें उधार मिल गईं। चमड़े का सूटकेस एक मित्र से माँग लाया। दरी फट गई थी और नई दरी उधार मिल भी सकती थी; लेकिन बिछावन ले जाने की मैंने ज़रूरत न समझी। अब केवल रिस्टवाच की और कमी थी। यों तो दोस्तों में कितनों ही के पास रिस्टवाच थी—मेरे सिवा ऐसे अभागे बहुत कम होंगे, जिनके पास रिस्टवाच न हो—लेकिन मैं सोने की घड़ी चाहता था और वह केवल दानू के पास थी। मगर दानू से मेरी बेतकल्लुफ़ी न थी। दानू रूखा आदमी था। माँगनी की चीज़ों

का लेना और देना दोनों ही पाप समझता था। ईश्वर ने माना है, वह इस सिद्धात का पालन कर सकता है। मै कैसे कर सकता हूँ। जानता था कि वह साफ इनकार करेगा, पर दिल न माना। ख़ुशामद के बल पर मैंने अपने जीवन में बड़े बडे काम कर दिखाये हैं, इसी ख़ुशामद की बदौलत आज महीने में ३०) फटकारता हूँ। एक हजार ग्रेजुएटों से कम उम्मेदवार न थे; लेकिन सब मुँह ताकते रह गये और बदा मूँछों पर ताव देता हुआ घर आया। जब इतना बडा पाला मार लिया, तो दो चार दिन के लिए घड़ी माँग लाना कौन-सा बड़ा मुश्किल काम था। शाम को जाने की तैयारी थी। प्रातःकाल दानू के पास पहुँचा और उनके छोटे बच्चे को, जो बैठक के सामने सहन में खेल रहा था, गोद में उठाकर लगा भींच-भींचकर प्यार करने। दानू ने पहले तो मुझे आते देखकर ज़रा त्योरियाँ चढाई थीं, लेकिन मेरा यह वात्सल्य देखकर कुछ नरम पडे, उनके ओठों के किनारे जरा फैल गये। बोले—खेलने दो दुष्ट को, तुम्हारा कुरता मैला हुआ जाता है। मैं तो इसे कभी छूता भी नहीं।

मैने कृत्रिम तिरस्कार का भाव दिखाकर कहा—मेरा कुरता मैला हो रहा है न, आप इसकी क्यों फ़िक्र करते हैं। वाह! ऐसा फूल-सा बालक और उसकी यह क़दर। तुम-जैसो को तो ईश्वर नाहक सतान देता है। तुम्हें भारी मालूम होता हो, तो लाओ मुझे दे दो।

यह कहकर मैंने बालक को कधे पर बैठा लिया और सहन में कोई दस मिनट तक उचकता फिरा। बालक खिलखिलाता था और मुझे दम न लेने देता था, यहाँ तक कि दानू ने उसे मेरे कधे से उतारकर ज़मीन पर बैठा दिया और बोले—कुछ पान-पत्ता तो लाया नहीं, उलटे सवारी कर बैठा। जा, अम्मा से पान बनवा ला।

बालक मचल गया। मैने उसे शात करने के लिए दानू को हल्के हाथों दो-तीन धप जमाये और उनकी रिस्टवाच से सुसज्जित कलाई पकड़कर बोला—ले लो बेटा, इनकी घड़ी ले लो, यह बहुत मारा करते हैं तुम्हें। आप तो घडी लगाकर बैठे हैं और हमारे मुन्ने के पास घड़ी नहीं।

मैंने चुपके से रिस्टवाच खोलकर बालक की बाँह में बाँध दी और तब उसे गोद में उठाकर बोला—भैया, अपनी घडी हमें दे दो।

आये, तो चिमनियाँ सब टूटी हुई। पूछा, यह आपने क्या किया, तो बोले—जैसी गई थी, वैसी आई। यह तो आपने न कहा था कि इनके बदले नई लालटेनें लूँगा। वाह साहब वाह। यह अच्छा रोजगार निकाला। बताइए क्या करता। एक दूसरे महाशय क़ालीन ले गये। बदले में एक फटी हुई दरी ले आये। पूछा, तो बोले—

'साहब, आपको तो यह दरी मिल भी गई, मैं किसके सामने जाकर रोऊँ, मेरी पाँच क़ालीनों का पता नहीं, कोई साहब सब समेट ले गये।' बताइए, उनसे क्या कहता! तब से मैंने कान पकड़े कि अब किसी के साथ यह व्यवहार ही न करूँगा। सारा शहर मुझे बेमुरौव्वत, मक्खीचूस और जाने क्या-क्या कहता है, पर मैं परवा नहीं करता। लेकिन आप बाहर जा रहे हैं और बहुत-से आदमियो से आपकी मुलाकात होगी, सभव है, कोई इस घडी का गाहक निकल जाय, इसलिए आपके साथ इतनी सख्ती न करूँगा। हाँ, इतना अवश्य कहूँगा कि मैं इसे निकालना चाहता हूँ और आपसे मुझे सहायता मिलने की पूरी उम्मेद है। अगर कोई दाम लगाये, तो मुझसे आकर कहिएगा।

मैं यहाँ से कलाई पर घडी बाँधकर चला, तो ज़मीन पर पाँव न पडते थे। घडी मिलने की इतनी खुशी न थी, जितनी एक मुड्ढ पर विजय पाने की। कैसा फाँसा है बचा को! वह समझते थे कि मैं ही बड़ा सयाना हूँ, यह नहीं जानते थे कि यहाँ उनके भी गुरूघटाल हैं।

(२)

उसी दिन शाम को मैं ससुराल जा पहुँचा। अब यह गुत्थी खुली कि लोग क्यों ससुराल जाते वक्त इतना ठाट करते हैं। सारे घर में हलचल पड़ गई। मुझपर किसी की निगाह न थी। सभी मेरा साज़-सामान देख रहे थे। कहार पानी लेकर दौड़ा, एक साला मिठाई की तश्तरी लाया, दूसरा पान की। नाइन झाँककर देख गई और ससुरजी की आँखो में तो ऐसा गर्व झलक रहा था, मानों ससार को उनके निर्वाचन-कौशल पर सिर झुकाना चाहिए। मैं ३०) महीने का नौकर इस वक्त ऐसी शान से बैठा हुआ था, जैसा बड़े बाबू दफ्तर में बैठते हैं, कहार पखा झल रहा था, नाइन पाँव धो रही थी,

एक साला बिछावन बिछा रहा था, दूसरा धोती लिये खड़ा था कि मैं पाजामा उतारूँ। यह सब इसी ठाट की करामात थी।

रात को देवीजी ने पूछा—'सब रुपये उड़ा आये कि कुछ बचा भी है?'

मेरा सारा प्रेमोत्साह शिथिल पड़ गया, न क्षेम, न कुशल, न प्रेम की कोई बातचीत, बस, हाय रुपये! हाय रुपये!! जी में आया कि इसी वक्त उठकर चल दूँ। लेकिन ज़ब्त कर गया। बोला—'मेरी आमदनी जो कुछ है, वह तो तुम्हें मालूम है।'

'मैं क्या जानूँ, तुम्हारी क्या आमदनी है। कमाते होंगे अपने लिए, मेरे लिए क्या करते हो? तुम्हें तो भगवान् ने औरत बनाया होता तो अच्छा होता। रात-दिन कंघी-चोटी किया करते। तुम नाहक मर्द बने। अपने शौक़-सिंगार से बचत ही नहीं, दूसरो की फिक्र तुम क्या करोगे?'

मैंने झुँझलाकर कहा—'क्या तुम्हारी यही इच्छा है कि इसी वक्त चला जाऊँ?' देवीजी ने भी त्योरियाँ चढ़ाकर कहा—'चले क्यों नहीं जाते, मैं तो तुम्हे बुलाने न गई थी या मेरे लिए कोई रोकड़ लाये हो।'

मैंने चिंतित स्वर मे कहा—'तुम्हारी निगाह में प्रेम का कोई मूल्य नहीं। जो कुछ है, वह रोकड़ ही है।'

देवीजी ने त्योरियाँ चढ़ाये हुए ही कहा—'प्रेम अपने आपसे करते होंगे मुझमे तो नहीं करते।'

'तुम्हें पहले तो यह शिकायत कभी न थी।'

'इससे यह तो तुमको मालूम ही हो गया कि मैं रोकड़ की परवा नहीं करती, लेकिन देखती हूँ कि ज्यों-ज्यों तुम्हारी दशा सुधर रही है, तुम्हारा हृदय भी बदल रहा है। इससे तो यही अच्छा था कि तुम्हारी वही दशा बनी रहती। तुम्हारे साथ उपवास कर सकती हूँ, फटे चीथड़े पहनकर दिन काट सकती हूँ; लेकिन यह नहीं हो सकता कि तुम चैन करो और मै मैके में पड़ी भाग्य को रोया करूँ। मेरा प्रेम उतना सहनशील नहीं है।'

सालो और नौकरो ने मेरा जो आदर-सम्मान किया था, उसे देखकर मैं अपने ठाट पर फूला न समाया था। अब यहाँ मेरी जो अवहेलना हो रही थी उसे देखकर मैं पछता रहा था कि व्यर्थ ही यह स्वाँग भरा। अगर साधारण

कपड़े पहने, रोनी सूरत बनाये आता, तो बाहरवाले चाहे अनादर ही करते, लेकिन देवीजी तो प्रसन्न रहतीं, पर अब तो भूल हो गई थी। देवीजी की बातों पर मैने ग़ौर किया, तो मुझे उनसे सहानुभूति हो गई। यदि देवीजी पुरुष होतीं और मैं उनकी स्त्री, तो क्या मुझे यह किसी तरह भी सह्य होता कि वह तो छैला बनी घूमे और मैं पिंजरे में बद दाने और पानी को तरसूँ। चाहिए यह था कि देवीजी से सारा रहस्य कह सुनाता, पर आत्मगौरव ने इसे किसी तरह स्वीकार न किया। स्वाँग भरना सर्वथा अनुचित था, लेकिन परदा खोलना तो भीषण पाप था। आख़िर मैंने फिर उसी ख़ुशामद से काम लेने का निश्चय किया जिसने इतने कठिन अवसरों पर मेरा साथ दिया था। प्रेम-पुलकित कठ से बोला—'प्रिये! सच कहता हूँ, मेरी दशा अब भी वही है, लेकिन तुम्हारे दर्शनों की इच्छा इतनी बलवती हो गई थी कि उधार कपड़े लिये। यहाँ तक कि अभी सिलाई भी नहीं दी। फटे हालों आते सकोच होता था कि सबसे पहले तुमको दुःख होगा और तुम्हारे घरवाले भी दुःखी होंगे। अपनी दशा जो कुछ है, वह तो है ही, उसका ढिंढोरा पीटना, तो और भी लज्जा की बात है।'

देवीजी ने कुछ शात होकर कहा—'तो उधार लिया?'

'और नक़द कहाँ धरा था।'

'घड़ी भी उधार ली?'

'हाँ, एक जान-पहचान की दूकान से ले ली।'

'कितने की है?'

बाहर किसी ने पूछा होता, तो मैंने १००) से कौड़ी कम न बताया होता, लेकिन यहाँ मैंने २५) बताया।

'तब तो बड़ी सस्ती मिल गई।'

'और नहीं मैं फँसता ही क्यों?'

'इसे मुझे देते जाना।'

ऐसा जान पड़ा, मेरे शरीर में रक्त ही नहीं रहा। सारे अवयव निस्पंद हो गये। इनकार करता हूँ, तो नहीं बचता, स्वीकार करता हूँ, तो कभी नहीं बचता। आज प्रातःकाल यह घड़ी मँगनी पाकर मैं फूला न समाया था। इस

समय वह ऐसी मालूम हुई, मानो कौड़ियाला गेंडली मारे बैठा हो, बोला—'तुम्हारे लिए कोई अच्छी घड़ी ले लूँगा।'

जी नहीं, माफ कीजिए, आप ही अपने लिए दूसरी घड़ी ले लीजिएगा। मुझे तो यही अच्छी लगती है। कलाई पर बाँधे रहूँगी। जब जब इस र आँखे पड़ेगी, तुम्हारी याद आयेगी। देखो, तुमने आज तक मुझे फूटी कौड़ी भी कभी नहीं दी। अब इनकार करोगे, तो फिर कोई चीज़ न मागूँगी।

देवीजी के कोई चीज़ न माँगने से मुझे किसी विशेष हानि का भय न होना चाहिए था, बल्कि उनके इस विराग का स्वागत करना चाहिए था; पर न जाने क्यो, मैं डर गया। कोई ऐसी युक्ति सोचने लगा कि यह राज़ी हो जायँ और घड़ी भी न देनी पड़े। बोला—'घड़ी क्या चीज़ है, तुम्हारे लिए जान हाज़िर है प्रिये! लाओ तुम्हारी कलाई पर बाँध दूँ, लेकिन बात यह है कि वक्त का ठीक-ठीक अदाज़ न होने से कभी-कभी दफ्तर पहुँचने मे देर हो जाती है और व्यर्थ की फटकार सुननी पड़ती है। घड़ी तुम्हारी है, किंतु जब तक दूसरी घड़ी न ले लूँ, इसे मेरे पास रहने दो। मैं बहुत जल्द कोई सस्ते दामों की घड़ी अपने लिए लूँगा और तुम्हारी घड़ी तुम्हारे पास भेज दूँगा। इसमें तो तुम्हें कोई आपत्ति न होगी।'

देवीजी ने अपनी कलाई पर घड़ी बाँधते हुए कहा—"राम जाने, तुम बड़े चक़मेबाज़ हो, बातें बनाकर काम निकालना चाहते हो। यहाँ ऐसी कच्ची गोलियाँ नहीं खेली हैं, यहाँ से जाकर दो-चार दिन मे दूसरी घड़ी ले लेना। दो चार दिन ज़रा सबेरे दफ़्तर चले जाना।

अब मुझे और कुछ कहने का साहस नहीं हुआ। कलाई से घड़ी के जाते ही हृदय पर चिंता का पहाड़ सा बैठ गया। ससुराल में दो दिन रहा, पर उदास और चिंतित। दानू बाबू को क्या जवाब दूँगा, यह प्रश्न किसी गुप्त वेदना की भाँति चित्त को मसोसता रहा।

(३)

घर पहुँचकर जब मैंने सजल नेत्र होकर दानू बाबू से कहा—'घड़ी तो कहीं खो गई', तो खेद या सहानुभूति का एक शब्द भी मुँह से निकालने के बदले उन्होंने बड़ी निर्दयता से कहा—"इसी लिए मैं तुम्हें घड़ी न देता था।

आख़िर वही हुआ, जिसकी मुझे शंका थी। मेरे पास वह घड़ी तीन साल रही, एक दिन भी इधर-उधर न हुई। तुमने तीन दिन में वारा-न्यारा कर दिया। आख़िर कहाँ गये थे?'

मैं तो डर रहा था कि दानू बाबू न जाने कितनी घुडकियाँ सुनायेंगे। उनकी यह क्षमाशीलता देखकर मेरी जान-में-जान आई। बोला—'ज़रा ससुराल चला गया था।' 'तो भाभी को लिवा लाये।' 'जी, भाभी को लिवा लाता। अपना गुज़र होता ही नहीं, भाभी को लिवा लाता।'

'आख़िर तुम इतना कमाते हो, वह क्या करते हो?'

'कमाता क्या हूँ अपना सिर। ३०) महीने का नौकर हूँ।'

'तो तीसो ख़र्च कर डालते हो?'

'क्या ३०) मेरे लिए बहुत हैं?'

'जब तुम्हारी कुल आमदनी ३०) है, तो यह सब अपने ऊपर ख़र्च करने का तुम्हें अधिकार नहीं है। बीबी कब तक मैके में पड़ी रहेगी?'

'जब तक और तरक्क़ी नहीं होती, तब तक मजबूरी है! किस बिरते पर बुलाऊँ?'

'और तरक्क़ी दो-चार साल न हो तो?'

'यह तो ईश्वर ही ने कहा है। इधर तो ऐसी आशा नहीं है।'

'शाबाश! तब तो तुम्हारी पीठ ठोकनी चाहिए, और कुछ काम क्यों नहीं करते। सुबह को क्या करते हो?'

'सारा वक्त नहाने-धोने, खाने-पीने में निकल जाता है। फिर दोस्तों से मिलना-जुलना भी तो है।'

'तो भाई, तुम्हारा रोग असाध्य है। ऐसे आदमी के साथ मुझे लेशमात्र भी सहानुभूति नहीं हो सकती, आपको मालूम है, मेरी घड़ी ५००) की थी। सारे रुपये आपको देने होंगे। आप अपने लिए १५) महीना मेरे हवाले रखते जाइए। ३०) महीने या ढाई साल में मेरे रुपये पट जाये तो खूब जी खोलकर दोस्तों से मिलिएगा। समझ गये न। मैंने ५०) छोड दिये हैं, इससे अधिक रियायत नहीं कर सकता।'

'१५) में मेरा गुजर कैसे होगा?'

'गुज़र तो लोग ५) में भी करते हैं और ५००) मे भी। इसकी न चलाओ, अपनी सामर्थ्य देख लो।'

दानू बाबू ने जिस निष्ठुरता से ये बातें कीं, उससे मुझे विश्वास हो गया कि अब इनके सामने रोना-धोना व्यर्थ है। यह अपनी पूरी रक़म लिये बिना न मानेंगे। घड़ी अधिक से अधिक २००) की थी। लेकिन इससे क्या होता है। उन्होंने तो पहले ही उसका दाम बता दिया था। अब उस विषय पर मीन-मेष विचारने का मुझे साहस कैसे हो सकता था। क़िस्मत ठोंककर घर आया। यह विवाह करने का मज़ा है! उस वक्त कैसे प्रसन्न थे, मानों चारों पदार्थ मिले जा रहे थे। अब नानी के नाम को रोओ। घडी का शौक चर्राया था, उसका फल भोगो! न घड़ी बाँधकर जाते, तो ऐसी कौन-सी किरकिरी हुई जाती थी। मगर तब तुम किसकी सुनते थे। देखें १५) मे कैसे गुजर करते हो। ३०) मे तो तुम्हारा पूरा ही न पड़ता था, १५) मे तुम क्या भुना लोगे।

इन्हीं चिंताओं में पड़ा-पड़ा मै सो गया। भोजन करने की भी सुध न रही!

(४)

ज़रा सुन लीजिए कि ३०) में मैं कैसे गुज़र करता था—२०) तो होटल को देता था। ५) नाश्ते का ख़र्च था और बाक़ी ५) में पान, सिगरेट, कपड़े, जूते सब कुछ! मैं कौन राजसी ठाट से रहता था, ऐसी कौन-सी फिज़ूलख़र्ची करता था कि अब ख़र्च मे कमी करता। मगर दानू बाबू का कर्ज तो चुकाना ही था। रोकर चुकाता या हँसकर। एक बार जी में आया कि ससुराल जाकर घड़ी उठा लाऊँ, लेकिन दानू बाबू से कह चुका था कि घड़ी खो गई। अब घड़ी लेकर जाऊँगा, तो यह मुझे झूठा और लबाड़िया समझेंगे। मगर क्या मैं यह नहीं कह सकता कि मैंने समझा था कि घड़ी खो गई, ससुराल गया तो उसका पता चल गया। मेरी बीबी ने उड़ा दी थी। हाँ यह चाल अच्छी थी। लेकिन देवीजी से क्या बहाना करूँगा। उसे कितना दुःख होगा। घड़ी पाकर कितनी खुश हो गई थी! अब जाकर घड़ी छीन लाऊँ, तो शायद फिर मेरी सूरत भी न देखे। हाँ यह हो सकता था कि दानू बाबू

के पास जाकर रोता। मुझे विश्वास था कि आज क्रोध में उन्होंने चाहे कितनी ही निष्ठुरता दिखाई हो, लेकिन दो-चार दिन के बाद जब उनका क्रोध शांत हो जाय और मैं जाकर उनके सामने रोने लगूँ, तो उन्हें अवश्य दया आ जायगी। बचपन की मित्रता हृदय से नहीं निकल सकती। लेकिन मैं इतना आत्मगौरव शून्य न था और न हो सकता था।

मैं दूसरे ही दिन एक सस्ते होटल मे उठ गया। यहाँ १२) मे ही प्रबंध हो गया। सुबह को दूध और चाय से नाश्ता करता था। अब छटाँक-भर चनो पर बसर होने लगी। १२) तो यों बचे। पान, सिगरेट आदि की मद मे ३) और कम किये। और महीने के अत में साफ १५) बचा लिये। यह विकट तपस्या थी। इंद्रियो का निर्दय दमन ही नहीं, पूरा सन्यास था। पर जब मैंने ये १५) ले जाकर दानू बाबू के हाथ में रक्खे, तो ऐसा जान पड़ा, मानों मेरा मस्तक ऊँचा हो गया है। ऐसे गौरव-पूर्ण आनद का अनुभव मुझे जीवन में कभी न हुआ था।

दानू बाबू ने सहृदयता के स्वर में कहा—'बचाये या किसी से माँग लाये?'

'बचाया है भई, माँगता किससे?'

'कोई तकलीफ तो नहीं हुई?'

'कुछ नहीं। अगर कुछ तकलीफ हुई भी, तो इस वक्त भूल गई।'

'सुबह को तो अब भी खाली रहते हो? आमदनी कुछ और बढ़ाने की फिक्र क्यों नहीं करते?'

'चाहता तो हूँ कि कोई काम मिल जाय, तो कर लूँ; पर मिलता ही नहीं।'

यहाँ से लौटा, तो मुझे अपने हृदय मे एक नवीन बल, एक विचित्र स्फूर्ति का अनुभव हो रहा था। अब तक जिन इच्छाओं को रोकना कष्टप्रद जान पड़ता था, अब उनकी ओर ध्यान भी न जाता था। जिस पान की दूकान को देखकर चित्त अधीर हो जाता था, उसके सामने से मैं सिर उठाये निकल जाता था, मानों अब मैं उस सतह से कुछ ऊँचा उठ गया हूँ। सिगरेट, चाय और चाट अब इनमे से किसी पर भी चित्त आकर्षित न होता था। प्रातःकाल भीगे हुए चने, दोनों जून रोटी और दाल। बस, इसके सिवा मेरे

लिए और सभी चीज़ें त्याज्य थीं, सबसे बड़ी बात तो यह थी कि मुझे जीवन में विशेष रुचि हो गई थी। मैं ज़िंदगी से बेज़ार, मौत के मुँह का शिकार बनने का इच्छुक न था। मुझे ऐसा आभास होता था कि मै जीवन में कुछ कर सकता हूँ।

एक मित्र ने एक दिन मुझसे पान खाने के लिए बड़ा आग्रह किया, पर मैंने न खाया। तब वह बोले—'तुमने तो यार पान छोड़कर कमाल कर दिया। मैं अनुमान ही न कर सकता था कि तुम पान छोड़ दोगे। हमें भी कोई तरकीब बताओ।'

मैंने मुसकिराकर कहा—'इसकी तरकीब यही है कि पान न खाओ।'

'जी तो नहीं मानता।'

'आप ही मान जायगा।'

'बिना सिगरेट पिये, तो मेरा पेट फूलने लगता है।'

'फूलने दो, आप पिचक जायगा।'

'अच्छा तो लो, आज से मैंने पान और सिगरेट छोड़ा,।'

'तुम क्या छोड़ोगे। तुम नहीं छोड़ सकते।'

मैंने उनको उत्तेजित करने के लिए वह शका की थी। इसका यथेष्ट प्रभाव पड़ा। वह दृढ़ता से बोले—'तुम यदि छोड़ सकते हो, तो मैं भी छोड़ सकता हूँ। मै तुमसे किसी बात में कम नहीं हूँ।'

'अच्छी बात है, देखूँगा।'

'देख लेना।'

मैंने इन्हें आज तक पान या सिगरेट का सेवन करते नहीं देखा था।

पाँचवे महीने में जब मैं रुपये लेकर दानू बाबू के पास गया, तो सच मानो, वह टूटकर मेरे गले से लिपट गये। बोले—'हो यार, तुम धुन के पक्के। मगर सच कहना, मुझे मन में कोसते तो नहीं?'

मैंने हँसकर कहा—'अब तो नहीं कोसता, मगर पहले ज़रूर कोसता था।'

'अब क्यों इतनी कृपा करने लगे?'

'इसलिए कि मुझ-जैसी स्थिति के आदमी को जिस तरह रहना चाहिए, वह तुमने सिखा दिया। मेरी आमदनी मे आधा मेरी स्त्री का है।, पर अब

तक मैं उसका हिस्सा भी हड़प कर जाता था। अब मैं इस योग्य हो रहा हूँ कि उसका हिस्सा उसे दे दूँ या स्त्री को अपने साथ रक्खूँ। तुमने मुझे बहुत अच्छा पाठ दे दिया।'

'अगर तुम्हारी आमदनी कुछ बढ़ जाय, तो फिर उसी तरह रहने लगोगे?'

'नहीं, कदापि नहीं। अपनी स्त्री को बुला लूँगा।'

'अच्छा, तो खुश हो जाओ; तुम्हारी तरक्क़ी हो गई है।'

मैंने अविश्वास के भाव से कहा—'मेरी तरक्क़ी अभी क्या होगी। अभी मुझसे पहले के लोग पड़े नाक रगड़ रहे हैं।'

'कहता हूँ मान जाव। मुझसे तुम्हारे बड़े बाबू कहते थे।'

मुझे अब भी विश्वास न आया। पर मारे कुतूहल के पेट में चूहे दौड़ रहे थे। उधर दानू बाबू अपने घर गये, इधर मैं बड़े बाबू के घर पहुँचा। बड़े बाबू बैठे अपनी बकरी दुह रहे थे। मुझे देखा, तो झेंपते हुए बोले—'क्या करें भाई, आज ग्वाला नहीं आया, इसलिए यह बला गले पड़ी। चलो बैठो।'

मैं कमरे में जा बैठा। बाबूजी भी कोई आध घंटे के बाद हाथ में गुड़गुड़ी लिये निकले और इधर-उधर की बातें करते रहे। आख़िर मुझसे न रहा गया, बोला—'मैंने सुना है, मेरी कुछ तरक्क़ी हो गई है।'

बड़े बाबू ने प्रसन्नमुख होकर कहा—'हाँ, भई, हुई तो है। तुमसे दानू बाबू ने कहा होगा।'

'जी हाँ, अभी कहा है। मगर मेरा नंबर तो अभी नहीं आया, तरक्क़ी कैसे हुई।'

'यह न पूछो, अफ़सरों की निगाह चाहिए, नंबर-संबर कौन देखता है।'

'लेकिन आख़िर मुझे किसकी जगह मिली। अभी कोई तरक्क़ी का मौक़ा भी तो नहीं।'

'कह दिया, भई अफसर लोग सब कुछ कर सकते हैं। साहब एक दूसरी मद से तुम्हें १५) महीना देना चाहते हैं। दानू बाबू ने साहब से कहा-सुना होगा।'

'किसी दूसरे का हक़ मारकर तो मुझे ये रुपये नहीं दिये जा रहे हैं?'

'नहीं, यह बात नहीं। मैं खुद इसे न मंजूर करता।' महीना गुज़रा,

मुझे ४५) मिले। मगर रजिस्टर में मेरे नाम के सामने वही ३०) लिखे थे। बड़े बाबू ने अकेले बुलाकर मुझे रुपये दिये और ताक़ीद कर दी कि किसी से कहना मत, नहीं तो दफ़्तर मे बावेला मच जायगा। साहब का हुक्म है कि यह बात गुप्त रक्खी जाय।

मुझे संतोष हो गया कि किसी सहकारी का गला घोटकर मुझे रुपये नहीं दिये गये। ख़ुश ख़ुश रुपये लिये हुए सीधा दानू बाबू के पास पहुँचा। वह मेरी बाछें खिली देखकर बोले—'मार लाये, तरक्क़ी क्यों?'

'हाँ यार, रुपये तो १५) मिले; लेकिन तरक्क़ी नहीं हुई, किसी और मद से दिये गये हैं।'

'तुम्हें रुपये से मतलब है, चाहे किसी मद से मिले, तो अब बीबी को लेने जाओगे?'

'नहीं, अभी नहीं।'

'तुमने तो कहा था, आमदनी बढ़ जायगी, तो बीबी को लाऊँगा, अब क्या हो गया?'

'मै सोचता हूँ, पहले आपके रुपये पटा दूँ। अब से ३०) महीने देता जाऊँगा, साल भर में पूरे रुपये पट जायँगे। तब मुक्त हो जाऊँगा।'

दानू बाबू की आँखे सजल हो गई। मुझे आज अनुभव हुआ कि उनकी इस कठोर आकृति के नीचे कितना कोमल हृदय छिपा हुआ था। बोले—'नहीं, अबकी मुझे कुछ मत दो। रेल का ख़र्च पड़ेगा, वह कहाँ से दोगे। जाकर अपनी स्त्री को ले आओ।'

मैंने दुविधा में पड़कर कहा—'यार, अभी न मजबूर करो। शायद क़िश्त न अदा कर सकूँ तो?'

दानू बाबू ने मेरा हाथ पकड़कर कहा—'तो कोई हरज नहीं। सच्ची बात यह है कि मै अपनी घड़ी के दाम पा चुका। मैंने तो उसके २५) ही दिये थे। उसपर ३ साल काम ले चुका था। मुझे तुमसे कुछ न लेना चाहिए था। अपनी स्वार्थपरता पर लज्जित हूँ।'

मेरी आँखे भी भर आई। जी में तो आया, घड़ी का सारा रहस्य कह सुनाऊँ, लेकिन ज़ब्त कर गया। गद्गद कंठ से बोला—नहीं दानू बाबू,

मुझे रुपये अदा कर लेने दो। आख़िर तुम उस घड़ी को ४–५ सौ में बेच लेते या नहीं। मेरे कारण तुम्हें इतना नुक़सान क्यों हो।'

'भई, अब घड़ी की चर्चा न करो। यह बतलाओ कब जाओगे?'

'अरे, तो पहले रहने का तो ठीक कर लूँ।'

'तुम जाओ, मैं मकान का प्रबंध कर रक्खूँगा।'

'मगर मैं ५) से ज़्यादा किराया न दे सकूँगा। शहर से ज़रा हटकर मकान सस्ता मिल जायगा।'

'अच्छी बात है, मैं सब ठीक कर रक्खूँगा। किस गाड़ी से लौटोगे?'

'यह अभी क्या मालूम। बिदाई का मामला है, साइत बने, या न बने, या लोग एकाध दिन रोक ही लें। तुम इस झंझट में क्यों पड़ोगे। मै दो-चार दिन मे मकान ठीक करके चला जाऊँगा।'

'जी नहीं, आप आज जाइए और कल आइए।'

'तो उतरूँगा कहाँ?'

'मैं मकान ठीक कर लूँगा। मेरा आदमी तुम्हें स्टेशन पर मिलेगा।'

मैंने बहुत हीले-हवाले किये, पर उस भले आदमी ने एक न सुनी। उसी दिन मुझे ससुराल जाना पड़ा।

(५)

मुझे ससुराल में तीन दिन लग गये। चौथे दिन पत्नी के साथ चला। जी में डर रहा था कि कहीं दानू ने कोई आदमी न भेजा हो, तो कहाँ उतरूँगा, कहाँ को जाऊँगा। आज चौथा दिन है। उन्हें इतनी क्या ग़रज़ पड़ी है कि बार-बार स्टेशन पर अपना आदमी भेजे। गाड़ी मे सवार होते समय इरादा हुआ कि दानू को तार से अपने आने की सूचना दे दूँ। लेकिन ।।।) का ख़र्च था, इससे हिचक गया।

मगर जब गाड़ी बनारस पहुँची, तो देखता हूँ, दानू बाबू स्वयं हैट-कोट लगाये, दो कुलियों के साथ खड़े हैं। मुझे देखते ही दौड़े और बोले—'ससुराल की रोटियाँ बड़ी प्यारी लग रही थीं क्या। तीन दिन से रोज़ दौड़ रहा हूँ। जुरमाना देना पड़ेगा।'

देवीजी सिर से पाँव तक चादर ओढ़े, गाड़ी से उतरकर प्लेटफ़ार्म पर

खड़ी हो गई थीं। मैं चाहता था, जल्दी से गाड़ी में बैठकर यहाँ से चल दूँ। घड़ी उनकी कलाई पर बँधी हुई थी। मुझे डर लग रहा था कि कहीं उन्होंने हाथ बाहर निकाला और दानू की निगाह घड़ी पर पड़ गई, तो बड़ी झेंप होगी। मगर तक़दीर का लिखा कौन टाल सकता है। मैं देवीजी से दानू बाबू की सज्जनता का ख़ूब बखान कर चुका था। अब जो दानू उसके समीप आकर सदूक उठवाने लगे, तो देवीजी ने दोनों हाथों से उन्हें नमस्कार किया। दानू ने उनकी कलाई पर घड़ी देख ली। उस वक्त तो क्या बोलते; लेकिन ज्योंही देवीजी को एक ताँगे पर बिठाकर हम दोनों दूसरे ताँगे पर बैठकर चले, दानू ने मुसकिराकर कहा—'क्या घड़ी देवीजी ने छिपा दी थी?'

मैंने शर्माते हुए कहा—'नहीं यार, मैं ही दे आया था, दे क्या आया था, उन्होंने मुझसे छीन ली थी।'

दानू ने मेरा तिरस्कार करके कहा—'तो मुझसे झूठ क्यों बोले?'

'फिर क्या करता।'

'अगर तुमने साफ कह दिया होता, तो शायद मैं इतना कमीना नहीं हूँ कि तुमसे उसका तावान वसूल करता, लेकिन ख़ैर, ईश्वर का कोई काम मसलहत से ख़ाली नहीं होता। तुम्हें कुछ दिनों ऐसी तपस्या की ज़रूरत थी।'

'मकान कहाँ ठीक किया है?'

'वहीं तो चल रहा हूँ।'

'क्या तुम्हारे घर के पास ही है? तब तो बड़ा मजा रहेगा।'

'हाँ, मेरे घर से मिला हुआ है, मगर बहुत सस्ता।'

दानू बाबू के द्वार पर दोनों ताँगे रुके। आदमियों ने दौड़कर असबाब उतारना शुरू किया। एक क्षण में दानू बाबू की देवीजी घर में से निकलकर ताँगे के पास आई और पत्नीजी को साथ ले गई। मालूम होता था, यह सारी बातें पहले ही से सधी-बधी थीं।

मैंने कहा—'तो यह कहो कि हम तुम्हारे बिन बुलाये मेहमान हैं।'

'अब तुम अपनी मरज़ी का कोई मकान ढूँढ़ लेना। दस पाँच दिन तो यहाँ रहो।'

लेकिन मुझे यह जबरदस्ती की मेहमानी अच्छी न लगी। मैंने तीसरे ही दिन एक मकान तलाश कर लिया। विदा होते समय दानू ने १००) लाकर मेरे सामने रख दिये, और कहा—'यह तुम्हारी अमानत है। लेते जाओ।'

मैंने विस्मय से पूछा—'मेरी अमानत कैसी?' दानू ने कहा—'१५) के हिसाब से ६ महीने के ९०) हुए और १०) सूद।'

मुझे दानू की यह सज्जनता बोझ के समान लगी। बोला—'तो तुम घड़ी ले लेना चाहते हो।'

'फिर घड़ी का ज़िक्र किया तुमने। उसका नाम मत लो।'

'तुम मुझे चारों ओर से दबाना चाहते हो।'

'हाँ, दबाना चाहता हूँ, फिर? तुम्हें आदमी बना देना चाहता हूँ। नहीं उम्रभर तुम यहाँ होटल की रोटियाँ तोड़ते और तुम्हारी देवीजी वहाँ बैठी तुम्हारे नाम को रोती। कैसी शिक्षा दी है, इसका एहसान तो न मानोगे।'

'यों कहो, तो आप मेरे गुरु बने हुए थे।'

'जी हाँ, ऐसे गुरु की तुम्हे जरूरत थी।'

मुझे विवश होकर घड़ी का ज़िक्र करना पड़ा। डरते-डरते बोला—

'तो भई घड़ी ··'

'फिर तुमने घड़ी का नाम लिया!'

'तुम ख़ुद मुझे मजबूर कर रहे हो।'

'वह मेरी ओर से भावज को उपहार है।'

'और ये १००) मुझे उपहार मिले हैं।'

'जी हाँ, यह इम्तहान मे पास होने का इनाम है।'

'तब तो डबल उपहार मिला।'

'तुम्हारी तक़दीर ही अच्छी है, क्या करूँ।'

मैं रुपये तो न लेता था, पर दानू ने मेरी जेब में डाल दिये। लेने पड़े। इन्हें मैंने सेविंग बैंक मे जमा कर दिया। १०) महीने पर मकान लिया था। ३०) महीने ख़र्च करता था। ५) बचने लगे। अब मुझे मालूम हुआ कि दानू बाबू ने मुझसे ६ महीने तक यह तपस्या न कराई होती, तो सचमुच मैं न जाने कितने दिनों तक देवीजी को मैके मे पड़ा रहने देता। उसी तपस्या

की बरकत थी कि आराम से जिंदगी कट रही थी, ऊपर से कुछ-न-कुछ जमा होता जाता था। मगर घड़ी का क़िस्सा मैंने आज तक देवीजी से नहीं कहा। पाँचवें महीने में मेरी तरक्क़ी का नंबर आया। तरक्क़ी का परवाना मिला। मै सोच रहा था कि देखूँ अबकी दूसरी मदवाले १५) मिलते हैं या नहीं। पहली तारीख़ को वेतन मिला, वही ४५), मैं एक क्षण खड़ा रहा कि शायद बड़े बाबू दूसरी मदवाले रुपये भी दें। जब और लोग अपने-अपने वेतन लेकर चले गये, तो बड़े बाबू बोले—'क्या अभी लालच घेरे हुए है। अब और कुछ न मिलेगा।'

मैंने लज्जित होकर कहा—'जी नहीं, इस ख़याल से नहीं खड़ा हूँ। साहब ने इतने दिनो तक परवरिश की, यह क्या थोड़ा है। मगर कम-से कम इतना तो बता दीजिए कि किस मद से यह रुपया दिया जाता था?'

बड़े बाबू—'पूछकर क्या करोगे?'

'कुछ नहीं, यों ही जानने को जी चाहता है।'

'जाकर दानू बाबू से पूछो।'

'दफ़्तर का हाल दानू बाबू क्या जान सकते हैं।'

'नहीं, यह हाल वही जानते हैं।'

मैंने बाहर आकर एक ताँगा लिया और दानू के पास पहुँचा। आज पूरे दस महीने के बाद मैंने ताँगा किराये पर किया था। इस रहस्य के जानने के लिए मेरा दम घुट रहा था। दिल में तय कर लिया था कि अगर बचा ने यह षड्यन्त्र रचा होगा, तो बुरी तरह ख़बर लूँगा। आप बग़ीचे मे टहल रहे थे। मुझे देखा तो घबराकर बोले—'कुशल तो है, कहाँ से भागे आते हो?'

मैंने कृत्रिम क्रोध दिखाकर कहा—'मेरे यहाँ तो कुशल है, लेकिन तुम्हारी कुशल नहीं।'

'क्यो भई, क्या अपराध हुआ है?'

'आप बतलाइए कि पाँच महीने तक मुझे जो १५) वेतन के ऊपर मिलते थे, यह कहाँ से आते थे?'

'तुमने बड़े बाबू से नहीं पूछा? तुम्हारे दफ्तर का हाल मैं क्या जानूँ।'

मै आजकल दानू से बेतकल्लुफ़ हो गया था। बोला—

'देखो दानू, मुझसे उड़ोगे, तो अच्छा न होगा। क्यों नाहक़ मेरे हाथों पिटोगे।'

'पीटना चाहो, तो पीट लो भई, सैकड़ों ही बार पीटा है, एक बार और सही। बार पर से जो ढकेल दिया था, उसका निशान बना हुआ है, यह देखो।'

'तुम टाल रहे हो और मेरा दम घुट रहा है। सच बताओ क्या बात थी?'

'बात-वात कुछ नहीं थी। मैं जानता था कि कितनी ही किफ़ायत करोगे, ३०) में तुम्हारा गुज़र न होगा। और न सही, दोनों वक़्त रोटियाँ तो हों। बस, इतनी बात है। अब इसके लिए जो चाहो दंड दो।'

स्मृति का पुजारी

महाशय होरीलाल की पत्नी का जबसे देहांत हुआ वह एक तरह से दुनिया से विरक्त हो गये हैं। यों रोज़ कचहरी जाते हैं—अब भी उनकी वकालत बुरी नहीं है। मित्रों से राह-रस्म भी रखते हैं, मेलों तमाशों मे भी जाते हैं; पर इसलिए नहीं कि इन बातों से उन्हें कोई ख़ास दिलचस्पी है; बल्कि इसलिए कि वह भी मनुष्य हैं और मनुष्य एक सामाजिक जीव है। जब उनकी स्त्री जीवित थी, तब कुछ और ही बात थी। किसी न किसी बहाने से आयेदिन मित्रो की दावतें होती रहती थीं। कभी गार्डन पार्टी है, कभी संगीत है, कभी जन्माष्टमी है, कभी होली है। मित्रो का सत्कार करने मे जैसे उन्हें मज़ा आता था। लखनऊ से सुफेदे आये हैं। अब जब तक दोस्तों को खिला न ले, उन्हें चैन नहीं। कोई अच्छी चीज़ खरीदकर उन्हे यही धुन हो जाती थी कि इसे किसी की भेंट कर दे। जैसे और लोग अपने स्वार्थ के लिए तरह तरह के प्रपच रचा करते हैं, वह सेवा के लिए षड्यंत्र रचते थे। आपसे मामूली जान-पहचान है; लेकिन उनके घर चले जाइए तो चाय और फलों से आपका सत्कार किये बिना न रहेंगे। मित्रों के हित के लिए प्राण देने को तैयार और बड़े ही खुशमिज़ाज। उनके क़हकहे ग्रामोफ़ोन मे भरने लायक़ होते थे। कोई संतान न थी; लेकिन किसी ने उन्हें दुखी या निराश नहीं देखा। महल्ले के सारे बच्चे उनके बच्चे थे। और स्त्री भी उसी रग मे रँगी हुई। आप कितने ही चिंतित हों; उस देवी से मुलाक़ात होते ही आप फूल की तरह खिल जायँगे। न जाने इतनी लोकोक्तियाँ कहाँ से याद कर ली थीं। बात-बात पर कहावतें कहती थी। और जब किसी को बनाने पर आ जाती, तो रुलाकर छोड़ती थी। गृह-प्रबंध में तो उसका जोड़ न था, दोनो एक दूसरे के आशिक थे, और उनका प्रेम पौधों के कलम की भाँति दिनों के साथ और भी घनिष्ठ होता जाता था। समय की गति उसपर जैसे आशीर्वाद का काम कर रही थी।

कचहरी से छुट्टी पाते ही वह प्रेम का पथिक दौ[illegible] भागता था। आप कितना ही आग्रह करे; पर उस वक्त रास्ते[illegible]क मिनट के लिए भी न रुकता था और अगर कभी महाशयजी के आने मे देर हो जाती थी, तो वह प्रेम-योगिनी छज्जे पर खड़ी होकर उनकी राह देखा करती थी और पचीस साल के अभिन्न सहचार ने उनकी आत्माओं में इतनी समानता पैदा कर दी थी कि जो बात एक के दिल मे आती थी, वही दूसरे के दिल मे बोल उठती थी। यह बात नहीं कि उनमे मतभेद न होता हो। बहुत से विषयों में उनके विचारो मे आकाश-पाताल का अतर था, और अपने पक्ष के समर्थन और परपक्ष के खडन मे उनमे खूब झाँव-झाँव होती थी। कोई बाहर का आदमी सुने, तो समझे कि दोनों लड रहे है, और अब हाथापाई की नौबत आनेवाली है, मगर उनके मुबाहसे मस्तिष्क से होते थे। हृदय दोनो के एक, दोनो सहृदय, दोनो प्रसन्नचित्त, स्पष्ट कहने-वाले, निःस्पृह, मानो देवलोक के निवासी हो, इसलिए पत्नी का देहात हुआ, तो कई महीने तक हम लोगों को यह अंदेशा रहा कि यह महाशय आत्म-हत्या न कर बैठे। हम लोग सदैव उनकी दिलजोई करते रहते, कभी एकात में न बैठने देते। रात को भी कोई न-कोई उनके साथ लेटता था। ऐसे व्यक्तियों पर दूसरो को दया आती ही है। मित्रो की पत्नियाँ तो इनपर जान देती थीं। उनकी नजरों में वह देवताओं के भी देवता थे। उनकी मिसाल दे-देकर अपने पुरुषों से कहतीं—इसे कहते हैं प्रेम! ऐसा पुरुष हो, तो क्यों न स्त्री उसकी ग़ुलामी करे। जब से बीबी मरी है, ग़रीब ने कभी भरपेट भोजन नहीं किया, कभी नींद भर नही सोया। नहीं तुम लोग दिल मे मनाते रहते हो कि यह मर जाय, तो नया ब्याह रचाये। दिल में ख़ुश होंगे कि अच्छा हुआ मर गई, रोग टला, अब नई-नवेली स्त्री लायेंगे।

और तब महाशयजी का पैतालीसवाँ साल था, सुगठित शरीर था, स्वास्थ्य अच्छा, रूपवान्, विनोदशील, सपन्न। चाहते तो तुरंत दूसरा ब्याह कर लेते। उनके हाँ करने की देर थी। गरज के बावले कन्य वालो ने सदेशे भेजे, मित्रो ने भी उजडा घर बसाना चाहा; पर इस स्मृति के पुजारी ने प्रेम के नाम को दाग न लगाया। अब हफ़्तों बाल नहीं बनते;

कपड़े नहीं बदले जाते। घसिहारों सी सूरत बनी हुई है, कुछ परवाह नहीं। कहाँ तो मुँह अँधेरे उठते थे और चार मील का चक्कर लगा आते थे, कभी अलसा जाते थे तो देवीजी घुड़कियाँ जमातीं और उन्हें बाहर खदेड़कर द्वार बंद कर लेतीं। कहाँ अब आठ बजे तक चारपाई पर पड़े करवटें बदल रहे हैं। उठने का जी नहीं चाहता। ख़िदमतगार ने हुक्का लाकर रख दिया, दो-चार कश लगा दिये। न लाये, तो गम नहीं। चाय आई, पी ली, न आये तो परवाह नहीं। मित्रों ने बहुत गला दबाया, तो सिनेमा देखने चले गये; लेकिन क्या देखा और क्या सुना, इसकी ख़बर नहीं। कहाँ तो अच्छे-अच्छे सूटों का ख़ब्त था, कोई खुशनुमा डिज़ाइन का कपड़ा आ जाय, आप एक सूट ज़रूर बनवायेंगे। वह क्या बनवायेंगे, उनके लिए देवीजी बनवायेंगी। कहाँ अब वही पुराने-धुराने बदरंग, सिकुड़े-सिकुड़ाये, ढीले-ढाले कपड़े लटकाये चले जा रहे हैं, जो अब दुबलेपन के कारण उतारे-से लगते हैं और जिन्हें अब किसी तरह सूट नहीं कहा जा सकता। महीनों बाज़ार जाने की नौबत नहीं आती। अबकी कड़ाके का जाड़ा पड़ा, तो आपने एक रूईदार नीचा लबादा बनवा लिया और ख़ासे भगतजी बन गये। सिर्फ़ कंटोप की कसर थी। देवीजी होतीं, तो यह लबादा छीनकर किसी फ़क़ीर को दे देतीं; मगर अब कौन देखनेवाला है। किसे परवाह है, वह क्या पहनते हैं और कैसे रहते हैं। ४५ की उम्र में जो आदमी ३५ का लगता था, वह अब ५० की उम्र में ७० का लगता है, कमर भी झुक गई है, बाल भी सुफेद हो गये हैं, दाँत भी ग़ायब हो गये। जिसने उन्हें तब देखा हो, आज पहचान भी न सके।

मज़ा यह है कि तब वह जिन विषयों पर देवीजी से लड़ा करते थे, वही अब उनकी उपासना के अंग बन गये हैं। मालूम नहीं उनके विचारों में क्रांति हो गई है या मृतात्मा ने उनकी आत्मा में लीन होकर भिन्नताओं को मिटा दिया है। देवीजी को विधवा-विवाह से घृणा थी; महाशयजी इसके पक्के समर्थक थे; लेकिन अब आप भी विधवा-विवाह का विरोध करते हैं। आप पहले पच्छिमी या नई सभ्यता के भक्त थे और देवीजी का मज़ाक उड़ाया करते थे। अब इस सभ्यता की उनसे ज़्यादा तीव्र आलोचना शायद ही कोई

कर सके। इस बार यों ही अँग्रेज़ों के समय-नियन्त्रण की चर्चा चल गई। मैंने कहा—इस विषय में हमें अँग्रेज़ो से सबक़ लेना चाहिए। बस, आप तड़पकर उठ बैठे और उन्मत्त स्वर में बोले—कभी नहीं, प्रलय तक नहीं। मै इस नियन्त्रण को स्वार्थ का स्तंभ, अहंकार का हिमालय और दुर्जनता का सहारा समझता हूँ। एक व्यक्ति मुसीबत का मारा आपके पास आता है, मालूम नहीं, कौन-सी ज़रूरत उसे आपके पास खींच लाई है; लेकिन आप फरमाते हैं—मेरे पास समय नहीं। यह उन्हीं लोगों का व्यवहार है, जो धन को मनुष्यता के ऊपर समझते हैं, जिनके लिए जीवन केवल धन है। जो व्यक्ति सहृदय है, वह कभी इस नीति को पसंद न करेगा। हमारी सभ्यता धन को इतना ऊँचा स्थान नहीं देती थी। हम अपने द्वार हमेशा खुले रखते थे। जिसे जब जरूरत हो, हमारे पास आये, हम पूर्ण तन्मयता से उसका वृत्तात सुनेंगे और उसके हर्ष या शोक मे शरीक होंगे। अच्छी सभ्यता है! जिस सभ्यता की स्पिरिट स्वार्थ हो, वह सभ्यता नहीं है, ससार के लिए अभिशाप है, समाज के लिए विपत्ति है। इस तरह धर्म के विषय मे भी दपति में काफी वितडा होता रहता था। देवीजी हिंदू धर्म की अनुगामिनी थीं, आप इस्लामी सिद्धातों के क़ायल थे; मगर अब आप भी पक्के हिंदू हैं; बल्कि यों कहिए कि आप मानवधर्मी हो गये हैं। एक दिन बोले—मेरी कसौटी तो है मानवता! जिस धर्म मे मानवता को प्रधानता दी गई है, बस, उसी धर्म का मैं दास हूँ। कोई देवता हो, या नबी, या पैगंबर; अगर वह मानवता के विरुद्ध कुछ कहता है, तो मेरा उसे दूर से सलाम है। इसलाम का मैं इसलिए क़ायल था कि वह मनुष्यमात्र को एक समझता है, ऊँच-नीच का वहाँ कोई स्थान नहीं है; लेकिन अब मालूम हुआ कि यह समता और भाईपन व्यापक नहीं, केवल इसलाम इसलाम के दायरे तक परिमित है। दूसरे शब्दों में अन्य धर्मों की भाँति यह भी गुटबंदी है और इसके सिद्धात केवल उस गुट या समूह को सबल और सगठित बनाने के लिए रचे गये हैं। और जब मैं देखता हूँ कि यहाँ भी जानवरों की कुरबानी शरीयत में दाखिल है और हरेक मुसलमान के लिए अपनी सामर्थ्य के अनुसार भेड़, बकरी, गाय या ऊँट की कुरबानी फ़र्ज़ बताई गई है, तो मुझे उसे अपौरुषेय होने में सदेह

इधर एक हफ़्ते के लिए मैं एक नेवते में चला गया था। इस बीच यह क्या कोलापलट हो गई! ज़रूर ही कोई न कोई रहस्य है और भला आदमी निकल कितनी दूर गया। दो मील तक कहीं पता नहीं। मैं निराश हो गया, मगर यह महाशय रास्ते में कहाँ रह गये, यहाँ तो किसी से उनकी मुलाकात भी नहीं है जहाँ ठहर गये हों। कुछ चिंता भी हो रही थी। कहीं कुएँ में तो नहीं कूद पड़े! मै लौटने ही वाला था कि आप लौटते हुए नज़र आये। चित्त शांत हुआ। आज तो क़ैड़ा ही और था। बाल नये फैशन से कटे हुए, मूँछें साफ़, दाढ़ी चिकनी, चेहरा खिला हुआ, चाल में चपलता, सूट पुराना, पर ब्रश किया हुआ और शायद इस्तरी भी की हुई, बूट पर ताज़ा पालिश। मुसकिराते चले आते थे। मुझे देखते ही लपककर हाथ मिलाया और बोले—आज कई दिन के बाद मिले! कहीं गये थे क्या?

मैंने अपनी गैरहाज़िरी का कारण बताकर कहा—मैं डरता हूँ, आज तुम्हें नज़र न लग जाय। अब मैं नित्य तुम्हारे साथ घूमने आया करूँगा। आज बहुत दिनों के बाद तुमने आदमी का चोला धारण किया है।

झेंपकर बोले—नहीं भई, मुझे अकेला ही रहने दो। तुम लगोगे दौड़ने और ऊपर से घुड़कियाँ जमाओगे। मैं अपने हौले-हौले चला जाता हूँ। जब थक जाता हूँ, कहीं बैठे लेता हूँ। मेरा-तुम्हारा क्या साथ।

'यह दशा तो तुम्हारी एक सप्ताह पहले न थी। आज तो तुम बिल्कुल अप-टू-डेट हो। इस चाल से तो शायद मैं तुमसे पीछे ही रहूँगा।'

'तुम तो बनाने लगे।'

'मैं कल से तुम्हारे साथ घूमने आऊँगा। मेरा इंतज़ार करना।'

'नहीं भई, मुझे दिक़ न करो। मैं आजकल बहुत सबेरे उठ जाता हूँ। रात को नींद नहीं आती। सोचता हूँ, लाओ टहल ही आऊँ। तुम मेरे साथ क्यों परेशान होगे।'

मेरा विस्मय बढ़ता जा रहा था। यह महाशय हमेशा मेरे पैरों पड़ते रहते थे कि मुझे भी साथ ले लिया करो। जब मैंने इनकी मंथरता से हारकर इनका साथ छोड़ दिया, तब इन्हे बड़ा दुःख हुआ। दो-एक बार मुझसे शिकायत भी की—हाँ भई, अब क्यों साथ दोगे। अभागो का साथ किसी ने दिया है,

उसी की सज्जनता से सज्जन, उसी की उदारता से उदार। अब तो निरा मिट्टी का पुतला हूँ भाई साहब, बिल्कुल मुर्दा। मैं उस देवी के योग्य न था। न जाने किन शुभ-कर्मों के फल से वह मुझे मिली थी। आइए, आपको उसकी तस्वीर दिखाऊँ। मालूम होता है, अभी-अभी उठकर चली गई है। भाई साहब, आपसे साफ कहता हूँ, मैंने ऐसी सुदरी कभी नहीं देखी। उसके रूप में केवल रूप की गरिमा ही न थी, रूप का माधुर्य भी था और मादकता भी, एक-एक अंग साँचे ढला था साहब, आप उसे देखकर कवियों के नख-शिख को लात मारते।

आप उत्सुक नेत्रो वह तस्वीर देखते हैं। आपको उसमें कोई विशेष सौंदर्य नहीं मिलता। स्थूल शरीर है, चौड़ा-सा मुँह, छोटी-छोटी आँखें, रंग-ढग से देहक़ानीपन झलक रहा है। पर उस तस्वीर की खूबियाँ कुछ इस अनुराग और इस आडबर से बयान किये जाते हैं कि आपको सचमुच उस चित्र में सौंदर्य का आभास होने लगता है। इस गुणानुवाद में जितना समय जाता है, वही महाशयजी के जीवन के आनद की घड़ियाँ हैं। इतनी ही देर वह जीवित रहते हैं। शेष जीवन निरानद है, निःपद है।

पहले कुछ दिनों तक तो वह हमारे साथ हवा खाने जाते रहे—वह क्या जाते रहे, मैं जबरदस्ती ठेल-ठालकर ले जाता रहा, लेकिन रोज आध घंटे तक उनका इतज़ार करना पड़ता था। किसी तरह घर से निकलते भी तो जनवासी चाल से चलते और आध मील में ही हिम्मत हार जाते और लौट चलने का तक़ाज़ा करने लगते। आख़िर मैंने उन्हें साथ ले जाना छोड़ दिया। और तबसे उनकी चेहलक़दमी चालीस क़दम की रह गई है। सैर क्या है बेगार है, और वह भी इसलिए कि देवीजी के सामने उनका यह नियम था।

एक दिन उनके द्वार के सामने से निकला, तो देखा कि ऊपर की खिड़कियाँ जो बरसों से बद पड़ी थीं, खुली हुई हैं। अचरज हुआ। द्वार पर नौकर बैठा नारियल पी रहा था। उससे पूछा, तो मालूम हुआ, आप घूमने गये हैं। मुझे मीठा विस्मय हुआ। आज यह नई बात क्यों? इतने सवेरे तो यह कभी नहीं उठते। जिस तरफ वह गये थे, उधर ही मैंने भी क़दम बढ़ाये।

तिनककर बोले—मैंने तो तुमसे कह दिया था, मेरे घर मत आना, फिर क्यों आये, और क्यों मेरे पीछे पड़े ! मुझे अपने धीरे-धीरे घूमने दो। तुम अपना रास्ता लो।

मैंने उनका हाथ पकड़कर ज़ोर से एक झटका दिया और बोला—देखो, छेरीलाल, मुझसे उड़ो नहीं, वरना मुझे जानते हो, कितना बेमुरौवत आदमी हूँ। तुम यह धीरे-धीरे टहल रहे हो, या डबल मार्च कर रहे हो। मेरी पिंडलियों में दर्द होने लगा और पसलियाँ दुख रही हैं। डाक का हरकारा भी तो इस चाल से नहीं दौड़ता। उसपर ग़ज़ब यह कि तुम थके नहीं हो, अब भी उसी दम-ख़म के साथ चले जा रहे हो। अब तो तुम डंडे लेकर भगाओ, तो भी तुम्हारा दामन न छोड़ूँ। तुम्हारे साथ दो मील भी चलूँगा, तो है। [illegible]सी कसरत हो जायगी, मगर अब साफ साफ बतलाओ, बात क्या कर रहे हो, [illegible]वानी कहाँ से आ गई ! अगर किसी अकसीर का सेवन मँगवा लूँगा; अगर [illegible]हो। कम से कम उसे मँगाने का पता बता दो, मैं पीर के पास ले चलो। [illegible] तावीज की करामात है, तो मुझे भी उस

मुसकिराकर बोले—तुम तो पागल हो, [illegible] मुझे दिक़ कर रहे हो। बूढ़े हो गये, मगर लड़कपन न गया। क्या तुम [illegible] हो कि मैं हमेशा उसी तरह मुर्दा पड़ा रहूँ। इतना भी तुमसे नहीं देखा जाता ! [illegible] तो तुम्हारे मिजाज ही न मिलते थे। कितनी चिरौरी की कि भाई जान, मुझ भ[illegible]के को भी साथ ले लिया करो। मगर आप नख़रे दिखाने लगे। अब क्यों मेरे पीछे पड़े हो ! यह समझ लो, जो अपनी मदद आप करता है, उसको मदद परमात्मा भी करते हैं। मित्रों और बंधुओ की मुरौवत देख ली। अब अपने बूते पर चलूँगा।

वह इसी तरह मुझे कोसते जा रहे थे और मैं उन्हें छेड़-छेड़कर और भी उत्तेजित कर रहा था, कि एकाएक उन्होने उँगली मुँह पर रखकर मुझे चुप रहने का इशारा किया, और जरा क़द और सीधा करके और चेहरे पर प्रसन्नता और पुरुषार्थ का रंग भर मस्तानी चाल से चलने लगे। मेरी समझ में ज़रा भी न आया, यह संकेत और बहुरूप किस लिए ! वहाँ तो

या तुम कोई नई नीति निकालोगे। जमाने का दस्तूर है, जो लँगड़ाता हो उसे ढकेल दो, जो बीमार हो उसे ज़हर दे दो, और वही आदमी आज मुझसे पीछा छुड़ा रहा है। यह क्या रहस्य है। यह चपलता और प्रसन्नता और सजीवता कहाँ से आ गई। कहीं आपने बदर की गिल्टी तो नहीं लगवा ली। यह नया सिविल सार्जन गिल्टी-आरोपण-कला में सिद्धहस्त है। मुमकिन है, इन्हें किसी ने सुझा दिया हो और आपने हज़ार-पाँच सौ खर्च करके गिल्टी बदलवा ली हो। इस पहेली को बूझे बगैर मुझे चैन कहाँ। उनके साथ ही लौट पड़ा।

दो-चार क़दम चलकर मैंने- पूछा—सच बताओ भाई जान, गिल्टी-विल्टी तो नहीं लगवा ली ?

उन्होंने प्रश्न की आँखों से देखा— कैसी गिल्टी ? मैं नहीं समझता।

'मुझे सदेह हो रहा है कि तुमने बंदर की गिल्टियाँ लगवा ली उन्ह तो

'अरे यार' क्यों कोसते हो। गिल्टियाँ किस लिए ~

इसका कभी ख़याल भी नहीं आया।' २ ?'

'तो क्या कोई बिजली का यत्र मॅगवड़े हो। विधवा भी तो कभी सिंगार

'तुम आज मेरे पीछे क्यों हुए एक दिन मुझे अपने आलस्य और बेदिली पर

कर लेती है ! जी ही ने जब संसार मे रहना है, तो ज़िंदों की तरह क्यों न

खेद हुआ। मैं चा, जब संसार मे रहना है, बस और न कोई बात है, न रहस्य।'

रहूँ। मुर्दों की तरह जीने से क्या फ़ायदा। बस और न कोई बात है, न रहस्य।' दूसरे दिन ज़रा और सवेरे आकर

मुझे इस व्याख्या से संतोष न हुआ। दूसरे दिन ज़रा और सवेरे आकर मुंशीजी के द्वार पर आवाज़ दी; लेकिन आप भी आज निकल चुके थे। मैं उनके पीछे भागा ! ज़िद पड़ गई कि इसे अकेले न जाने दूँगा। देखूँ, कब तक मुझसे भागता है। कोई रहस्य है अवश्य। अच्छा बचा, आधी रात को आकर बिस्तर से न उठाऊँ तो सही। दौड़ तो न सका; लेकिन जितना तेज चल सकता था, चला। एक मील के बाद आप नज़र आये। बगटुट भागे चले जा रहे थे। अब मैं बार-बार पुकार रहा हूँ—हज़रत, ज़रा ठहर जाइए, मेरी साँस फूल रही है, मगर आप हैं कि सुनते ही नहीं। आखिर जब मैंने अपने सिर की कसम दिलाई, तब जाकर आप रुके। मैं झपाटे से पहुँचा,

हाथ नहीं छोड़ना चाहती। भाजी लेकर मैंने दाम देने के लिए रुपया निकाला, तो कुँजड़े ने उसे ठुकारकर कहा—दूसरा रुपया दो, यह खोटा है। अब मैंने जो खुद ठुकारा, तो मालूम हुआ, सचमुच कुछ ठस है। अब क्या करूँ। मेरे पास दूसरा रुपया न था, यद्यपि इस तरह के कटु अनुभव मुझे कितनी ही बार हो चुके हैं; मगर घर से रुपया लेकर चलते वक्त मुझे उसे परख लेने की याद नहीं रहती। न किसी से लेती ही बार परखती हूँ।

इस वक्त मेरे संदूक में ज़्यादा नहीं, तो बीस-पच्चीस खोटे रुपये पड़े होंगे, और रेज़गारियाँ तो सैकड़ों ही होंगी। मेरे लिए अब इसके सिवा दूसरा उपाय न था कि भाजी लौटाकर ख़ाली हाथ चली आऊँ। संयोग से महाशयजी उसी दूकान पर भाजी लेने आये थे। मुझे इस विपत्ति में देखकर आपने तुरंत एक रुपया निकालकर दे दिया...

महाशयजी ने बात काटकर कहा—तो इस वक्त आप वह सारी कथा क्यों सुना रही हैं। हम दोनों एक जरूरी काम से जा रहे हैं। व्यर्थ में देर हो रही है।

उन्होंने मेरा हाथ पकड़कर अपनी ओर खींचा।

मुझे उनकी यह अभद्रता बुरी लगी। कुछ कुछ इसका रहस्य भी समझ में आ गया। बोला—तो आप जाइए, मुझे ऐसा कोई ज़रूरी काम नहीं है। मैं भी अब लौटना चाहता हूँ।

महाशयजी ने दाँत पीस लिये, अगर वह सुंदरी वहाँ न होती, तो न जाने मेरी क्या दुर्दशा करते। एक क्षण मेरी ओर अग्नि-भरे नेत्रों से ताकते रहे, मानों कह रहे हो—अच्छा बचा, इसका मज़ा न चखाया, तो कहना, और चल दिये। मैं देवी के साथ लौटा।

सहसा उसने हिचकिचाते हुए कहा—मगर नहीं, आप जाइए, मैं उनके साथ जाऊँगी। शायद मुझसे नाराज़ हो गये हैं। आज एक सप्ताह से मेरा और उनका रोज़ साथ हो जाता है और अब अपनी जीवन-कथा सुनाया करते हैं। कैसी नसीबोंवाली थी वह औरत, जिसका पति आज भी उसके नाम की पूजा करता है। आपने तो उन्हें देखा होगा। क्या सचमुच इनपर जान देती थी?

दूसरा कोई था भी नहीं। हाँ, सामने से एक स्त्री चली आ रही थी ; मगर उसके सामने इस पर्देदारी की क्या जरूरत। मैंने तो उसे कभी देखा भी न था। आसमानी रंग की रेशमी साड़ी, जिसपर पीला लैस टका था, उसपर खूब खिल रही थी। रूपवती कदापि न थी, मगर रूप से ज़्यादा मोहक उसकी सरलता थी, और प्रसन्नता। एक बहुत ही मामूली शक्ल-सूरत की औरत इतनी नयनाभिराम हो सकती है, यह मैं न समझ सकता था।

उसने होरीलाल के बराबर आकर नमस्कार किया। होरीलाल ने जवाब में सिर तो झुका दिया ; मगर बिना कुछ बोले आगे बढ़ना चाहते थे कि उसने कोयल के स्वर में कहा—क्या अब लौटिएगा नहीं। आप अपनी सीमा से आगे बढ़े जा रहे हैं। और हाँ, आज तो आपने मुझे देवीजी की तस्वीर देने का वादा किया था। शायद भूल गये, आपके साथ चलूँ?'

महाशयजी कुछ ऐसे बौखलाये हुए थे, कि मामूली शिष्टाचार भी न कर सके। यों वह बड़े ही भद्र पुरुष हैं और शिष्टाचार में निपुण ; लेकिन इस वक्त जैसे उनके हाथ-पाँव फूले हुए थे। एक क़दम और आगे बढ़कर बोले—आप क्षमा कीजिए। मैं एक काम से जा रहा हूँ।

महिला ने कुछ चिढ़कर कहा—आप तो जैसे भागे जा रहे हैं। मुझे तस्वीर दीजिएगा या नहीं?

महाशयजी ने मेरी ओर कुपित नेत्रों से देखकर कहा—तलाश करूँगा।

सुंदरी ने शिकायत के स्वर में कहा—आपने तो फरमाया था, कि वह हमेशा आपकी मेज़ पर रहती है। और अब आप कहते हैं—तलाश करूँगा। आपकी तबीयत तो अच्छी है? जबसे आपने उनका चरित्र सुनाया है, मैं उनके दर्शनों के लिए व्याकुल हो रही हूँ। अगर आप यों न देंगे, तो मैं आपकी मेज पर से उठा लाऊँगी। (मेरी ओर देखकर) आप मेरी मदद कीजिएगा महाशय! यद्यपि मैं जानती हूँ, आप इनके मित्र हैं और इनके साथ दग़ा न करेंगे। आपको ताज्जुब हो रहा होगा, यह कौन औरत महाशयजी से इतनी निस्संकोच होकर बातें कर रही है। इनसे पहली बार मेरा परिचय सब्जीमंडी में हुआ। मैं शाक-भाजी खरीदने गई हुई थी। अपनी भाजी मैं खुद लाती हूँ, जिस चीज़ पर जीवन का आधार है, उसे नौकरों के

नहीं, जरा देहली तक गया था। अब सुंदरी से आपकी मुलाक़ात नहीं होती?'

'इधर तो बहुत दिनों से नहीं हुई।'

'कहीं चली गई क्या?'

'मुझे क्या ख़बर।'

'मगर आप तो उस पर बेतरह रीझे हुए थे।'

'मैं उसपर रीझा था! आप सनक तो नहीं गये हैं। जिस पर रीझा था, जब उसी ने साथ न दिया, तो अब दूसरों पर क्या रीझूँगा।'

मैंने बैठकर उनकी गर्दन में हाथ डाल दिया और धमकाकर बोला—देखो होरीलाल, मुझे चकमा न दो। पहले मैं तुम्हें जरूर व्रतधारी समझता था, लेकिन तुम्हारी वह रसिकता देखकर, जिसका दौरा तुम्हारे ऊपर एक महीना पहले हुआ था, मैं यह नहीं मान सकता कि तुमने अपनी अभिलाषाओं को सदा के लिए दफ़न कर दिया। इस बीच में जो कुछ हुआ है, उसका पूरा-पूरा वृत्तांत मुझे सुनाना पड़ेगा। वरना समझ लो मेरी और तुम्हारी दोस्ती का अंत है।

होरीलाल की आँखें सजल हो गईं। हिचक-हिचककर बोले—मेरे साथ इतना बड़ा अन्याय मत करो भाई जान, अगर तुम्हीं मुझपर ऐसे संदेह करने लगोगे, तो मैं कहीं का न रहूँगा। उस स्त्री का नाम मिस इंदिरा है। वहाँ जो लड़कियों का हाई स्कूल है, उसी की हेड मिस्ट्रेस होकर आई है। मेरा उससे कैसे परिचय हुआ, यह तो तुम्हें मालूम ही है। उसकी सहृदयता ने मुझे उसका प्रेमी बना दिया। इस उम्र में और शोक का यह भार सिर पर रखे हुए, सहृदयता के सिवा मुझे उसकी ओर और कौन-सी चीज़ खींच सकती थी। मैं केवल अपनी मनोव्यथा की कहानी सुनाने के लिए नित्य विरहियों की उमंग के साथ उसके पास जाता था। वह रूपवती है, खुश-मिज़ाज है, दूसरों का दुःख समझती है और स्वभाव की बहुत कोमल है, लेकिन तुम्हारी भाभी से उसकी क्या तुलना। वह तो स्वर्ग की देवी थी। उसने मुझपर जो रंग जमा दिया, उसपर अब दूसरा रंग क्या जमेगा। मैं उसी ज्योति से जीवित था। उस ज्योति के साथ मेरा जीवन भी विदा हो

मैंने गर्व से कहा—दोनों मे इश्क था।

'और जबसे उनका देहात हुआ, यह दुनिया से मुँह मोड़ बैठे ?'

'इससे भी अधिक! उसकी स्मृति के सिवा जीवन में इनके लिए कोई रस ही न रहा।'

'वह रूपवती थी ?'

'इनकी दृष्टि मे तो उससे बढकर रूपवती ससार में न थी।'

उसने एक मिनट तक किसी विचार में मग्न रहकर कहा—अच्छा, आप जायँ। मैं उनके साथ बात करूँगी। ऐसे देवता पुरुष की मुझसे जो सेवा हो सकती है, उसमें क्यों-दरेग़ करूँ। मैं तो उनका वृत्तात सुनकर सम्मोहित हो गई हूँ।

मैं अपना-सा मुँह लेकर घर चला आया। इत्तफ़ाक़ से उसी दिन मुझे एक जरूरी काम से दिल्ली जाना पडा। वहाँ से एक महीने में लौटा। और सबसे पहला काम जो मैने किया, वह महाशय होरीलाल का क्षेम-कुशल पूछना था। इस बीच में क्या क्या नई बाते हो गईं—यह जानने के लिए अधीर हो रहा था। दिल्ली से इन्हें एक पत्र लिखा था, पर इन हजरत में यह बुरी आदत है कि पत्रों का जवाब नहीं देते। उस सुंदरी से इनका अब क्या सबध है, आमदरफ्त जारी है, या बद हो गई, उसने इनके पत्नव्रत का क्या पुरस्कार दिया, या देनेवाली है ? इस तरह के प्रश्न दिल मे उबल रहे थे।

मैं महाशयजी के घर पहुँचा, तो आठ बज रहे थे। खिड़कियों के पट बंद थे। सामने बरामदे में कूड़े-करकट का ढेर था। ठीक वही दशा थी, जो पहले नजर आती थी। चिंता और बढ़ी। ऊपर गया, तो देखा, आप उसी फर्श पर पडे हुए—जहाँ दुनिया भर की चीज़ें बेढगेपन से अस्त-व्यस्त पडी हुई हैं—एक पत्रिका के पन्ने उलट रहे हैं। शायद एक सप्ताह से बाल नहीं बने थे। चेहरे पर जर्दी छाई थी।

मैंने पूछा—आप सैर करके लौट आये क्या ?

खिटपिटाकर बोले—अजी, सैर-सपाटे की कहाँ फुर्सत है भई, और फुर्सत भी हो, तो वह दिल कहाँ है। तुम तो कहीं बाहर गये थे!

और कोई बात बार-बार उनके होंठों तक आकर लौट जाती है। आख़िर उन्होंने आँख उठाई और मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर बोलीं—अगर आप समझते हों कि मैं आपकी कुछ सेवा कर सकती हूँ, तो मैं हर तरह हाज़िर हूँ, मुझे आपसे जो भक्ति और प्रेम है, वह इसी रूप में चरितार्थ हो सकता है।

मैंने धीरे से अपना हाथ छुड़ा लिया और काँपते हुए स्वर में बोला—मैं तुम्हारी इस कृपा का कहाँ तक धन्यवाद दूँ मिस इंदिरा; मगर मुझे खेद है कि मैं सजीव मनुष्य नहीं, केवल मधुर स्मृतियों का पुतला हूँ। मैं उस देवी की स्मृति को, अपनी लिप्सा और तुम्हारी सहानुभूति को अपनी आसक्ति से भ्रष्ट नहीं करना चाहता।

मैंने इसके बाद बहुत-सी चिकनी-चुपड़ी बातें कीं, लेकिन वह जब तक यहाँ रहीं, मुँह से कुछ न बोलीं। जाते समय भी उनकी भवें तनी हुई थीं। मैंने अपने आँसुओं से उनकी ज्वाला को शांत करना चाहा; लेकिन कुछ असर न हुआ। तबसे वह नज़र नहीं आईं। न मुझे ही हिम्मत पड़ी कि उनकी तलाश करता, हालाँकि चलती बार उन्होंने मुझसे कहा था—जब आपको कोई कष्ट हो और आप मेरी ज़रूरत समझें, तो मुझे बुला लीजिएगा।

होरीलाल ने अपनी कथा समाप्त करके मेरी ओर ऐसी आँखों से देखा, जो चाहती थीं कि मैं उनके व्रत और संतोष की प्रशंसा करूँ, मगर मैंने उनकी भर्त्सना की—कितने बदनसीब हो तुम होरीलाल, मुझे तुम्हारे ऊपर दया भी आती है और क्रोध भी! अभागे, तेरी ज़िंदगी सँवर जाती। वह स्त्री नहीं थी, ईश्वर की भेजी कोई देवी थी, जो तेरे अँधेरे जीवन को अपनी मधुर ज्योति से आलोकित करने के लिए आई थी, तूने स्वर्ण का-सा अवसर हाथ से खो दिया।

होरीलाल ने दीवार पर लटके हुए अपनी पत्नी के चित्र की ओर देखा और प्रेम-पुलकित स्वर में बोले—मैं तो उसी का आशिक़ हूँ भाई जान, और उसी का आशिक़ रहूँगा।

———

गया। अब तो मैं उसी प्रतिमा का उपासक हूँ, जो मेरे हृदय में है। किसी हमदर्द की सूरत देखता हूँ, तो निहाल हो जाता हूँ और अपनी दुःख-कथा सुनाने दौड़ता हूँ। यह मेरी दुर्बलता है, यह जानता हूँ। मेरे सभी मित्र इसी कारण मुझसे भागते हैं, यह भी जानता हूँ, लेकिन क्या करूँ भैया, किसी-न-किसी को दिल की लगी सुनाये बग़ैर मुझसे नहीं रहा जाता। ऐसा मालूम होता है, मेरा दम घुट जायगा। इसी लिए जब मिस इंदरा की मुझपर दया दृष्टि हुई, तो मैंने इसे दैवी अनुरोध समझा और उस धुन में—जिसे मेरे मित्रवर्ग दुर्भाग्यवश उन्माद समझते हैं—वह सब कुछ कह गया, जो मेरे मन में था, और है और मरते दम तक रहेगा। उन शुभ दिनों की याद कैसे भुला दूँ। मेरे लिए तो वह अतीत वर्त्तमान से भी ज़्यादा सजीव और प्रत्यक्ष है। मैं तो अब भी उसी अतीत में रहता हूँ। मिस इंदिरा को मुझपर दया आ गई। एक दिन उन्होंने मेरी दावत की और कई स्वादिष्ट खाने अपने हाथ से बनाकर खिलाये। दूसरे दिन मेरे घर आईं और यहाँ की सारी चीज़ों को व्यवस्थित रूप से सजा गईं। तीसरे दिन कुछ कपड़े लाईं और मेरे लिए खुद एक सूट तैयार किया। इस कला में बड़ी चतुर हैं।

एक दिन शाम को कुइंस पार्क में मुझसे बोलीं—आप अपनी शादी क्यों नहीं कर लेते ?

मैंने हँसकर कहा—इस उम्र में अब क्या शादी करूँगा इंदिरा! दुनिया क्या कहेगी!

मिस इंदिरा बोली—आपकी उम्र अभी ऐसी क्या है। आप चालीस से ज़्यादा नहीं मालूम होते।

मैंने उसकी भूल सुधारी—मेरा पचासवाँ साल है।

उन्होंने मुझे प्रोत्साहन देकर कहा—उम्र का हिसाब साल से नहीं होता महाशय, सेहत से होता है। आपकी सेहत बहुत अच्छी है। कोई आपको पान की तरह फेरनेवाला चाहिए। किसी युवती के प्रेम-पाश में फँस जाइए, फिर देखिए, यह नीरसता कहाँ ग़ायब हो जाती है।

मेरा दिल धड़-धड़ करने लगा। मैंने देखा, मिस इंदिरा के गोरे मुख-मंडल पर हल्की-सी लाली दौड़ गई है। उनकी आँखें शर्म से झुक गई हैं